॥ श्रीः ॥

श्रीमद्भगवद्गीतायाः विज्ञानभाष्यम्

(काण्डचतुष्टयात्मकम्)

जयपुर राजसभा-प्रधानपण्डित- वेदरहस्योद्घाटनप्रवण
महामहोपदेशक-समीचाचक्रवर्त्ति-विद्यावाचस्पति
स्व० श्रीमधुसूदनशर्म्म मैथिल—
प्रणीतम् ।

तत्रेदं

तृतीयम् आचार्यकाण्डम् ।

अलवर राजपण्डित
म० म० पं० श्री गिरिधरशर्मा चतुर्वेदेन
संपादितम्

तच्च

ग्रंथकर्तृसूनु पं० श्रीप्रद्युम्नशर्म्मणा
संशोध्यप्रकाशितम् ।

प्रथमा वृत्तिः ५००	विक्रम सं० २००३	मूल्यम् ५)

५॥)

॥ श्रीः ॥

भूमिका

हमारे आर्य शास्त्रों में उपनिषद्, भगवद्गीता और वेदान्त सूत्रों का स्थान बहुत ऊँचा है। विद्वानों की परिभाषा में इन्हें 'प्रस्थानत्रय' कहा जाता है। जितने भी सिद्धान्त, संप्रदाय वा मत सनातन धर्म के अन्तर्गत प्रवृत्त हुए, सबने इन तीनों की आज्ञा को शिरोधार्य रक्खा। प्रत्येक संप्रदाय के आचार्य ने अपने अपने भाष्य इन तीनों पर लिखकर अपने अपने मन्तव्य को प्रस्थानत्रय के आधार पर पुष्ट किया तबही उनका संप्रदाय चल सका। यही कारण है कि इन तीनों की व्याख्या में मत भेद बहुत हो गये हैं। तीनों को मानते सब हैं, किन्तु कोई आचार्य उनका अभिप्राय कुछ समझता वा समझाता है, तो दूसरा आचार्य और ही प्रकार से उनका अभिप्राय अभिव्यक्त करता है। स्थूल दृष्टि से उन आचार्यों की व्याख्या में बड़ा अन्तर वा बडा विरोध सामान्य जनता को प्रतीत होता है, किन्तु है 'तिनके की ओट पहाड़' वाला मसला। सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर प्रस्थानत्रय का अभिप्राय तो एक रूप भासित होता ही है, किन्तु आचार्यों की व्याख्या का भेद भी केवल दिखावटी रह जाता है। अस्तु-स्थूल दृष्टि की प्रचुरता के कारण व्याख्या भेद का विस्तार इतना बढा कि सच पूछिए तो उसने सनातनधर्म को ही जर्जर कर दिया। सामान्य अधिकारियों को निश्चय ही नहीं रहा कि असली बात क्या है? भिन्न भिन्न प्रकार की बातें सुनके वे डाँवाडोल से होगये। इस युग की श्रद्धा हीन तार्किक प्रवृत्ति ने तो इस प्रवाह में और भी आँधी तूफान का सा काम किया, और इन मत भेदों कोही परमास्त्र बनाकर भिन्न धर्मावलम्बी और साथ साथ उनकी शिक्षा में दीक्षित हमारे भाई भिन्न भिन्न पैंतरे बदल बदल कर पूज्य सनातनधर्म पर मर्मान्तिक प्रहार करने लगे। इसका जो विषम विषमय परिणाम हुआ वह आज दृष्टि के सामने है। उसका विशेष विवरण करने की आवश्यकता नहीं।

मर्मज्ञ विद्वान् इस घटना से बहुत दुःखित रहे हैं, और यथाशक्ति समन्वय द्वारा लोगों का भ्रम मिटाने का प्रयत्न करते रहे हैं। ऐसे ही विद्वानों में परमोच्च आसन स्वर्गीय गुरुवर समीक्षा चक्रवर्ती पं० श्री मधुसुदनजी ओझा विद्या वाचस्पति का है। आपने अपना सम्पूर्ण जीवन शास्त्रों के मनन और उनके रहस्योद्घाटन द्वारा जनता का भ्रम दूर कर आर्य्य शास्त्रों की लोक दृष्टि से पुनः प्रतिष्ठा जमाने के लक्ष्य में ही व्यतीत किया। ईश्वर कृपा से आपको वह अलौकिक प्रतिभा प्राप्त हुई थी जो अनेकानेक शताब्दियों से कहीं भी देखी नहीं गई। यद्यपि आपका मुख्य लक्ष्य वेदविद्या का रहस्योद्घाटन करना ही था, किन्तु पूर्वोक्त प्रसिद्धि के अनुसार अपने मन्तव्यों की पुष्टि के लिये आपको भी प्रस्थनत्रय पर निबन्ध लिखने पड़े। शारिरक सूत्रों पर आपके 'शारिरक विज्ञान भाष्य और शारीरक विमर्श' प्रकाशित हो चुके हैं, उपनि-

षदों पर 'उपनिषदुद्दय' लिखा है, जो अभी अप्रकाशित है, तीसरे 'प्रस्थान श्री भगवद्गीता पर यह विज्ञान भाष्य नामका विस्तृत निबन्ध है, जो कि पाठकों के संमुख प्रस्तुत है।

आपने वैदिक विज्ञान पर जितने ग्रन्थ लिखे हैं सब में मूल आधार क्षर, अक्षर, अव्यय, पुरुष और परा अपरा प्रकृति को ही रक्खा है। कहने की आवश्यकता नहीं कि ये तत्व इस रूप में श्री भगवद्गीता में भी प्राप्त होते हैं। इस आधार पर कहा जा सकता है कि आपके वैज्ञानिक विवेचन का मूल आधार श्री भगवद्गीता पर आपकी अविचल श्रद्धा और अटल भक्ती होनी ही चाहिये। तदनुरूप ही आपका यह महा विबन्ध है। इस विज्ञान भाष्य को आपके ग्रन्थों में सर्वोच्च स्थान दिया जा सकता है, जितना गूढ तत्वों का समावेश इस में है, ऐसा प्रायः अन्यत्र नहीं देखा जाता, किसी एक विषय का विस्तार वा स्पष्टीकरण अन्यान्य ग्रन्थों में यहां से कहीं अधिक भी मिल सकता है। किन्तु इतने विषयों का विस्पष्ट निरूपण प्रायः अन्य ग्रन्थों में नहीं हैं। साथ ही यह भी कहने की धृष्टता करनी पड़ती हैं कि जबसे श्री भगवद्गीता का मनुष्यलोक में प्रादुर्भाव हुआ तब से इस पाँच हजार वर्ष के सुदीर्घ काल में हजारों ही व्याख्याएँ भगवद्गीता पर लिखी गई होंगी. किन्तु इस 'विज्ञान भाष्य' की अपनी छटा इस युग के लिये कुछ निराली ही है। इसे 'छोटे मुँह बड़ी बात' बताकर संभव है, बहुत से विद्वान हम पर रुष्ट हों, किन्तु हम उनसे यही करबद्ध विनय करेंगे, कि एक बार आप इसका आद्योपान्त मनन कर लीजिये, फिर हमसे जो चाहें, कहिये। दुःख यही है कि यह ग्रंथ रत्नपूर्ण न हो सका, यदि ऐसा सौभाग्य हो जाता, तो इसके जोड़े का ग्रन्थ संपूर्ण वाङ्मय मे बताना कठिन होता।

श्री विद्यावाचस्पतिजीने प्रत्यक्षर टीका वा भाष्य लिखने की प्रणाली प्रायः नही अपनाई। एक दो ग्रंथों को छोड़ कर टीका रूप मे आपने कोई ग्रंथ नहीं लिखा है। स्वतन्त्र निबन्धों द्वारा प्राचीन शास्त्रों का अभिप्राय प्रकाशन रूप मर्मोद्घाटन ही आपकी पद्धति रही है। कई विद्वान समय समय पर आपसे निवेदन किया करते थे, आप वेदों पर भाष्य क्यों नहीं लिखते। आप उन्हें यही उत्तर देते थे कि भाष्य तो प्राचीन ही बहुत हैं. हमारा भी एक भाष्य उनकी संख्या और बढ़ा देगा तो इससे क्या होगा। हम तो उस वैदिक परिभाषा को बताना चाहते हैं, जिसे लोग भूल गये हैं, परि भाषा जानलेने पर प्राचीन भाष्यों में ही सब कुछ मिल जायगा। बस इसी पद्धति पर आपने गीता का 'विज्ञान भाष्य' भी लिखा है। इस में गीता की प्रत्यक्षर व्याख्या नहीं है, स्वतन्त्र निरूपणों द्वारा गीता के सीद्धान्तों का स्पष्टी कारण है।

यह भी आपकी सार्वत्रिक पद्धति है कि जहां कहीं चार मतवाद प्रचलित हों, वहाँ अपना भी पांचवा मत खड़ा कर 'पांच सवारों में' नाम लिखा देने का उन सवारों में से किसी एक के अनुयायी होजाने के आप सदा विरोधी रहे। आपका तो लक्ष्य रहा है उन चारों का यथाशक्य समन्वय करना। अर्थात एक ऐसा प्लेटफार्म बनाना,

जहाँ ये चारों एकत्रित हो जायँ। स लक्ष्य को प्रधान रखने के कारण आपने स्वतन्त्र टीका किसी ग्रंथ की नहीं लिखी। यही आप कहा करते थे कि "टीका लिखने पर हम भी एक देशी होजायँगे, हमारा लक्ष्य तो उस सार्वभौम परिभाषा को पकड़ना है, जहां मतविरोध रहता नहीं'। काशी में आपके अभिनन्दनार्थ समाहूत एक महती विद्वत्सभा में एक ख्यात नामा विशिष्ट विद्वान् ने आपकी स्तुति में कह दिया था कि अन्यान्य संप्रदाय प्रवर्तक आचार्यों के समान आपका भी एक संप्रदाय है, इस पर आप बहुत ही रुष्ट हुए और यह हमारा संमान नहीं, घोर अपमान है, कह कर सभा से उठ गये। बड़ी कठिनता से उन विशिष्ट विद्वान् महाशय ने अपने शब्द वापस लेकर व क्षमा मांग कर आपको वहीं बैठाया। हमारा तात्पर्य यही है कि पृथक् मतवाद रखने के आप प्रबल विरोधी थे। बस, उस ही पद्धति के अनुसार आपने भगवद्‌गीता का यह विवेचन किया है।

भगवद्‌गीता का मुख्य लक्ष्य क्या है इस पर बहुत कुछ मत भेद हैं। यह विद्वान् जानते हैं। कई आचार्य गीता का मुख्य प्रतिपाद्य ज्ञानयोग वा संन्यास मार्ग को कहते हैं, कई भक्तिमार्ग की प्रधानता बताते है, और कई कर्मयोग को ही गीता का लक्ष्य मानते है। सबने अपने अपने मन्तव्यानुसार गीता की सुदृढ युक्तियों से संगति बैठाई है इसमें सन्देह नहीं, किन्तु विवेचक जिज्ञासु के मन में सबमें ही कुछ कुछ खटका रह जाता है। कई श्लोकों की संगति ज्ञानयोग में ही ठीक बैठति है, दूसरा लक्ष्य मानने पर उनका हठाकर्षण करना पड़ता है, इसी प्रकार कई श्लोक भक्तियोग की प्रधानता में और यही कर्मयोग की ही प्रधानता में ठीक बैठते है। गुरुवर विद्यावाचस्पतिजी ने गीता का मुख्य लक्ष्य 'बुद्धियोग' बताया है। 'बुद्धियोग' शब्द गीता में कई जगह आया है, परन्तु वहां प्रायः व्याख्याकारने बुद्धि और ज्ञान शब्दों को समानार्थकता मानकर ज्ञान योग ही अर्थ कर दिया है। हमारे ग्रन्थकार ऐसा नहीं मानते, वे सांख्यसिद्धान्तानुसार व्यवसायात्मिक सात्विक बुद्धि के चार रूपों [धर्म,-ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य] द्वारा जीवात्मा का परम पुरुष अव्यय के साथ योग कर देना ही बुद्धियोग कहते हैं। चारों द्वारों से अव्यय पुरुष योग का प्रकार भगवान् ने गीता में बताया है, यह बात अधिकारी की रुचि और योग्यता पर अवलम्बित है कि वह किसी एक योगमार्ग को चुने। अब पाठकगण देखेंगे कि श्री विद्यावाचस्पतिजी का बुद्धियोग कोई नई चीज नहीं, वह भिन्न भिन्न आचार्यों के बताये भिन्न भिन्न योगों का एक संमिलित प्लेट फार्म है। भक्तियोग ऐश्वर्य योग का ही नामान्तर है, और कर्मयोग वैराग्य योग और धर्मयोग का समष्टि है। यह आगे स्पष्ट हो जायगा। अस्तु तात्पर्य यह है कि श्री विद्यावाचस्पति जी ने न अपना कोई पृथक् संप्रदाय बनाया न किसी एक का पक्ष लेकर औरों से वाग् युद्ध किया किन्तु सबके समन्वय का एक आदर्श सफल प्रयत्न किया है। अब गीता के किसी भी श्लोक का हठा कर्षण नहीं करना पड़ता जो जिस योग में समन्वित होता है उसे उसही योग प्रतिपादक मानलिया जाय, क्योंकि गीता के मुख्य लक्ष्य बुद्धियोग में सब ही अन्तर्गत हैं। इससे यह न समझ लिया जाय कि फिर यह विज्ञान भाष्य संग्रह मात्र है, इसमें

नई बात कुछ नहीं । यह हमारे कथन का अभिप्राय नहीं है, हमारा कथन यही है कि किसी संप्रदाय का खरडन कर कोई नया संप्रदाय इस ग्रंथ के द्वारा नहीं बताया गया है। इसकी शैली तो वैज्ञानिक है, जहां मत भेद का स्थान ही नही रहता । वैज्ञानिक निरूपण प्रक्रिया, प्रत्येक योग का रहस्योद्घाटन है उस योग के प्रकार श्रुति प्रतिपादित प्रक्रिया का और गीतोक्त प्रक्रिया का समन्वय आदि विषयतो इस ग्रंथ के सर्वथा मौलिक हैं । विद्यावाचसपतिजी का सिद्धान्त है कि चारों योगों के विशदी करण के लिये गीता में चार विद्यायें हैं १ राजर्षिविद्या [वैराग्य योग निरूपक] २ सिद्ध विद्या [ज्ञान योग निरूपक] ३ राज विद्या [भक्ति योग निरूपक] और ४ आर्ष विद्या [कर्मयोग निरूपक] । उक्त प्रकार से ही इन विद्याओं का गीता में क्रमिक संन्निवेश है । इनके अवान्तर विभाग २४ उपनिषद् हैं, और उनके भी अवान्तर विभाग १६० उपदेश हैं । इन सब का विषय विभाग पृथक् पृथक् इस ग्रंथ में कर दिया गया हैं । जहां एक विद्या, एक योग या एक उपनिषद में दूसरी विद्या आदि के किसी विषय की आवश्यकता हुई हैं वहाँ उसे दोहराया गया है । यही कारण है कि गीता में कई जगह आपात दृष्टि से पुनरुक्तिसी प्रतीत होने लगती है । उस सबका समाधान इस विषय विभाग से हो जाता है । ऐतिहासिक अर्थात् केवल महाभारत के इतिहास से संबंध रखने वाले श्लोकों को भूमिका रूप से पृथक् निर्दिष्ट कर दिया है ।

उक्त विद्यावाचसपतिजी के पुत्र हमारे गुरु भ्राता पं० श्री प्रद्युम्न जी ओझा ने आग्रह किया कि संस्कृत न जानने वाले या अल्प जानने वाले गीता प्रेमी जिज्ञासु भी कम से कम यह जान लें कि इस ग्रंथ में किस क्रम से क्या निरूपण है, अतः उनके अनुरोध से विज्ञान भाष्य में प्रतिपादित विषयों की एक संक्षिप्त सूची हम हिन्दी भाषा में लिख देते हैं ।

इस ग्रंथ में ४ काण्ड हैं । १ शास्त्ररहस्य काण्ड, २ शीर्षक काण्ड, ३ आचार्य काण्ड ४ हृदय काण्ड इनमें से—

१—प्रथम रहस्य काण्ड ।

इसके आरम्भ में भगवद् गीता–उपनिषत् तीनों शब्दों की रोचक और मौलिक व्याख्या है । गीता का उपदेश मौलिक है यह सिद्ध किया गया है । गीता को उपनिषत् क्यों कहाजाता है ? इस पर प्रकाश डाला गया है । गीता विज्ञान शास्त्र है यह प्रतिज्ञा और इसका उपपादन है । आगे गीता तात्पर्य दिखाते हुए उपनिषदादि वाक्यों से ईश्वर जीव का विवेचन आरम्भ किया है ।

आत्मा क्या वस्तु है ? आनन्दमय आत्मा में शोक क्यों होता है ? जीव ब्रह्म रूप कैसे हो जाता है ? इन बातों का वैज्ञानिक विवेचन कर गीता का मुख्य प्रतिपाद्य बुद्धि-योग है, यह प्रतिज्ञा की गई है, और बुद्धि का स्वरूप प्रदर्शन करते हुए बुद्धियोग का स्वरूप प्रदर्शन किया गया है। सात्विक बुद्धि के चार रूप हैं-धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य उनका अव्यय पुरुष में योग प्रकार बताने के चार ही विद्या प्रधानतया गीता में कही गई है।

१—राजर्षि विद्या	वैराग्य योग (कर्म योग)
२—सिद्ध विद्य	ज्ञान योग
३—राज विद्या	ऐश्वर्य योग (भक्ति योग)
४—आर्ष विद्या	धर्म योग (केवल कर्म प्रधान)

इन से प्राप्त होने वाली परा और अपरा मुक्ति का भी विवेचन हुआ है और प्रसंङ्गागत योग का भी संक्षिप्त निरूपण है।

केवल विद्या और केवल कर्म परस्पर विषम होने से मुक्ति प्रापक नही होते इस लिये दोनों का सामञ्जस्य गीता शास्त्र का विषय है यह प्रतिज्ञा कर सामञ्जस्य गीता में किस प्रकार किया गया है इसका विस्तृत निरूपण है।

आगे गीता का लक्ष्य पूर्वाचार्यों ने क्या क्या माना है ? इसका संक्षिप्त निरूपण कर स्व सिद्धान्त बुद्धि योग का उपपादन किया है। फिर जावा वाली में जो ७० श्लोक की गीता मिली है उसका पाठ प्रदर्शन और उस पर आलोचना की गई है। अनन्तर भगवद् गीता का विषय निरूपण करते हुए गीता प्रतिपाद्य दर्शनों की चर्चा उठाई गई है उसमें वैशेषिक सांख्य और वेदान्त का विषय विभाग बड़ी रोचक प्रक्रिया से लिखा है।

कई प्रकार से तीनों दर्शनों की एक वाक्यता दिखाई गई है और अव्यय पुरुष का साक्षात्प्रतिदान करने के कारण गीता सर्वोत्कृष्ट है यह सिद्ध किया गया है। यहां ब्राह्मण और उपनिषदों के प्रतिपाद्य का भी भेद बताते हुए परमरहस्य का निरूपण किया है।

आज कल षड्दर्शनवाद जिस रूप में प्रसिद्ध है, उस रूढिका खंडन किया है फिर ईश्वर प्रजापति और जीव प्रजापति को दो प्रकार के प्रजापति बताकर जीव प्रजापति के मूलधातु आत्मा प्राण चित्त और पाप्मा (धूमा) का विस्तृत निरूपण किया है इसीमें अवान्तर अग्नि-सोम-शरीर त्रय भूत आदि का परम रहस्यमय वैज्ञानिक विवेचन आता है और आत्मा के अट्ठारह भेदों का मनोरञ्जक निरूपण भी आता है।

आगे ब्रह्म और कर्म का विवेचन है। फिर गीता में कर्म, भक्ति, ज्ञान तीनों का निरूपण रहते भी 'लोकेऽस्मिन् द्विविधानिष्ठा' भगवान ने क्यों कहा, इस पर प्रकाश डालते हुए तीनों में बुद्धियोग के साहाय्य की आवश्यकता दिखाई है। प्राचीन आचार्यों के मतानुसार कर्मयोग भक्तियोग और ज्ञानयोग का विशद विवेचन भी है। कर्मयोग में वर्ण धर्म और आश्रम धर्म का अद्भुत रहस्य समझाया गया है। यज्ञ, तप, दान, इष्ट

आपूर्त और दत्त, इन षट् कर्मों का भी रहस्यमय विवेचन है। सभी लोग बात चीत में 'ष (ख) ट् करम कहा करते हैं किन्तु वह ष (ख) ट् करम क्या है—यह यहीं समझ में आवेगा। प्रवृत्त और निवृत्त कर्म की भी संक्षिप्त किन्तु रहस्य पूर्ण व्याख्या है। भक्तियोग में उपासना के अनेक विभाग बताते हुए मूर्ति पूजा का रहस्य भी निरूपित हुआ है फिर ख्यातुभिमत बुद्धियोग का रहस्य समझाया गया है। बुद्धि के चार भेदों के अनुसार ही भगवद्गीता में ४ विभाग हैं यह स्पष्ट किया गया है। यहां धर्म का लक्षण भी एक अपूर्व निरूपित हुआ है। अधर्म से क्यों पतन होता है? धर्म विरुद्ध नीति मार्ग क्यों निन्द्य है? इस पर अद्भुत प्रकाश इस प्रकरण में पड़ता है। आगे भगवद्गीता में ४ विद्या २४ उपनिषद् और १६० उपदेश हैं उनका विभाग बताकर प्रथम काण्ड समाप्त किया गया है।

२—द्वितीय मूल काण्ड।

विषय प्रवेश के लिये आदि में संस्कार शब्द का रहस्यमय विवेचन है, और आगे अव्यय पुरुष और बुद्धियोग ये गीता के मुख्य प्रतिपाद्य हैं इस 'प्रथम काण्डोक्त प्रतिज्ञा को दोहरा कर प्रथम काण्डोक्त बुद्धियोग का स्वरूप कुछ विशेषता के साथ पुनः कथित हुआ है और बुद्धियोग के चारों लक्षण गीता में कहां कहां आये हैं—इस पर संकेत हुआ है। आगे पुनः राजर्षि विद्या, सिद्धविद्या, राजविद्या और आर्षविद्या—इनके ही नामान्तर वैराग्ययोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग, कर्मयोग इन ४ विद्याओं का सङ्केत कर भगवान को किस विद्या पर विशेष प्रीति है यह सिद्ध किया है। आज किस २ विद्या में कितने उपनिषद् हैं और किस २ उपनिषद में कितने उपदेश हैं और किन २ उपनिषदों में कितने कितने २ श्लोक हैं। इसकी तालिका दी गई है। अङ्कों के क्रम से भी इन बातों का स्पष्टीकरण किया है, शीर्षकों में किसके आगे कौन और क्यों है इसकी सङ्गति भी बताई गई है। इसके आगे गीता का मूल पाठ दिया गया है। उसमें चार विद्या, २४ उपनिषद् और १६० उपदेशों का शीर्षकों द्वारा स्पष्ट विभाग कर दिया है। इसके शीर्षक बहुत महत्त्व की वस्तु हैं। उनसे ही उन उपदेशों का सार प्रदर्शित होगया है। स्थान २ पर महत्त्वपूर्ण टिप्पणियां भी हैं जिनसे गीता के प्रतिपाद्य रहस्य पर बहुत प्रकाश पड़ता है यह काण्ड गीता पाठ करने वाले विद्वानों के लिये अत्यन्त लाभदायक है।

३—तृतीय आचार्य काण्ड।

इस काण्ड में गीता के आचार्य भगवान कृष्ण का निरूपण है। यद्यपि भारतीय वाङ्मय में सैकड़ों ही ग्रंथ भगवान् कृष्ण पर लिखे गये हैं किन्तु जैसा निरूपण इस आचार्यकाण्ड में हुआ है इस प्रकार का कृष्ण तत्त्व निरूपण पाठकों को अन्यत्र दुर्लभ है।

इसमें उपक्रम में तीन प्रकार के कृष्ण बताये गये हैं—मनुष्यावतार कृष्ण, विश्व कृष्ण, वा ईश्वर कृष्ण और गीता कृष्ण वा अव्यय पुरुषरूप कृष्ण। भगवद्गीता में 'अहम्' पद से कहां २ किस २ कृष्ण का ग्रहण करने से सामञ्जस्य होता है, यह आदि में दिखाया गया है। आगे इस पर वादियों के कुछ शास्त्रार्थ उठाकर वेद में 'अहः' और 'अहम्' पद ईश्वर और गीता के प्रयुक्त हैं—किन्तु कहीं २ प्रकरणादि द्वारा व्यत्यास भी माना जाता है यह सोदाहरण निरूपण है। आगे स्व सिद्धान्त में अहम् शब्द की अव्यय वाचकता ही मुख्य मानते हुए-अव्यय के ही तीन भेद किये गये हैं जीवाव्यय, ईश्वराव्यय और विशुद्धा-व्यय। इन तीनों का यहां पृथक् २ निरूपण कर अन्त में तीनों को एक रूपता प्रदर्शित करने की प्रतिज्ञा के साथ प्रथम प्रकरण की पूर्ति है।

द्वितीय प्रकरण मानुष कृष्ण रहस्य नाम से प्रारम्भ हुआ है। इसमें प्रथम मानुषा-वतार कृष्ण के कुछ नाम और उनके अर्थ दिये हैं फिर कृष्ण के चार स्थान बताये हैं और पुराणोक्त विप्रति पत्तियों का संक्षिप्त परिहार कर भगवान कृष्ण का वंश वृक्ष लिखा है। उसके आगे पाँच प्रकार के महापुरुष लक्षण भगवान कृष्ण में बताने की प्रतिज्ञा कर प्रथम लक्षण 'जगद्गुरुत्व' चार प्रकार का कृष्ण में सिद्ध किया है। इसकी सिद्धी में गीता के कई उपदेशों का रहस्य समाविष्ट है। आगे रहस्य मय शास्त्रीय विषयों का आरम्भ है। सत्यावतारत्व भगवान् का द्वितीय महापुरुष लक्षण है यह सिद्ध करने को तीन सत्य निरूपित हुए हैं माया सत्य, संस्था सत्य और परसत्य। पर सत्य ही मुख्य सत्य है यह दिखाते हुए पर सत्य न मानने वाले बौद्धों का निराकरण है। संस्थासत्य और मायासत्य का विचित्र निरूपण है। आगे के प्रकरण में नो (९) कृष्ण भेदों का निरूपण करते हुए निर्गुण गुणातीत को कृष्ण क्यों कहाजाता है इसकी अद्भुत उपपत्ति की गई है। कृष्ण शब्द के तीन अर्थ यहां रहस्य मय हैं जो प्रायः अन्यत्र न मिलेंगे।

इसके आगे भगवान् कृष्ण में 'अच्युत' भगवत्त्व-तृतीय लक्षण का समन्वय दिखाते हुए प्रत्येक आत्मा की १६ कलाओं का निरूपण है। क्षर पुरुष की पांच कलाओं का आधिदैविक, आध्यात्मिक और आधिभौतिक रूप में विस्तार बताया गया है। बुद्धि के सात्त्विक और तामस रूपों का विवरण है; उनमें बुद्धि के चारों सात्विक रूप भगवान् कृष्ण में पूर्णतया प्राप्त होने से उन्हें अव्यय पुरुषभिन्न माना जाता है—यह युक्ति बड़ी विशदता से उपस्थित की गई है। जीवों में प्राप्त बुद्धि के तामस रूप जो कि पञ्च क्लेश कहे जाते हैं उनका विस्तार कर जीव में ईश्वर से ३० तत्व अधिक हैं, यह विचित्र निरूपण है। फिर चतुर्थ लक्षण पुरुषोत्तमत्व संक्षेप में दिखा कर पञ्चम 'अधिकारि पुरुषत्व' का बहुत विस्तार है। इसमें प्रजापति का स्वरूप बताकर ६ प्रकार के प्रजापति बताये हैं; १ परमेश्वर, २ विश्वेश्वर, ३ आधिकारीकेश्वर, ४ आधिकारिक जीव, ५ सांसारिक जीव और ६ अगतिक जीव। इन छहों का विशद निरूपण इस प्रकरण में किया गया है। यहां विश्वेश्वर के निरूपण में अश्वत्थ का रूप दिखातेहुए ब्रह्माण्ड के पञ्चगोलों की वा ब्रह्म, प्रकृति, शुक्र आदि की स्पष्ट व्याख्या है। आधिकारिक ईश्वर ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र महेश्वर आदि का इतना रहस्यपूर्ण विवेचन है कि सुनकर विद्वानों को भी चकित होजाना पड़ता है।

इस प्रकार विशद किसी अन्य ग्रन्थ में प्राप्त नहीं होता, यह शतपथादि ब्राह्मणों का रहस्य निष्कर्ष है। चार प्रकार के विष्णु यहाँ बताये गये हैं। महादेव के व्योमकेश, गङ्गाधर पशुपति आदि नामों का उनके उपकरण चन्द्रमा, सूर्य आदि का अद्भुत रहस्य प्रदर्शित हुआ है। तीनों ब्रह्मा आदि रूपों के भिन्न २ अधिकार और तीनों की एकात्मता इस प्रकार निरूपत है कि स्पष्ट समझ में आजाता है, कोई सन्देह शेष नहीं रहता। ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर के रक्त, कृष्ण, श्वेत रूपों का भी रहस्य मय विवेचन है।

आगे जीव निरूपण का आरम्भ है। प्रथम ईश्वर और जीव के अंशांशि भाव की ५ प्रकार से उपपत्ति दिखाई है और पांचों में उपनिषदों के प्रमाण दिये हैं। इन्हीं पांचों में से एक एक अंश को लेकर औपासनिक दर्शनों के भिन्न २ भेद हुए हैं। आगे तीन प्रकार से जीवों में दंश मशक कृमि आदि अस्थिरहित अगतिक जीवों का स्वरूप संक्षेप से दिखाकर सांसारिक जीव का निरूपण रहस्य मय किया है। इसमें महेश्वर से जीव कैसे बन जाता हैं, इसका कारण यज्ञ को बताया गया है। यज्ञ की आहुतिका ऐसा रहस्य मय वर्णन है कि सुनकर महा विद्वानों को भी चकित होना पड़े। मानव स्थूल शरीर में पिता पितामहादि का अंश कितना रहता है और सात पुरुषतक सपिण्डता क्यों मानी जाती है इसका भी स्पष्ट निरूपण है।

आगे ईश्वर के अधिकारिक रूपों से किस किससे जीव में कौन २ अंश प्रादुर्भूत हुआ है इसका निरूपण करते हुए जीवान्तर्गत अनेक आत्माओं और उनकी कलाओं का निरूपण है। सत्व, रजः, तमः का भी रहस्य बताया गया है। इस प्रकार सांसारिक जीवों का निरूपण समाप्त कर आधिकारिक पुरुषों का निरूपण किया गया है, इस प्रकरण में अवतार वाद का पूर्ण रहस्य प्रदर्शित हुआ हैं। आजप्रायः १०० वर्ष में भारतवर्ष में ईश्वरावतार होता है कि नहीं इस विषय को लेकर तुमुल आन्दोलन चल रहा है, किन्तु हमारा विश्वास है कि इस अवतारवाद के रहस्य को समझलियाजाय तो वह कोलाहल स्वयं-शान्त हो जाय। अस्तु इससे आगे भगवान कृष्ण के उन अलौकिक धर्मों का निरूपण हैं जो कि आधिकारिक ईश्वर परमेष्ठिमण्डलाधिष्ठाता भगवान् विष्णु में शास्त्रों ने बताये हैं। वे भगवान् कृष्ण के चरित्र में कहाँ २ प्रकट हुए हैं यह विषय महाभारत हरिवंश आदि से भिन्न २ प्रकरण उद्धृत कर विस्तार से लिखा गया है। भीष्म, व्यास, नारद आदि उस समय के नेता इन लक्षणों को भगवान श्री कृष्ण में देखकर उन्हें परमात्मा कहते थे यह इस प्रकरण का प्रतिपाद्य विषय है इसमें पुराणों के प्रकरण बहुत हैं। इसके आगे पुनः ६ लक्षण ऐसे बताये गये हैं, जिनसे परमेष्ठिमण्डलाधिष्ठाता दिव्य विष्णु और मानुषावतार भगवान कृष्ण की पूर्णसमानता है। इन लक्षणों में कृष्णवर्ण ब्रज-निवास वेद गो और ब्राह्मणों की महिमा स्थापित कर इन्हें प्रतिष्ठित करना आदि लक्षण बड़े महत्त्व के हैं। विष्णु का और कृष्ण का कृष्ण वर्ण क्यों है इसका अद्भुत रहस्य प्रदर्शितहुआ है। ब्रज का गोलोक से तुलना, गो का रहस्य आदि विषय विशेष माननीय हैं। इनसे कई लोगों की हृदयगत अनेक शंकाओं का समाधान हो जाता है। आगे भगवान कृष्ण की प्रत्येक लीला का निरूपण वेद मन्त्रों में बताया है। प्राचीन आचार्य महाभारत के

टीकाकार श्री नीलकंठ जी ने (मन्त्र भागवत सन्दर्भ में) संक्षेप से यह विषय लिखा है। यहां उन मन्त्रों के यज्ञादि परक और कृष्ण परक दोनों अर्थ विस्पष्ट देकर और कथाओं को, हरिवंशादि से पूर्ण उद्धृत कर दोनों का समन्वय दिखाते हुए इस विषय को बहुत रोचक बना दिया गया है। इसके आगे बड़े ही महत्त्व का प्रकरण है, प्राय: सभी लोगों के मन में शंका है कि भगवान् कृष्ण को षोडश कलावतार लिखा है, वे १६ कलायें कौनसी हैं ? इनका निरूपण किसी ग्रंथों में स्पष्ट रूप से उपलब्ध नहीं होता। यहाँ उन १६ कलाओं का वैज्ञानिक रूप से और औपासनिक सम्प्राय से दोनों प्रकार से विस्पष्ट निरूपण है। यहीं मनुष्यावतार कृष्ण रहस्य पूर्ण होजाता है।

आगे दिव्य कृष्ण रहस्य प्रकरण है। इसमें ईश्वर स्वरूप निरूपण करते हुए अव्यय, अक्षर, क्षर आदि पुरुषों का और परात्पर का विस्पष्ट निरूपण है। और महामाया, योग माया वैष्णवीमाया, आदि का रहस्यमय वैज्ञानिक स्वरूप निरूपित है। सब विषय श्रुतियों के प्रमाण देकर सुदृढ किये गये हैं। आगे प्रकृतियों की पाँच पाँच रूपों का स्पष्टीकरण स प्रमाण है, और पृथिवी चन्द्रमा, सूर्य, परमेष्ठी एवं स्वयम्भू इन पाँचों मण्डलों का विस्तार से निरूपण है। प्रसङ्गागत ऋत सत्य शब्दार्थ, चार प्रकार की विष्णु मूर्ति चारों के पृथक् पृथक् स्थान भिन्न २ शास्त्र आदि का विवरण चारों का वैज्ञानिक निरूपण, भगवती राधा का रहस्य, रास लीला का रहस्य, अन्तरिक्ष में नित्य होने वाली रासलीला, चाक्षुष पुरुष का अनुभवसिद्ध वैज्ञानिक रहस्य, रासलीला का जगत् पर प्रभाव आदि विषय अत्यन्त रहस्य मय हैं, जो अन्यत्र दुर्लभ हैं। आगे प्रजापति सत्य का निरूपण करते हुए पुन: प्रकारान्तर से ब्रह्मा, विष्णु, शंकर और उनकी शक्ति सरस्वती, लक्ष्मी, दुर्गा का वैज्ञानिक रहस्य निरूपित है। ब्रह्माकी पुत्री सरस्वती ब्रह्म पुत्री सरस्वती औलक्ष्मी शिवा आदि का वैज्ञानिक तत्त्व स्पष्ट समझाया गया है।

इसके अनन्तर "ईश्वर कृष्ण रहस्य" प्रकरण में नौ (६)प्रकार के सत्यपर, ईश्वर प्रतिष्ठित है यह प्रतिज्ञा कर ईश्वर शरीर का विस्तृत विवरण किया गया है. इसमें गुण, वेद, लोक, वाक् आदि के अद्भुत रहस्य का निरूपण है, अन्तरङ्ग वीर्य और बहिरङ्ग वीर्य का स्पष्टी करण भी द्रष्टव्य है। इस प्रकरण को वेद विद्या का परम रहस्य कहना चाहिये। सात लोक वा सात व्याहृतियों तीन लोक वा तीन व्याहृतियों में कैसे अन्तर्गत हैं इस विषय को विस्तार से सप्रमाण समझाया गया है, इस ही में प्रसङ्गागत कई जटिल दुरूह मन्त्रों की भी व्याख्या की गई है। सात लोकों में कहाँ कहाँ किस किस तत्त्व की प्रधानता है यह विषय यहाँ अतिस्पष्ट हो जाता है। ब्रह्म से प्रपञ्च कैसे बनगया इस अति दुरूह जटिल समस्या का रहस्य इस प्रकरण में करतलामलक हो गया है। ईश्वर निरूपण क अनन्तर जीव निरूपण आता है। जीव ईश्वर का अंश है, यह सब शास्त्रों का स्फुट सिद्धान्त है तो जीव के कौन कौन से तत्व किस किस ईश्वर तत्त्व के अंश हैं इसका विस्तृत विवरण यहाँ प्राप्त होता है। ईश्वर शरीर से अतिरिक्त नये भाव जीव में क्या क्या हैं उनका भी स्पष्टी करण यहाँ हुआ है, और ईश्वर एवं जीव परस्पर भिन्न हैं वा अभिन्न इस जटिल समस्या का भी विस्तृत विवेचन किया गया है। जीव संस्था के अन्तर्गत मन, बुद्धि, चित्त, अहङ्कार आदि का स्वरूप प्रदर्शन और व्यावहारिक बारह आत्माओं का विस्तृत

निरूपण यहाँ का एक खास मनन की वस्तु है। ईश्वर, जीव दोनों के छह कोश और सोलह कला तत्रापि अमृत भाग और मर्त्य भाग की पृथक् पृथक् सोलह कला यहाँ दिखाई गई हैं। उपनिषदों के तीन भूत वा पाँचभूतों के विवाद का यहाँ रहस्यमय रोचक समाधान है। बृहदारण्यक उपनिषत् की "सप्तान्न" विद्या का और पशु, शुक्र आदि का बड़ा विस्पष्ट और रोचक निरूपण यहाँ हुआ है। शुक्रमय आत्मा की ६ कलाएं, उनमें ही विभूत्य वतार आदि विषय इस प्रकरण के रहस्यमय विशेष मननीय हैं। आगे १८ आत्मा वा भिन्न २ कोश आदि को नकशे देकर स्पष्ट समझाया गया है। यहाँ २५ कलाओं का भी निरूपण है। आगे जीव ईश्वर का अभेदवाद संक्षेप से दिखाकर भेदा भेद सिद्धान्त का अधिक विस्तार है, इसमें ही विभूति और योग का सुन्दर रहस्य उदाहरणों से समझाया है, और गीता के बहुत से श्लोकों से उसे पुष्ट किया है। इसके अनन्तर वैकारिक आत्मा के पञ्चविध प्रपञ्चों का विस्तृत निरूपण कर 'ईश्वर कृष्ण रहस्य' प्रकरण समाप्त करदिया गया है।

इसके आगे "गीता कृष्ण रहस्य" नामका प्रकरण है इसके आरम्भ में गीता में 'अहम्' शब्द का क्या अर्थ करना चाहिये इस विषय का विचार उठाकर भिन्नभिन्न अर्थों में जो अनुपपत्ति आती है उसका रोचक निरूपण किया है। फिर 'अहम्' शब्द से अव्यय आत्मा का ही ग्रहण करना इस सिद्धान्त का विस्तृत विवेचन है। मध्य मध्य में उपनिषद् आदि की बताई सृष्टि प्रक्रिया, सत्य, आवरण, योगमाया आदि का रहस्य प्रदर्शन भी होता गया है। कई पूर्व पक्ष और उनके उत्तरों द्वारा अव्यय पुरुष को अहंशब्द वाच्यता दृढ की गई है। उसही अव्यय पुरुष का अवतार व्रजवासी भगवान् कृष्ण हैं यह भी प्रदर्शित हुआ है। अव्यय पुरुष का मुख्यतया निरूपण करने से यह गीता शास्त्र विज्ञान शास्त्र है, केवल दर्शन शास्त्र नहीं यह दिखाते हुए दर्शन और विज्ञान का भेद बड़ी रोचकता से समझाया गया है। दोनों का प्रमेय भेद बताना बड़ा अद्भुत है। आगे विस्तार से अव्यय पुरुष का स्वरूप प्रदर्शन है। अव्यय का विद्या, कर्म, अर्थ, तीन रूप से अभिव्यक्ति बताते हुए अक्षर और क्षर का प्रादुर्भाव बताया गया है। इससे आगे बड़ा अद्भुत प्रकरण है-इसका नाम है शून्य पूर्ण स्थान विवेक इसमें संख्या के दृष्टान्त से शून्य और पूर्ण की एक रूपता चमत्कारिक ढंग से समझाई गई है। ९ संख्या किसी प्रकार गुणने पर वा विभक्त करने पर घटती नहीं, यह कौतुक कई विद्वान् समझाया करते हैं, किन्तु यहाँ उसी कौतुक से ब्रह्म, महामाया, योगमाया आदि का विचित्र रहस्य समझाया गया है। आगे वह पूर्ण अव्यय ही जड चेतन प्रपञ्च रूप से प्रकट है। इसका सुन्दर विवरण है, इसमें उपनिषद् के गूढ प्रकरणों की व्याख्या भी आई है। सम्भव, असंभव का मार्मिक विवेचन है। जगत् को जो मिथ्या कहा जाता है—उस मिथ्यात्व को ऐसी सुन्दर प्रक्रिया से सिद्ध कर समझाया है कि उसे समझ लेने पर सब विवाद ही शान्त हो जाय। अमृत और सत्य की व्याख्या भी बड़ी रोचक है। आगे कृष्ण के नवधा भक्ति रूप वैज्ञानिक नौ (९) भाव बताते हुए राधा और कृष्ण की व्यापकता खूब समझाई गई है। त्रिविध कृष्ण का भी संक्षिप्त किन्तु सार गर्भित और रोचक निरूपण है। उक्त सब विषयों को पुनः पद्य रूप में निबद्ध कर दुहराया है जो कि अभ्यास करने में विशेष उपयोगी है। आगे पुनः ९ संख्या की सब संख्याओं में ऐसी व्यापकता दिखाई गई है, जो

कदाचित् किसी ने देखी सुनी न होगी। इसी के दृष्टान्त से योगमाया का विस्पष्ट विवरण किया है। कई पृष्ठों में इसके नकशे बड़े चमत्कारोत्पादक और रोचक हैं। यहाँ गीता कृष्ण रहस्य प्रकरण पूर्ण होता है। आगे तीनों कृष्णों की एकता दृढ करते हुए पद्य-मय प्रकरण में पुनः पुरुष प्रकृति आदिका संक्षिप्त निरूपण आया है इसमें स्पष्ट सिद्ध किया है कि एक ही कृष्ण तीन भाव में ज्ञेय वा उपास्य हैं, पृथक् पृथक् तीन कृष्ण नहीं है। अर्थात् अव्यय पुरुष, ईश्वर और अवतार रूप मनुष्याकार कृष्ण एक ही हैं इनमें भेद कल्पना अप्रयोजक है। बस यहीं यह आचार्य काण्ड पूर्ण हो गयाहै।

४–चतुर्थ हृदय काण्ड।

इसके आगे "हृदय काण्ड" आता है। श्री गुरू जी का विचार था कि गीता के १६० उपदेशों पर एक एक स्वतन्त्र निबन्ध लिखा जाय, जिससे कि उन उपदेशों का विशद अभिप्राय वर्तमान युग की जनता के लिये सुगम होजाय। आपने इसका प्रारम्भ भी किया। पहली राजर्षिविद्या के प्रथम उपनिषद् में ७ उपदेश हैं। उन सातों का अर्थात् २४ उपनिषदों में से १ उपनिषद् का विशद व्याख्यान तो आपने लिख दिया और भी लिख ही रहे थे बस, इसी समय कराल काल ने हमारे दुर्दैववश उन्हें हम से छीन लिया वह काण्ड जो बना वह पाठकों को शीघ्र अर्पित किया जायगा।

अब उसकी पूर्ति होना किसी प्रकार संभव नहीं, जब तक कि भगवदिच्छा से उनकी विभूति के रूप में कोई वैसा ही प्रतिभाशाली विद्वान् पुनः जन्म न ले। न जाने कितनी शताब्दियों तक इस पूर्ति की प्रतीक्षा करनी पडेगी।

इस ग्रंथ का प्रकाशन श्री गुरुजी को जीवित दशा में ही प्रारम्भ हो गया था। वर्तमान आगरा यूनीवर्सिटी के रजिस्ट्रार पं० श्री श्यामसुन्दर जी एम्. ए. के उद्योग और जयपुर राज्य के फाईनेन्स मिनिस्टर श्री गुरुजी के परम भक्त श्री अमरनाथ जी अटल (M. A.) की कृपा से जयपुर राज्य ने इस ग्रंथ के दो काण्डके मुद्रणव्यय के लिये रुपये स्वीकृत किये थे। इलाहाबाद के लाजर्नल प्रेस में मुद्रण आरम्भ हुआ। श्री पण्डित जी की पुस्तकों के मुद्रणमें प्रायः अशुद्धि बहुत रह जाती थी क्यों कि उन्हें तो प्रूफ देखने का अवकाश ही कहां था अतः इससे खिन्न होकर गुरु जी इसके शोधन का भार हमको दिया। २ काण्ड प्रकाशित हो गये, तीसरे के कुछ पृष्ठ छपचुके थे, बहुत से प्रूफ पडे थे। हमें पश्चात्ताप है कि समय अल्प मिलने से शोधन में बहुत विलम्ब लगा। श्री महाराज (गुरु वर) इससे कई बार रुष्ट भी हुए। किन्तु हम भी विवश थे। जयपुर महाराजा संस्कृत कालेज का पूर्ण कार्य भार उठाते जो समय मिलता था वही दिया जा सकता था। यदि तृतीय काण्ड का मुद्रण शीघ्र पूर्ण हो जाता तो संभव है चतुर्थ काण्ड बहुत कुछ आगे भी लिखा जाता। इस दोष का

दोषी हम अपने को अवश्य मानते हैं। किन्तु विधि का विधान अमिट है दुर्दैव ने उसी अवसर अपना प्रभाव दिखाया। गुरुवर श्री विद्यावाचस्पतिजी गोलोक पधार गये। बहुत दिन शोक ग्रस्त रहने के कारण कार्य स्थगित रहा। आगे उस प्रेस ने पहले के रेट पर छापना स्वीकार नहीं किया विशेष रेट चाहते थे इस पर पं० श्री प्रद्युम्न झाजी का उससे विवाद होगया। जयपुर राज्य से भी आगे सहायता का द्वार रुक गया। यों यह काम कई वर्षों तक स्थगित रहा। श्री प्रद्युम्न झाजी ने प्राणपण से ग्रंथों का प्रकाशन की प्रतिज्ञा मृत्यु के समय श्री विद्यावाचस्पतिजी के समक्ष की थी, तदनुसार उसी दिन से संपादन प्रकाशन आदि कार्य में यथा शक्ति लग ही रहे हैं। अवसर आने पर जयपुर में ही उनने तृतीय काण्ड का ४८ पृष्ठ से आगे का भाग छपवाना आरम्भ किया। तब तक हम जयपुर संस्कृत कालेज के कार्य से अवसर ग्रहण कर चुके थे, और बाहर के कई धर्म और विद्या सम्बन्धी कार्यों से संबद्ध रहने के कारण हमारा अधिक समय जयपुर से बाहर बीतने लगा। इधर श्री प्रद्युम्न झाजी को ग्रंथ के प्रकाशित होने की शीघ्रता थी और दो तीन ग्रंथ एक साथ विभिन्न प्रेसों में चल रहे थे, अन्य कार्यों के अतिरिक्त प्रूफ संशोधन का काम भी उनको स्वयं ही करना पड़ रहा था। एक तो जयपुर में संस्कृत का कार्य करने वाले आम प्रेस ही नहीं इस कारण से दो तीन बार प्रूफ संशोधन कर देने पर भी प्रायः बहुत सी अशुद्धियां रह ही जाती हैं। दूसरे संशोधक किसी विद्वान की सहायता का सर्वथा अभाव और तीसरे मुद्रण की शीघ्रता इन कारणों से इस काण्ड में मुद्रण की अशुद्धि बहुत ही रह गई जिसका हमें परम दुःख है। श्री प्रद्युम्न झाजी ने परिश्रम कर एक बड़ा शुद्धिपत्र भी बनाया और छपाया है, किन्तु एक तो अशुद्धियों का उपयोग करने की आज कल प्रथा ही नहीं दूसरे शुद्धिपत्र के अतिरिक्त भी बहुत अशुद्धियां छपाई में रह गई हैं। कई जगह तो पुस्तक को पढते हमें स्वयं बड़ा उद्वेग होगया कि ऐसे ग्रंथ रत्न की यह क्या दशा हुई। सर्वथा नई बातें ग्रंथ में लिखी गई है। इनका शोधन प्रत्येक विद्वान की भी शक्ति के बाहर की बात है। कई जगह तो ऐसी अशुद्धियां हैं जिन्हें देखकर भय होता है कि विद्यावाचस्पतिजी से अपरिचित पाठक विद्वान् उन अशुद्धियों को ग्रंथ लेखक के शिर न मढने लगें। अस्तु हम पाठक महानुभावों से बार बार क्षमा प्रार्थना पूर्वक विनम्र निवेदन कर देते हैं कि यह जो कुछ दोष है, हम लोगों का है, ग्रंथ रत्न वा ग्रंथ लेखक महानुभाव का इसमें कोई दोष न समझा जाय। भगवत्कृपा हुई और इसके पुनः प्रकाशन का प्रसङ्ग आया तो आगे यह त्रुटि न रहने दी जायगी। तब तक पाठक महाशय किञ्चित् परिश्रम कर मुद्रण शुद्धियों को स्वयं ही ठीक कर पढें। इस मुद्रण त्रुटि के संबन्ध में कविकुल गुरु कालीदास के इस सूक्ति रत्न का स्मरण करलें कि——

"एको हि दोषो गुणसंनिपाते निमज्जतीन्दोः किरणेष्विवाङ्कः"

॥ इत ॥

निवेदक

म. म. पं० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी

——

✻ विषय सूची ✻

गीताचार्य रहस्ये कृष्णत्रैविध्यमावितः प्रोक्तम् ।
मध्ये त्रिविधाः कृष्णा अन्ते कृष्णत्रयैकात्म्यम् ॥

गीताचार्य्य काण्डे पंच प्रकरणानि—

—:▭:—

—✻—

जन्मस्थानं वंशानुक्रमएवं महार्ध्यपुरुषत्वम् ।
आप्याधिकारीकत्वं नवधापरमेष्ठि साधर्म्यम् ॥

—○:○—

—:०:—

—:०-०:—

—:०:—

—:०:—

॥ इति ॥

॥ श्रीः ॥

अथ कृष्णत्रैविध्यनिरुक्तिः

अथ गीताचार्य्यरहस्ये पञ्च प्रकरणानि भवन्ति—कृष्णत्रैविध्यनिरुक्तिः[1]। मानुषकृष्णः[2]।* दिव्यकृष्णः[3]। गीताकृष्णः[4]। कृष्णत्रयैकात्म्यम्[5]—इति। तत्रादौ कृष्णत्रैविध्यं निरुच्यते।

गीताप्रयुक्तस्याहंशब्दस्य प्रतिपाद्येऽर्थे संशयो भवति। अन्यत्रान्यत्र प्रयुक्तानामहंशब्दानां भिन्नभिन्नार्थविषयकतयोपपत्त्या कुत्राप्येकस्मिन्नर्थे तात्पर्य्यानवधारणात्। तथाहि—दृश्यते तावत् कतिषुचित्प्रदेशेषु, अहं शब्देन वासुदेवो नाम गीतावक्ता मनुष्याकारधारी विवक्षितोऽस्तीति। यथा—

मानुषावतारकृष्णपरोऽस्मच्छब्दः ॥

१ ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः।३।३१

२ ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम्।३।३२

३ स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम्॥४।३

४ बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन!।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप ॥४।५

५ असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः।६।३६

६ ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः ॥७।२

७ भूय एव महाबाहो शृणु मे परमं वचः।
यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया ।१०।१

८ स च यो यत्प्रभावश्च तत्समासेन मे शृणु ।१३।३

९ इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयाऽनघ ।१५।२०

१० निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम!।१८।४

११ कर्तव्यानीति मे पार्थ! निश्चितं मतमुत्तमम्।१८।६

१२ सुखन्त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ! ।१८।३६

एतेषु प्रदेशेषु वक्ता मानुषरूपः कृष्णोऽभिप्रेयते।

---

*अस्मिन् काण्डे तत्र तत्र 'मानुषकृष्ण' पदं यद् व्यवहृतम्, तस्याभिप्रायो-मानुषावतारः, मनुष्यवदवभासमानाकारः, प्राकृतैर्मनुष्यत्वेन गृह्यमाणो भगवान् वासुदेवः कृष्ण इति प्रतिपत्तव्यः। न तु कृष्णस्य प्राकृतमनुष्यत्वमिहाभिप्रेतम्। तदेतदग्रे ग्रन्थ एव स्फुटीभविष्यति।

२—ईश्वरकृष्णपरोऽस्मच्छब्दः ॥

क्वचित्पुनरीश्वरो विवक्ष्यते। यथा—

१ अभ्युत्थानमधर्म्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्।४।७
२ धर्म्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ।।४।८
३ वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः।।४।१०।
४ ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।४।११
५ यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वञ्च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ।।६।३०
६ सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।६।३१
७ न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्।९।५
८ तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय।९।६
९ अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्।।९।११
१० महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः।९।१३
११ सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः ।९।१४
१२ ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते ।९।१५
१३ अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम्।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम् ।।९।१६
१४ पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः।९।१७
१५ तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च।
अमृतञ्चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन! ।।९।१९
१६ त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते।९।२०
१७ अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्य्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्।।९।२२
१८ तेऽपि मामेव कौन्तेय! यजन्त्यविधिपूर्वकम् ।९।२३
१९ अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते ।।९।२४
२० भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्।९।२५
२१ पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ।।९।२६
२२ यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्।९।२७
२३ संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि ।९।२८
२४ समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्।।९।२९
२५ अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।९।३०
२६ कौन्तेय! प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ।९।३१
२७ मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः ।९।३२

२८ अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम् ।९।३३
२९ मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥९।३४
३० न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः ।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणाञ्च सर्वशः ॥१०।२
३१ यो मामजमनादिञ्च वेत्ति लोकमहेश्वरम् ॥१०।३
३२ भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः ॥१०।५
३३ मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः ॥१०।६
३४ एतां विभूतिं योगञ्च मम यो वेत्ति तत्त्वतः ।१०।७
३५ अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते ।१०।८
३६ मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम् ॥१०।९
३७ ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ।१०।१०
३८ तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः ॥१०।११
३९ मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते ।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ॥१२।२
४० ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥१२।४
४१ ये तु सर्वाणि कर्म्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः ।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥१२।६
४२ तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् ।१२।७
४३ मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय ।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ॥१२।८
४४ अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनञ्जय ! ॥१२।९
४५ अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्म्मपरमो भव ।
मदर्थमपि कर्म्माणि कुर्वन् सिद्धिमवाप्स्यसि ॥१२।१०
४६ अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः ।१२।११।
४७ मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥१२।१४
४८ हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ॥१२।१५
४९ सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥१२।१६
५० शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान् यः स मे प्रियः ॥१२।१७।
५१ अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान् मे प्रियो नरः ।१२।१९
५२ श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः ।१२।२०
५३ क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज् ज्ञानं मतं मम ।१३।३
५४ मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी ॥१३।१०
५५ मां च यो ऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।१४।२६
५६ ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च ।१४।२७
५७ यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम् ।१५।१२
५८ गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा ।१५।१३
५९ अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः ।१५।१४

६० सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम् ॥१५।१५

इत्यादिषु बहुषु प्रदेशेषु ईश्वर एव कृष्णः प्रतिपत्तव्यः॥

३—अव्ययकृष्णपरोऽस्मच्छब्दः ।

क्वचित्त्वव्ययो विशुद्धात्मा विवक्ष्यते। यथा—

१ मयि सर्वाणि कर्म्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा ॥३।३०

२ अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन् ।४।६

३ चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।
तस्य कर्तारमपि मां विद्धयकर्तारमव्ययम् ॥४।१३

४ न मां कर्म्माणि लिम्पन्ति न मे कर्म्मफले स्पृहा।
इति मां योऽभिजानाति कर्म्मभिर्न स बध्यते ॥४।१४

५ मय्यासक्तमनाः पार्थ ! योगं युञ्जन्मदाश्रयः।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु ॥७।१

६ यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः।७।३

७ अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ॥७।६

८ मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय !
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥७।७

९ बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम्।
बलं बलवतां चाहं तेजस्तेजस्विनामहम् ॥७।१०

१० मत्त एवेति तान् विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि ।७।१२

११ मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम्।७।१३

१२ मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥७।१४

१३ न मां दुष्कृतिनो मूढ़ाः प्रपद्यन्ते नराधमाः॥७।१५

१४ चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन ! ॥७।१६

१५ अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् ॥७।२४

१६ नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम् ॥७।२५

१७ वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन ! ।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन ॥७।२६

१८ ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः।७।२८

१९ साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञञ्च ये विदुः।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः॥७।३०

२० अन्तकाले च मामेव स्मरन् मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः ॥८।५

२१ तस्मात् सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ॥८॥७

२२ अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ ! नित्ययुक्तस्य योगिनः ।८।१४
२३ मामुपेत्य तु कौन्तेय ! पुनर्जन्म न विद्यते। ८।१६
२४ यत्प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ।८।२१
२५ अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि ।९।३
२६ मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ।९।४।
२७ कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम् ।९।७।
२८ न च मां तानि कर्म्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय ! ।९।९।
२९ मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् ।९।१०।
३० अहमात्मा गुड़ाकेश ! सर्वभूताशयस्थितः।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च। १०।२०।
३१ अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन ! ।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ।१०।४२
३२ क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत ! ।१३।२।
३३ मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते ॥१३।१८।
३४ इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साध्यर्म्यमागताः।१४।२।
३५ मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम् १४।३
३६ तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ।१४।४
३७ यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।१५।१८।
३८ यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम्
स सर्वविद् भजति मां सर्वभावेन भारत ! ।१५।१९
३९ मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः ॥१६।१८
४० तानहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान् ।१६।१९
४१ मां चैवान्तःशरीरस्थं तान् विद्ध्यासुरनिश्चयान् ।१७।६
४२ समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् १८।५४
४३ भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः १८।५५
४४ मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ।१८।५६
४५ चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः ।१८।५७
४६ मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि ।१८।५८
इत्येवमादिषु विशुद्धपरब्रह्माऽव्यय एव नूनं विज्ञायते।

४—मानुषेश्वरकृष्णसाधारणोऽस्मच्छब्दः।

अथ क्वचिन्मनुष्यो वा ईश्वरो–वा सामञ्जस्येन प्रतीयते।
१ मम देहे गुड़ाकेश ! यच्चान्यद् द्रष्टुमिच्छसि ।११।७
२ न च मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम् ॥११।८
३ मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं रूपं परं दर्शितमात्मयोगात् ॥११।४७
४ एवंरूपः शक्य अहं नृलोके द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर ! ॥११।४८

५ व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वं तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य ॥११।४९
६ सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्टवानसि यन्मम ॥११।५२
७ नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा ॥११॥५३
८ भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन ! ॥११।५४
एवमादिषु मानुषश्चेश्वरश्च कृष्णः समं प्रतीयते॥

५—मानुषाव्ययकृष्णासाधारणोऽस्मच्छब्दः ।

क्वचित्पुनर्मानुषो वा तदव्ययात्मा वा संकीर्णव्यवहारो भवति। यथा—
९ न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः ॥२।१२
अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥३।२७
येन भूतान्यशेषेण द्रक्षस्यात्मन्यथो मयि ॥४।३५
हन्त ! ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः।
प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ ! नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे ॥१०।१९
नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परन्तप ! ।
एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया ॥१०।४०
इत्येवमादिषु मानुषश्चाव्ययश्च कृष्णः समं प्रतीयते।

६—ईश्वराव्ययकृष्णासाधारणोऽस्मच्छब्दः ।

एवं क्वचिदीश्वरो वा अव्ययो वा संकीर्णः। स यथा—
१ तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः॥२।६१
२ अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया ॥४।६
३ जन्म कर्म्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ! ॥४।९
४ चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्म्मविभागशः।
तस्य कर्त्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम् ॥४।१३
५ सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥५।२९
६ मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः॥६।१४
७ शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति ॥६।१५
८ यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥६।३०
९ सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।
सर्वथा वर्त्तमानोऽपि स योगी मयि वर्त्तते ।६।३१
१० योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥६।४७
११ मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनञ्जय ! ।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥७।७

१२ चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन ! ।७।१६
१३ देवान् देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि ।।७।२३
१४ ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढ़व्रताः ।।७।२८
१५ मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ।।८।७
१६ अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ ! नित्ययुक्तस्य योगिनः।।८।१४
१७ मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः
इत्येवमादिषु ईश्वरश्चाव्ययश्च कृष्णः समं प्रतीयते।।

७—अव्ययेश्वरमानुषैतत्त्रितयसाधारणोऽस्मच्छब्दः ।

अथान्यत्र क्वचिदयं मानुषो वा, ईश्वरो वा, अव्ययो वेति त्रिविधोऽप्युपपद्यते। यथा—
१ न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन ।।३।२२
२ यदि ह्यहं न वर्त्तेय जातु कर्म्मण्यतन्द्रितः।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ ! सर्वशः।।३।२३
३ उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्य्यां कर्म्म चेदहम्।।३।२४
४ ये यथा मां प्रपद्यन्ते ताँस्तथैव भजाम्यहम्।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ ! सर्वशः।।४।११
इत्येवमादिषु मानुषश्चेश्वरश्चाव्ययश्च त्रिविधोऽपि कृष्णः सामञ्जस्येन प्रतीयते।

तथा चेयमुत्तिष्ठते जिज्ञासा—कोऽयं गीतायामहंपदार्थ इति। मानुषो वा, ईश्वरो वा, अव्ययो वा, मानुषेश्वरो वा, मानुषाव्ययो वा, ईश्वराव्ययो वा, सर्वसाधारणो वेति।।

(१) मानुषकृष्णवादिनां पक्षे युक्तिः ।

तत्र बहवस्तावदाहुः—इतिहासमर्य्यादया तावद्देवकीपुत्रो वासुदेवो नाम मानुषरूपो गीतोपदेष्टासीदिति मन्यन्ते। अतश्च गीतायामहमित्यस्मच्छब्देन स एवायं मानुषरूपः कृष्णो विवक्षितः संभाव्यते। प्रत्यगात्मन्येवास्मच्छब्दस्य वृत्तेः, गीतोपदेष्टुरेव च गीतायां प्रत्यगात्मत्वात्।

अपि च गीतायामेष भगवान्—

"इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्"—इत्येवं पुरावृत्तं प्रतिजानीते। तत्रैष शरीरिणि कस्मिंश्चित्कृतो व्यपदेशः सम्भाव्यते। नत्वयमीश्वराव्ययः स्वयमात्मानमव्ययं कस्मैचिज्जीवाव्याय ब्रूयादिति सम्भवति। अत एव चायमस्मच्छब्दो गीतायामवश्यं शरीरिपरत्वेनैवावधीयते, न त्वशरीरेश्वरात्माव्ययाभिप्रायेण। अन्यथा यद्ययमत्रेश्वरविशुद्धाव्ययपरतया विवक्षितोऽभविष्यत्, न स तर्हि—"बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन" इत्येवं तव ममेति भेदेनाभिनयमकरिष्यत्, अव्ययपुरुषस्य सर्वत्रैकत्वेनोपपत्तेरिति।।

(२) ईश्वरकृष्णवादिनां पक्षे युक्तिः ।

अपरे पुनरन्यथा प्रत्यवतिष्ठन्ते—गीतायां यावन्तोऽस्मच्छब्दाः प्रयुक्ताः सन्ति, तेषां सर्वेषामस्मिन्मानुषे कृष्णे तात्पर्य्यं नोपपद्यते, बहूनां वैज्ञानिकानामर्थानां मानुषपरत्वेन सामञ्जस्यानुपपत्तेः। तथा हि—

१ इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहममव्ययम् ।।४।१
२ ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ।१५।७
३ अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर ! ।।८।४
४ यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वञ्च मयि पश्यति ।।६।३०
५ यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।।१५।१८
६ मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय ! ।।७।७
७ मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम् ।।१४।३
८ सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टः ।
९ मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनञ्च ।

इत्येवमादीनां विज्ञानार्थानां मानुषे व्यक्तिविशेषे कस्मिँश्चिदैदंपर्य्यं न सम्भवति । तस्मादीश्वर एवासौ गीतायामहंपदार्थः—इति सुदृढ़ं विश्वसितव्यम्, न तु मानुषो भाव इति ।

(३) अव्ययकृष्णवादिनां पक्षे युक्तिः ।

अथान्यः पुनरन्यथा प्रत्यवतिष्ठते—सत्यमिदमशरीरं विशुद्धाव्ययमात्रं खलु गीतायामहं पदार्थ इति प्रतिजानीमहे । अनुपसृष्टस्थानो वायमुपसृष्टस्थानो वा, यथाकथंचिदुपचरितोऽप्येष सर्वथा विशुद्ध एवाव्ययोऽहंपदार्थतया नेयः । यत्रोपसृष्टस्थाने मानुषे वेश्वरे वा व्यवहारस्तत्रापि तदुपसर्गोपहिते विशुद्धेऽव्ययमात्रे सत्ये बुद्धिः कर्त्तव्या । अत एव च पुरा युगे यत्किञ्चिच्छरीरावच्छिन्नः सोऽव्यय आत्मा तदानीं तच्छरीराभिमानिप्रत्यगात्मप्रतीकविधयैव नु विवस्वते विज्ञानमुपदिदेश । अथेदानीं पुनरन्यशरीरावच्छिन्नः स एवाव्यय आत्मा तदेतद्वर्तमानशरीराभिमानिप्रत्यगात्मप्रतीकविधयैव तमर्जुनं प्रत्युपदिदेश । तत्र शरीरयोरुपाधित्वादविवक्षयैवायमभेदं नाटयति—"इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्" इति, सेयं जहदजहल्लक्षणा द्रष्टव्या । "मथुरायां बालो दृष्टो द्वारकायां वृद्धो ददृशे" "तत्त्वमसि" इत्यादिषु भागत्यागलक्षणया भेदाभेदव्यवहारवत् । स यद्येष उभयोः शरीरी विवक्षितः स्यात्तर्हि शरीरभेदेनोभयोर्व्यक्त्योर्भेदादयमभेदव्यपदेशो नोपपन्नः स्यादिति । तस्मान्नूनमेतयोर्भिन्नकालयोः कृष्णयोरिदं तच्छरीरमुपलक्षणमात्रं द्रष्टव्यम् । अपि च—शरीरपरिग्रहपरित्यागप्रवाहस्याव्ययधर्म्मस्य प्रतिशरीरं साम्येन प्रवृत्तिरित्यावेदयितुं तव च मम चेति शरीरभेदोपन्यासः, तेनैतयोरपि कृष्णार्जुनयोर्भिन्नशरीरोपहिते क्वचिदभिन्नेऽव्यये बुद्धिः पर्य्यवतिष्ठते, तस्मान्नानुपपत्तिः ।

पक्षत्रयेपि विप्रतिपत्त्या अस्मच्छब्दस्यानिर्णीतविषयत्वम् ।

अपरः पुनर्जिज्ञासते । उक्तरीत्या खल्वव्ययस्य गीताहंपदार्थत्वेऽभ्युपगम्यमानेऽपि नातितरां सामञ्जस्यमुपपद्यते । सर्वेष्वेवास्मच्छब्दप्रयोगेष्वविशेषेण तात्पर्यसमन्वयायोगात् । तथा हि—

ईश्वरस्य च जीवानां च बहवः प्रातिस्विका धर्मा भिद्यन्ते । तेऽवश्यं तदुपसर्गयोरेव धर्म्माः स्युः । तथा च अव्ययस्य प्रातिस्विकधर्म्माणामीश्वरे जीवेषु च साम्येनोपपत्तावपि तदुपसर्गधर्माणां प्रतिव्यक्ति भेदादुपसृष्टानुपसृष्टावस्थयोरव्ययस्यापि भेदः सम्भवति । तेन य एष विशुद्धोऽव्ययः, यो वायं विश्वोपसृष्ट ईश्वरोऽव्ययः, ये चैते शरीरोपसृष्टा जीवाव्ययाः, तेऽमी अवश्यं भिन्नाः स्युः । विशेषणभेदेनैषां भेदोपपत्तेः । तेष्वयमहंशब्दो गीतायां नाविशेषेण क्षमते वर्तयितुम् । प्रवृत्तिनिमित्तस्यैकस्यानुपपत्तेः । प्रवृत्तिनिमित्तभेदे त्वनेकार्थत्वापत्तिः । न चैतदस्ति । अस्मच्छब्दस्य गीतायां सर्वत्राविशेषेणोपचारदर्शनात् । तथा चेयमुत्तिष्ठते जिज्ञासा—अव्ययोऽयमनुपसृष्टस्थानो ऽस्मच्छब्देन विवक्ष्यते, उपसृष्टस्थानो वेति । उपसृष्टस्थानोऽप्येष विश्वोपसृष्ट ईश्वरो विवक्ष्यते, शरीरोपसृष्टो जीवो वेति ।

सर्वथापि नोपपद्यते, अविशेषेणास्मच्छब्दस्य सर्वत्रोपचारदर्शनात्। अस्मच्छब्द-संबन्धेनोपदिष्टानां त्वर्थानां तेषु सर्वेषु नाविशेषेणोपपत्तिर्दृश्यते। तस्मान्मन्यामहे—संदिग्धार्थोऽयं गीतायामस्मच्छब्द इति॥ तथा हि—

१—न तावच्छरीरोपसृष्टोऽयं जीवात्मा गीतायामहंपदार्थः—"ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः" इत्येवं जीवनिरूपितांशित्ववतो जीवातिरिक्तस्य मम-शब्देन विवक्षितत्वासंभवात्।१।

२—एवमेव नत्वेवासावीश्वरोऽपि विश्वोपसृष्टो गीतायामहंपदार्थः—

"बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन!
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप॥
एतान्यपि तु कर्म्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम्॥"

इत्येवमादिषु जन्ममरणवक्तृत्वादिधर्म्मवतो जीवात्मन एवास्मच्छब्देन विवक्षितत्वात्॥२॥

३—अथ नानुपसृष्टो विशुद्धरूपोऽयमव्ययात्मापि गीतायामहंपदार्थः—

"समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥
यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति"॥

इत्येवमस्यात्मनः सर्वभूतोपसर्गेणाख्यानात्। तस्मात्संदिग्धोऽयमनैकान्तिकोऽहंपदार्थः॥३॥

कृष्णस्यात्मन्यव्यये सर्वेषां समन्वयः।

४—अथ पारोवर्य्यविदो विशिष्टा विद्वांसः पश्यन्ति—वासुदेवोऽयं देवकीपुत्रः कृष्ण एवैको गीतायामहंपदार्थतया नेयः—इति न प्रवृत्तिनिमित्तं भिद्यते। प्रत्यगात्मन्येवाहंशब्दस्य वृत्तेर्निरूढत्वात्। प्रत्यगात्मा तु शरीरैर्विशिष्टो नेष्यते, अपि तु शरीराभिमानी शरीरातिरिक्तः कश्चिदात्माहंपदार्थः। स चायमात्मा भूतात्मा नाम स्यादित्येके पश्यन्ति। भूतात्मनोऽधिष्ठाता क्षेत्रज्ञोऽयमात्मा स्यादित्यन्ये। क्षेत्रज्ञात्मनोऽप्यतिरिक्तोऽयमक्षर आत्मा इति परे। अक्षरादप्युत्तमोऽव्यय आत्मा इति सिद्धान्तः। तथा च भगवानाह—

"यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः" इति

तथा चैताभ्यां क्षराक्षराभ्यामप्युपरितनः कश्चिदव्ययपुरुषोऽयं प्रत्यगात्माहंपदार्थः—इत्येव नूनं भगवद्गीताशास्त्रार्थः। स हि सत्यः। अन्येषां सर्वेषामात्मनां तदाश्रयेण वृत्तेस्तदधीनत्वात्। सोऽयमव्ययोऽनुपसृष्टस्थानो वा स्यादुपसृष्टस्थानो वा। स ईश्वरस्थानो वा स्याज्जीवस्थानो वा। भूतात्मस्थानो वा स्यात्क्षेत्रज्ञस्थानो वा। सर्वत्रैव तु निर्विशेषं स गीतायामहंशब्देनाभिनीयते—इति नानुपपत्तिः। शब्दव्यवहारकाले तत्तदुपाधिव्यपेक्षायामपि वस्तुभावनायां सर्वत्र निरुपाधेरव्ययस्यैवाहंत्वेन विवक्षणीयत्वाद्—इति भाव्यम्॥४॥

कृष्णत्रैविध्यसिद्धान्तः।

अथवा नैकान्ततो ऽव्ययकृष्णविषय एवायमस्मच्छब्दो वक्तव्यः। सर्वेषु प्रदेशेषु सामञ्जस्येनार्थोपपत्त्यदर्शनात्। तस्मात् त्रिविधः खलु गीतायामहंपदार्थः प्रतिपत्तव्यः—इति।

१—मानुषरूपो गोकुलवासी वासुदेवो नाम योगेश्वरः कृष्ण एकः।

२—ईश्वरः परमेष्ठी गोलोकवासी सत्यो नाम दिव्यः कृष्णो द्वितीयः।

३—विशुद्धपरब्रह्मलक्षणः सर्वप्राणिहृदयवासी, अव्ययपुरुषो नाम गीताकृष्ण-स्तृतीयः।

अस्मच्छब्दस्य प्रत्यगात्मपरत्वेऽपि प्रत्यगात्मनि तात्पर्य्यानुपपत्तौ यत्रार्थसामञ्जस्यमुपपद्यते, तत्रैव शास्त्रार्थस्योपनेयत्वं सिद्धान्तः। यथा खलु श्रुतौ—

"अहमस्मि प्रथमजा ऋतस्य पूर्वं देवेभ्यो अमृतस्य नाम।
यो मा ददाति स इदेव माऽवदहमन्नमन्नमदन्तमद्मि" ॥१॥
"अहमिद्धि पितुः परिमेधामृतस्य जग्रह। अहं सूर्य्य इवाजनि ॥२॥

इत्येवमादिष्वहंशब्देन तावन्नायं मन्त्रोपदेष्टा व्यक्तिविशेषो विवक्ष्यते। तस्य देवेभ्यः पूर्वं प्रथमजत्वासम्भवात्। तथा चैतत्प्रथमजत्वं यत्रोपपद्यते; सोऽयमब्योनिकोत्तरसृष्टिविषयः सत्यपदार्थ एवेह शास्त्रार्थ इति वक्तव्यम्। तथाहि—अब्योनिकोत्तरसृष्टिक्रमः श्रूयते —

"आप एवेदमग्र आसुः। ता आपः सत्यमसृजन्त। सत्यं ब्रह्म। ब्रह्म प्रजापतिम्। प्रजापतिर्देवान्। ते देवाः सत्यमित्युपासते। तदेतत् त्र्यक्षरं सत्यमिति। स इत्येकमक्षरम्। तीत्येकमक्षरम्। अमित्येकमक्षरम्। प्रथमोत्तमेऽक्षरे सत्यम्। मध्यतोऽनृतम्। तदेतदनृतं सत्येन परिगृहीतम्। सत्यभूयमेव भवति, नैवं विद्वांसमनृतं हिनस्ति। तद्यत् तत्सत्यम्, असौ स आदित्यः। य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषो यश्चायं दक्षिणेऽक्षन् पुरुषः, तावेतावन्योन्यस्मिन्प्रतिष्ठितौ। रश्मिभिर्वा एषोऽस्मिन्प्रतिष्ठितः। प्राणैरयममुष्मिन्। य एष एतस्मिन् मण्डले पुरुषः—तस्य भूः शिरः। भुवो बाहू। स्वः प्रतिष्ठा। तस्योपनिषदहरिति। अथ योऽयं दक्षिणेऽक्षन् पुरुषः। तस्य भूः शिरः, भुवो बाहू, स्वः प्रतिष्ठा। तस्योपनिषदहमिति।"

अयमर्थः—अब्योनिकायां सृष्टौ ता आपः प्रतिपत्। ता योनिः। तत्र सत्यं रेतः संसृज्यते। सत्यमित्यादित्यो नामार्थः। द्यौः सत्यम्, पृथिवी सत्यम्, मूर्तत्वात्। अन्तरिक्षमनृतममूर्तत्वात्। द्यावापृथिव्योरग्नी ध्रुवौ, आदित्यात्मानौ सत्ये। ताभ्यां योगादुत्पन्नोऽयमपूर्वोऽग्निर्वैश्वानरो नाम क्षरत्वादनृतम्। वैश्वानरमध्यो ध्रुवाग्निद्वयसंघातः स आदित्यः सत्यम्। तदिदं वाक्प्राणमयं यजुर्ब्रह्म। तदिदं रेतोऽप्सु सिक्तं ब्रह्माजनयत्—त्रयीं विद्याम्। सा चैषा त्रयी विद्या चित्यचितेनिधेयाग्निमयी मूर्तिरभवत्। स मर्त्यामृतमयः प्रजापतिः। तत्राग्निवाय्वादित्यभेदात् त्रिपर्वणोऽग्नेस्त्रयस्त्रिंशद्देवा उदभवन्। अग्नेरष्टौ वसवः। वायोरेकादश रुद्राः। आदित्याद् द्वादशादित्याः। बृहस्पतेर्विश्वेदेवाः। वरुणादाप इति। तेऽमी सर्वे देवाः सत्यमेवैतं मुख्यं प्राणमन्वासजन्ते। **"मध्ये वामनमासीनं सर्वे देवा उपासते"** इति श्रवणात्। तथा चेदं सत्यं सूर्य्ये अहरित्युक्तमासीत्। तदेवेदमध्यात्मं भिन्नसंस्थं भूत्वा "अहम्" इत्याख्यायते। सोऽयमहंपदार्थः क्षेत्रज्ञनामा सत्यात्मा ऋतस्यामृतस्याब्रूपस्य देवापेक्षया पञ्चेन्द्रियदेवगणोपासनाधारभूतः प्रथमजा भवति। तदुक्तं श्रुतौ—

"अहमस्मि प्रथमजा ऋतस्य पूर्वं देवेभ्यो अमृतस्य नाम।
यो मा ददाति स इदेव माऽवदहमन्नमन्नमदन्तमद्मि" ऋ०सं० इति।

तञ्चाहंनामानं सत्यपदार्थं दिव्योऽसावहर्नामा सत्यपदार्थो भुङ्क्ते। अथ दिव्यमहर्नामानं सत्यपदार्थं जीवात्माऽयमहंनामा सत्यपदार्थोभुङ्क्ते। अहमन्नमहर्भोक्तृ, अहरन्नमहं भोक्ता—इति हि मन्त्रतात्पर्य्यम्। तत्रायमहंशब्दो व्यक्तिविशेषनिरपेक्षो जीवात्मसामान्यपर इति विज्ञायते।

एवमिहापि गीतायां यत्रार्थसमन्वयस्तत्र तात्पर्य्यं नेयमिति कृत्वा गीतोपदेशकदेवकीपुत्रप्रत्यगात्मभावितजीवसामान्याव्ययपुरुषाभिन्नत्वप्रतिपन्नपरमात्माव्ययपुरुषेऽहंशब्दस्य वृत्तिरिति मन्यामहे। स प्रजापतिरिति वक्तव्यः। चतुःसंस्थोऽयं प्रजापतिः।

षोड़शी[१]–सत्यो[२]–यज्ञो[३]–विराट्[४]–चेति ॥

क्षराक्षराव्ययेति पुरुषत्रयोपेतः परात्परः षोड़शी। षोड़शकलोपेतः षोड़शी। स गूढोत्मा। सेयं प्रथमा संस्था ॥१॥ अथ परा, अपरा, मायेति प्रकृतित्रयोपेतः षोड़शी पुरुषः सत्यः। सृष्टेषु गुण-विकाराञ्जनेषु सत्ताधायकः सत्यः। सा द्वितीया संस्था ॥२॥ अथ गुणविकाराञ्जनेत्युपसर्गत्रयोपेतः सत्यः पुरुषो यज्ञः। "अन्नोर्क्प्राणानामन्योन्यपरिग्रहो यज्ञः"। आत्मन्यग्नौ हितप्राणद्वारोपहितानां पशूनामाहुतिर्य्यज्ञः। सा तृतीया संस्था ॥३॥ अथ [१]सर्वहुद्वि-[२]श्वदानि-भैषज्येति[३] यज्ञत्रयोपेतो यज्ञो विराट्। जीवकलेवरः क्षुद्रविराट्। ईश्वरविग्रहो महाविराट्। तदिदं विश्वम्। नातः परं किञ्चि-दस्ति। यत्किञ्च प्राणि स प्रजापतिः। प्रजापतिर्वा इदं सर्वं यदिदं किञ्च समस्तं वा व्यस्तं वा। तस्य वाचकः प्रणवः। ओंकारो ह्रीश्वरप्रजापते रूपम्। त्रिपर्वायमोङ्कारः। त्रिपर्वा प्रजापतिः। आत्मा,प्राणाः, पशवः–इति हि तानि त्रीणि पर्वाणि। आत्माऽयमकारः। आत्मनि हिताः प्राणा उकारः। उपहिताः पशवो मकारः। उत्तरोत्तरप्रजापतिः पूर्वपूर्वप्रजापतौ हितो भवति॥

परापरमायेतिप्रकृतित्रयोपेतः षोड़शी पुरुषः सत्य इत्युक्तम्। स हि सत्यप्रजापतिरात्मा। तत्र यज्ञो हितः। विराडुपहितः। एष एव सत्यप्रजापतिरिह कृष्णो विवक्ष्यते॥ "नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः" इत्युक्तेरस्याप्रकाशतया कृष्णत्वोपचारात्॥

जीवाव्ययः, ईश्वराव्ययः, विशुद्धाव्ययः—इत्यव्ययकृष्णात्रैविध्यम्

विश्वात्मा चायं त्रेधोपपद्यते। सर्वजीवशरीरोपाधिकत्वविवक्षायामशेषजीवसाधारणैका-व्ययरूपः। विश्वशरीरोपाधिकत्वविवक्षायामीश्वराव्ययरूपः। निरुपाधिकत्वविवक्षायां विशुद्धा-व्ययरूपः—इति। तत्रायं जीवाव्ययस्तावद् गोकुलवासी मानुषरूपो योगेश्वरः कृष्ण इतिभाव्यते। अथेश्वराव्ययो गोलोकवासी सत्यः। अथ विशुद्धाव्ययो हृदयवासी परमात्मा। त्रयोऽप्येते क्रमेण मानुषः-कृष्णः, दिव्यः कृष्णः, गीताकृष्ण इति नामभिर्व्यवहर्तव्याः। तमेतं त्रिविधं कृष्णमत ऊर्ध्वं पृथक् पृथग् व्याख्यास्यामः। तदनु च तेषामैक्यम्।

१—तत्र जीवाव्ययभावितो मानुषरूपः कृष्णः स गोकुलवासी योगेश्वरः, स प्रथमः॥

२—अथ ईश्वराव्ययो दिव्यकृष्णः स गोलोकवासी परमेष्ठी, स द्वितीयः॥

३—अथ विशुद्धाव्ययो गीताकृष्णः स हृदयवासी सर्वान्तरात्मा, स तृतीयः॥

इति कृष्णत्रैविध्यनिरुक्तिः।

॥ श्रीः ॥

मानुषकृष्णरहस्यम्

श्रीभगवद्गीताया उपदेष्टुराचार्य्यस्य निरूपणं प्रारभ्यते

अगाधगीताविज्ञानाम्भोधिपारगमक्षमम् ।
गोविन्दस्मरणं पोतमिवालम्ब मनोरमम् ॥१॥

एष खलु भगवान् गोविन्दः श्रीकृष्णस्त्रिविधः प्रतिपद्यते—
मानुषरूपः कृष्णः, दिव्यकृष्णः, गीताकृष्ण इति ।

१ तत्र गोकुलवासी योगीश्वरो जीवरूपो लक्ष्यमाणो मानुषःकृष्णः ।
२ तथा गोलोकवासी त्रिसत्यः प्रजापतिर्महागुण ईश्वररूपो दिव्यकृष्णः ।
३ अथैतदुभयानुगतो हृदयवासी अव्ययपुरुषो निर्गुणः प्रत्यग्ब्रह्मरूपो गीताकृष्णः ।

एष एवाव्ययपुरुषः परमात्मा गीतोदिताहंपदार्थः । भिन्नभिन्नानां प्रतीयमानानामेषां त्रयाणामिह गीतायामैकात्म्यं प्रतिपत्तव्यम् । एक एवायं कश्चित् सत्यपदार्थस्त्रिधाकृत्वा विविच्यते ॥

तत्र भगवद्गीतोपनिषदो योगशास्त्रस्योपदेष्टारं तावदिमं योगीश्वरं मानुषं वासुदेवकृष्णं प्रथमं व्याख्यास्याम: । तस्यैतस्य मानुषकृष्णस्य—

१ त्रिविधं **परिचयसंज्ञानम्** (३)
२ पञ्चविधं **महापुरुषत्वम्** (५)
३ सप्तविधमलौकि**काश्चर्यगुणवैशिष्ट्यम्** (७)
४ नवविधं पुनरीश्वरत्वसहकृतजीवत्वम् (९)
} २४

इति चतुर्विंशतिलक्षणः प्रभावो वक्तव्यः । तानीमानि लक्षणानि यथा

१ परिचयसंज्ञानं त्रेधा—(३)

१ नामधेयाख्यानम्
२ अभिजनस्थानाख्यानम्
३ वंशानुक्रमाख्यानम् — इतिपरिचयसंज्ञानानि त्रिविधानि (३)

२ महापुरुषत्वं पञ्चधा—(५)

१ जगद्गुरुत्वम्
२ परमेष्ठिसत्यावतारत्वम् (नवसत्यावतारत्वं वा)
३ अच्युतभगवत्त्वम्
४ पुरुषोत्तमत्वम्
५ आधिकारिकपुरुषत्वम्—इतिमहापुरुषलक्षणानि पञ्चविधानि (५)

३ पुराणपुरुषत्वं सप्तधा—(७)

१ सर्वप्रमुखत्वम् (अमृताक्षरपुरुषत्वरूपम्)
२ व्यक्ताव्यक्तसर्वाव्ययपुरुषत्वम् (परमाव्ययपुरुषत्वम्) ब्रह्माग्निपुरुषत्वम्।
३ धन्याश्चर्यपरिनिष्ठापरिष्टुतं (ब्रह्मणस्पतिसोमलक्षणम्) यज्ञपुरुषत्वम्।
४ चतुर्व्यूहनारायणपुरुषत्वम्—(वागग्निपुरुषत्वरूपम्)
५ ब्राह्मणपरित्राणपरिष्टुतं विलक्षणयोगीश्वरत्वम्—चन्द्रसोमलक्षणम्
६ त्रिविक्रमविष्णुत्वम् (अन्नादाग्निपुरुषत्वरूपम्)
७ सर्वभूतान्तरात्मत्वं त्रैलोक्याग्निसोमलक्षणम्। इति लोकातीतपरमाश्चर्य्यगुणवैशिष्टच-लक्षणानि सप्तविधानि (७)

४ ईश्वरत्वसहकृतजीवत्वं नवधा—(९)

१ नामसाम्यम्
२ रूपसाम्यम्
३ सोमान्ववायित्वम्
४ व्रजनिकेतनत्वम्
५ द्वादशलक्षणत्वम्
६ लोकचतुष्टययोगित्वम्
७ वेदगोब्राह्मणमहिमोद्भावकत्वम्
८ वेदानुगीतचरितत्वम्
९ षोडशकलापूर्णावतारत्वम्—इतीश्वरव्यपदेशहेतुभूतानि ईश्वरत्वसहकृतजीवत्वलक्षणानि नवविधानि (९)

१—त्रिपरिचयसंज्ञानम्

तत्रादौ नामधेयम्; अभिजनस्थानम्, वंशानुक्रमः—इति त्रिविधं परिचयकल्पकं संज्ञानं प्रदर्श्यते।

नामधेयप्रदर्शनम्

अस्य तावद् देवकीगर्भात् प्रादुर्भूतस्यादौ वसुदेवेन पित्रा कृतं गर्गाचार्य्येण वा कुलपुरोहितेन वैधनामकरणावसरे, नाक्षत्रिकं "विष्वक्सेन"—इति नामधेयमासीदिति पुराविदः पश्यन्ति। तस्याचिरेणैव कालेन—"कृष्णो वासुदेवः"—इति सर्वलोकप्रसिद्धं सामाजिकं नामधेयं समपद्यत। "मुकुन्द"—इत्यन्यत्। मुकुर्मुक्तिः। मुकुं ददातीति मुकुन्दः॥

विष्वक्सेनो नाम पित्रा मुकुन्दो मुनिना कृतम्।
कृष्णश्च वासुदेवश्च सर्वलोकानुमोदिते ।१।
देवकीनन्दनः[१] शौरि[२] र्माधवो[३] नाम वंशतः।
केशवः[४] पुण्डरीकाक्षो[५] रूपाद् दामोदर[६]स्तथा ॥२॥
वेषात् पीताम्बरः[७] शार्ङ्गी[८] वनमाली[९] खगध्वजः[१०]।
कंसारातिः[११] कर्म्महेतोरित्येकादश चाभवन् ॥३॥
मुख्यानीमानि कृष्णस्य नामानि मनुजात्मनः।
अन्यानि च बहून्यस्य गुणनामानि चक्षते ॥४॥
तानि त्रयाणां कृष्णानां नामसामान्यवर्णने ।
परतो दर्शयिष्यन्ते तत्प्रयोगोऽविशेषतः ॥४॥
'राम[१] नारायणा[२] नन्त[३] मुकुन्द[४] मधुसूदन[५]।
कृष्ण[६] केशव[७] कंसारे[८] हरे[९] वैकुण्ठ[१०] वामन[११]।
इत्येकादशनामानि पठेद्वा पाठयेदिति।
जन्मकोटिसहस्राणां पातकादेव मुच्यते'।

इत्येवं प्राणेषूपासकसमुदयानि नामानि स्मर्य्यन्ते—ब्रह्मवै० उत्त० १११ अ० १६ श्लो०।

इति नामधेयप्रदर्शनम्।

२—अभिजनस्थानम्

अथैतस्य गोकुलप्रान्ते जन्मस्थानमाचक्षते। आसीत् पुरा शूरसेनदेशे मथुरायां व्रजसंज्ञे गोष्ठाने यादवः कश्चिदानकदुन्दुभिर्वसुदेवो नाम। तद्गृहे प्रादुर्भूतोऽयं कृष्णो वासुदेव इति नाम्ना प्रसिद्धोऽभूत्। एष खलु वासुदेवः कृष्णः सर्वलोकप्रियो मधुरदर्शनः, परमोत्साहनिधिः, श्यामगात्रो, हसन्मुखः, प्रीतमनाः स्नेहमूर्त्तिः परमसुन्दरः, परमानन्दघनः, पुण्यश्लोक आसीत्। कालेन स पश्चात् समुद्रगर्भोपनिविष्टां द्वारकामागत्य सपरिवारस्तत्र न्युवास। स इत्थमयं श्रीकृष्णः स्वजीवनकाले चत्वारि स्थानानि पर्य्यायेण स्वनिवासाय जग्राह—

(१) प्रथमं तावन् मथुरायां कारागारभूमौ निवसतोर्मातापित्रोः सकाशाज्जन्म लेभे। तदिदं प्रथमं स्थानम्।

(२) अथ गोकुल-गोवर्धन-नन्दग्राम-वृन्दावनादिपरिविस्तृतावकाशरूपेऽन्तरिक्षे भूयसा विजहार। तदिदं द्वितीयं स्थानम् ॥

(३) अथ पुनर्मथुरायां दिवीव ज्योतिर्म्मये राजभवने कंसासुरवधोत्तरं कंसपित्रा राज्ञा संपूजिताभ्यर्थितगौरवो दिव्यसिंहासनारूढवदेव स्वर्गसुखमनुबभूव। तदिदं तृतीयं स्थानम् ॥

(४) अथ कालेन पश्चाद् द्वारकामागत्य समुद्रगर्भस्थितायां भूमौ पारमेष्ठ्यं पदमाससाद। तदिदमस्य चतुर्थं स्थानम्। तदित्थमस्य स्थानचतुष्टयसंचारित्वं गोलोकाधिवासिना चतुर्लोकसञ्चारिणा दिव्यकृष्णेन साधर्म्यं विज्ञायते—तदुत्तरतो वैशद्येन वक्ष्यामः ॥

इति श्रीकृष्णाभिजनस्थानम्।

३—वंशानुक्रमः

अथैतस्य वंशानुक्रम : पुराणे स्मर्य्यते। मनुवंशस्य धर्म्मप्रधाने प्राजापत्यशाखाविभागे तावदस्य भगवतः श्रीकृष्णस्य वंशः संनिविशते। तत्र तावदतिपुरातनात् कुतश्चिन् मनुपुरुषादग्रे नवमः पुरुषः श्रद्धादेवो नामायमन्यो मनुर्वैवस्वत आसीत्। तस्य तावदिलानाम्नी कन्या जज्ञे। तत एवायमैलेयश्चन्द्रवंशः प्रवर्त्तते स्म, स एवायं कृष्णस्य वंशो द्रष्टव्यः। तदुक्तं पुराविद्भिः—

> ब्रह्मादीनां बुधान्तानां न मनुष्यत्वमिष्यते।
> आतश्च सोमवंशोयमैलप्रकृतिरुच्यते॥
> क्षत्रियोऽस्मीति मामाहुर्मनुष्याः प्रकृतिस्थिताः।
> यदुवंशे समुत्पन्नः क्षात्रं वृत्तमनुष्ठितः॥ ब्र० पु०
> कस्त्वमित्याह सोऽप्याह जातोऽहं शशिनः कुले।
> वसुदेवस्य तनयो यदुवंशसमुद्भवः॥ विष्णु पु० पंचमों ऽशः २३।२३

तस्यैतस्य कृष्णस्यायमैलप्रकृतिको वंशस्तम्भ इत्थमुपक्रम्यते। तथा हि—

सूर्य्यवंशीयराजपरम्परायां सर्वप्रथमस्य सूर्य्यवंशप्रवर्तकस्य तावदिक्ष्वाकोरयोध्याधिष्ठानस्य महाराजाधिराजस्य मानवस्य ज्येष्ठा भगिनीयमिला सूर्य्यवंशे प्रादुर्बभूव। सा राजपुत्रनाम्ना प्रसिद्धिं गमितेन चन्द्रात्मजेन बुधेन विवाहितासीत्। बुधश्चायं चन्द्रवंशप्रवर्त्तको ब्रह्मणश्चतुर्थ आसीत्। तस्मादैलेयः पुरूरवा जज्ञे। ततः पञ्चमो यदुः, तस्य सुतः क्रोष्टा, तच्छाखायां यदोरष्टात्रिंश एको वृष्णिः, तदनु वंशेऽस्मिन् पुरूरवसः सप्तचत्वारिंशत्तमः (४७) यदोस्त्रिचत्वारिंशः सात्वतपुत्रो वृष्णिः। ततो नवमः कश्चिदन्यो वृष्णिः क्रोष्टा इत्यपरपर्य्यायोऽभूत्। ततश्चतुर्थः शूरः, ततो वसुदेवः। ततोऽयं वासुदेवः कृष्णो जज्ञे। इत्थमयं वंशस्तम्भो द्रष्टव्यः।

सौरे— प्राजापत्यवंशे इलास्तम्भः

१ मनुः प्रत्नः प्रजापतिः (१)
२ अंशः प्रजापतिः
३ अन्तर्धामा प्रजापतिः
४ हविर्धामा प्रजापतिः
५ प्राचीनबर्हिः प्रजापतिः
६ प्रचेतसो दश १०
७ दक्षः प्राचेतसः प्रजापतिः
८ दाक्षायणी अदितिः

१ ब्रह्मा
२ मरीचिर्म्मानसः पुत्रः
३ कश्यपो मारीचः

४ (९) विवस्वान् काश्यप आदित्यः
५ श्रद्धादेवो वैवस्वतो मनुः (२)
६ इक्ष्वाकुर्मानवः
एष सूर्य्यवंशे प्रथमो राजा

(६) इला मानवी, इक्ष्वाकोः ज्येष्ठा भगिनी —

चान्द्रे— प्राजापत्यवंशे बधस्तम्भः

१ ब्रह्मा
२ अत्रिः, ब्राह्मणः
३ चन्द्र आत्रेयः
४ बुधश्चान्द्रिः क्षत्रियः

४ बुधः (इलापतिः)
५ पुरूरवा ऐलेयो बुधपुत्रः
एष चन्द्रवंशे प्रथमो राजा

६ आयुः पौरूरवसः
७ नहुष आयुषः
८ ययातिर्नाहुषः
९ यदुः—ययातिपुत्रः

चान्द्रे— यदुवंशे कृष्णस्तम्भः

५ यदुः (पुरूरवसः पञ्चमः)
(वंशे नवमः)
६ क्रोष्टा यादवः

एतदग्रे

३८ वृष्णिः सात्त्वतः अष्टत्रिंशतमः (वंशे सप्तचत्वारिंशः)

४३ वृष्णिः सात्त्वतोऽपरः, पुरूरवसः सप्तचत्वारिंशत्तमः

५५ वृष्णिः क्रोष्टापरः पर्यायः वंशे (पुरूरवसः) पञ्चपञ्चाशत्तमः
५६ वृजिनीवान् षट्पंचाशत्तमः
५७ रुषद्गुः, उषद्गुः, कुशंकुर्वा
५८ शूरः रौषग्दवः
५९ वसुदेवः शौरिः
६० कृष्णो वासुदेवः
६१ प्रद्युम्नः कार्ष्णिः

स्मरन्ति हि वंशविदः

(१) प्राजापत्ये शुभे मार्गे मानवे धर्म्मसंस्कृते ।
समुत्पत्स्यति गोविन्दो मनोर्वंशे महात्मनः ॥१॥
अंशो नाम मनोः पुत्रो ह्यन्तर्धामा ततः परम् ।
अन्तर्धाम्नो हविर्धामा प्रजापतिरनिन्दितः॥२॥
प्राचीनबर्हिर्भविता हविर्धाम्नः सुतो द्विजाः ।
तस्य प्रचेतःप्रमुखा भविष्यन्ति दशात्मजाः ॥३॥
प्राचेतसस्तथा दक्षो भवितेह प्रजापतिः ।
दाक्षायण्यस्तथादित्यो मनुरादित्यतस्ततः ॥४॥
मनोश्च वंशज इला सुद्युम्नश्च भविष्यति ।

(२) बुधात्[१] पुरूरवा[२]श्चापि तस्मादायु[३] र्भविष्यति ॥५॥
नहुषो[४] भविता तस्माद्ययातिस्त[५]स्य चात्मजः ।
यदु[६] स्तस्मान् महासत्त्वः क्रोष्टा[७] तस्माद् भविष्यति ॥६॥

(३) क्रोष्टुश्चैव महान् पुत्रो वृजिनीवान्[५६] भविष्यति।
वृजिनीवतश्च भविता रुषद्[५७]गुरपराजितः ॥७॥
रुषद्गोर्भविता पुत्रः [५८]शूरश्चित्ररथस्तथा।
तस्य त्ववरजः पुत्रः शूरो नाम भविष्यति ॥८॥
तेषां विख्यातवीर्य्याणां चारित्रगुणशालिनाम्।
यज्वनां च विशुद्धानां वंशे ब्राह्मणसत्तमाः ॥९॥
स शूरः क्षत्रियश्रेष्ठो महावीर्य्यो महायशाः।
स्ववंशविस्तारकरं जनयिष्यति मानदम् ॥१०॥
वसुदेवमिति ख्यातं पुत्रमानकदुन्दुभिम्।
तस्य पुत्रश्चतुर्बाहुर्वासुदेवो भविष्यति ॥११॥

(४) स देवः पुण्डरीकाक्षः श्रीगर्भः श्रीसहोषितः।
शार्ङ्गचक्रायुधः खड्गी सर्वनागरिपुध्वजः ॥१२॥
* उत्तमेन [१]सुशीलेन [२]शौचेन च [३]दमेन च।
[४]पराक्रमेण वीर्य्येण [५]वपुषा [६]दर्शनेन च ॥१३॥
[७]आरोहणप्रमाणेन वीर्य्येणार्जव संपदा।[८]
[९]आनृशंस्येन रूपेण[१०] बलेन[११] च समन्वितः ॥१४॥
[१२]अस्त्रैः समुदितः सर्वैर्दिव्यैरद्भुतदर्शनैः।
योगमायासहस्राक्षो विरूपाक्षो महामनाः ॥१५॥
वाचा मित्रजनश्लाघी ज्ञातिबन्धुजनप्रियः।
क्षमावांश्चानहंवादी स देवो ब्रह्मदायकः ॥१६॥
भयहर्त्ता भयार्त्तानां मित्रानन्दविवर्धनः।
शरण्यः सर्वभूतानां दीनानां पालने रतः ॥१७॥
श्रुतवानर्थसंपन्नः सर्वभूतनमस्कृतः।
समाश्रितानामुपकृच्छत्रूणां भयकृत्तथा ॥१८॥
नीतिज्ञो नीतिसंपन्नो ब्रह्मवादी जितेन्द्रियः।
भवार्थमेव देवानां बुध्या परमया युतः ॥१९॥
दाता ब्राह्मणसत्कर्ता ब्रह्मभूतो द्विजप्रियः।
जरासन्धं तु राजानं निर्जित्य गिरिगह्वरे ॥२०॥
राज्ञो बद्धान् स सर्वान् वै मोक्षयिष्यति यादवः।
सर्वपार्थिवरत्नाढ्यो भविष्यति स वीर्य्यवान् ॥२१॥
पृथिव्यामप्रतिहतो वीर्य्येणापि भविष्यति।
विक्रमेण च संपन्नः सर्वपार्थिवपार्थिवः ॥२२॥
शूरः संहननो भूतो द्वारकायां वसन् प्रभुः।
पालयिष्यति गां देवीं विनिर्जित्य दुराशयान् ॥२३॥

---

* सुशीलता[१]। शौचम्[२]। दमः[३]। पराक्रमः[४]। वपुः।[५] दर्शनम्[६]। आरोहण[७] प्रमाणम्।[७] आर्जवसंपत्[८]। आनृशंस्यम्[९]। रूपम्[१०]। बलम्[११]। अस्त्रम्[१२]।

तस्मात् स वाग्मी धर्मज्ञो नमस्यो द्विजपुङ्गवाः ! ।
वन्दितो हि स वन्देत मानितो मानयीत च ॥२४॥
दृष्टः पश्येदहरहः संश्रितः प्रतिसंश्रयेत् ।
अर्चितश्चार्चयेन्नित्यं स देवो द्विजसत्तमाः ! ॥२५॥
महावराहं तं देवं सर्वलोकपितामहम् ।
अहं चैव नमस्यामि नित्यमेव जगत्पतिम् ॥२६॥

इति श्रीकृष्णवंशानुक्रमाख्यानम् ॥३॥

॥ इति त्रिपरिचयसंज्ञानम् ॥

मानुषकृष्णरहस्ये

महापुरुषलक्षणानि पञ्चविधानि

१ जगद्गुरुत्वम्
२ परमेष्ठिसत्यावतारत्वम् (नवसत्यावतारत्वं वा)
३ अच्युतभगवत्त्वम्
४ पुरुषोत्तमत्वम्
५ आधिकारिकपुरुषत्वम्

अथ मानुषरूपमेव सन्तमेतं गोकुलवासिनं वासुदेवं श्रीकृष्णं परमाराध्यत्वेनाध्यवसाय परमया श्रद्धयोपासते लोकाः। श्रीकृष्णसमकालिकैरेव देवलासितकृष्णद्वैपायनभीष्मादिभिर्दीर्घदर्शितमैरार्षेण चक्षुषा परोक्षमर्थं प्रपश्यद्भिर्ब्रह्मर्षिराजर्षिभिस्तस्यालौकिकमहापुरुषत्वेन पुराणाख्यानेषु बहुशः प्रख्यापितत्वात्। इतरसर्वजीवविलक्षणात्मत्वं हि महापुरुषत्वं तस्य पञ्चलक्षणं भवति।

(१) अमृताव्ययपुरुषसाक्षात्कारोपायभूता ये धर्म्मज्ञानवैराग्यैश्वर्य्यलक्षणाश्चत्वारो बुद्धियोगास्तेषां यदपूर्वं विद्याचतुष्टयम्, तदुपदेशकत्वाज्जगद्गुरुत्वं प्रथमम् ।१।

(२) त्रिवृत् स्तोमः—एकविंशस्तोमः, त्रयस्त्रिंशस्तोमः, अष्टाचत्वारिंशस्तोमः, इत्येतैश्चतुर्भिः स्तोमैरवच्छेदात्—मेदिनी, उखा, सागराम्बरा, जगतीति पर्वचतुष्टयविभक्ताया अग्निमय्याः पृथिव्यास्तृतीये पर्वणि गोलोकसंज्ञकव्रजधाम्नि द्वाविंशस्तोमारब्धषट्त्रिंशस्तोमान्ते पञ्चदशाहे सामवेदाम्नाते गोसवनामकस्वाराज्ययज्ञवेदीप्रदेशे निवसतस्तावदीश्वरमूर्त्तेः सत्यस्य परमेष्ठिनः साधर्म्यदर्शनात् तदंशैरवतीर्णत्वोपपत्त्या परमेष्ठिसत्यावतारत्वम्, **नवसत्यावतारत्वम्** वा द्वितीयम् ॥२॥

(३) चतुर्विधिविद्याबुद्धिभिः साक्षात्कृतात्मायमिति निरस्तमायावरणत्वाद**च्युतभगवत्त्वं** तृतीयम् ।३।

(४) पूर्णविद्यानिधानत्वेनापिपासितत्वात् **पुरुषोत्तमत्वं** चतुर्थम् ॥४॥

(५) आधिकारिकेश्वरपुरुषसाधर्म्यादाधिकारिकत्वाच्च ईश्वरत्वसहकृतपुरुषत्व**मवतारित्वं** च पञ्चमं महापुरुषत्वम् ॥५॥

इत्येवं पञ्चधा महापुरुषमेतं पुराणाचार्य्याः पश्यन्ति ।

महापुरुषत्वं पञ्चविधम्

मानुषकृष्णस्य महापुरुषत्वे पञ्चलक्षणे—

१—चतुर्विधं जगद्गुरुत्वमाख्यायते

पुरुषविभागे अव्ययपुरुषोपदेशकत्वनिबन्धनं प्रथमं जगद्गुरुत्वम्

इह हि गीतोपदेशात् पूर्वं प्रायेण विद्वांसो जीवात्मानमीश्वरात्मानं वा सगुणमेवात्मानं पश्यन्तः क्षरमेवात्मानं विश्वसृष्ट्युपादानमाचक्षते स्म। अथ परे सूक्ष्मदर्शिनो जन्म-मृत्यु-जरा-व्याधि-क्षुधा-पिपासा-शोक-मोहवतः पुण्य-पाप-कर्म्मातिशायिनो लोकान्तरसंचारिणो ऽस्माज्जीवात्मनोऽतिरिक्तं तत्रानुस्यूतं कंचिदक्षरमात्मानं पश्यन्ति स्म। सर्वात्मनियन्ताऽयमक्षर आत्मा षड्र्मिरहितः पुष्कर-पलाशवन्निर्लेपः कर्मानभिभूतः सत्यकामः सत्यसंकल्पः प्रतिपद्यते। एतावदेव पूर्वेषामाचार्य्याणां विज्ञानमासीत्। तत्रायं भगवान् श्रीकृष्णः क्षराऽक्षराभ्यामतिरिक्तं ततोप्यतिसूक्ष्मं कंचिदन्यमेवा-व्ययमात्मानं पश्यन्नुपदिदेश—

> द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च
> क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते॥१॥
> उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः
> यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः॥२॥
> यस्मात्क्षरमतीतोहमक्षरादपि चोत्तमः
> अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः॥३॥ इति

कार्य्यकारणातीतस्य सर्वालम्बनस्य विशुद्धस्यैतस्याव्ययस्य एते क्षराक्षरे प्रकृती भवतः। प्रकृतिं स्वामवष्टभ्यायमव्ययो विश्वं जनयति—

> 'प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः।
> भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात्'॥
> 'तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम्'।
> 'उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्म्मसु'।

इति प्रतिज्ञानात्। तथा चैतत्क्षराक्षरप्रकृतिविशिष्टं तमव्ययं पुरुषमाचक्षाणो भगवानयं श्री कृष्णः प्राचीनैरविज्ञातमव्ययं नामापूर्वं ब्रह्मोपदिदेश—

> अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः।
> परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम्॥

इति प्रतिज्ञानात्। तथा चापूर्वार्थोपदेशकत्वाज्जगद्गुरुत्वमेतस्य भगवतः कृष्णस्योपपद्यते—इत्येकम्॥१॥

२—**अथ प्रकृतिविभागे बुद्धियोगोपदेशकत्वनिबन्धनं जगद्गुरुत्वम्**—अपरं चेह लोकानां सर्वव्यवहारहेतुर्विज्ञानं बुद्धिः। सा द्विधा—व्यवसायबुद्धिः, अव्यवसायबुद्धिश्च। तयोश्चापरिवर्त्तनीयविषया बुद्धिर्व्यवसायः। गृहीतपरित्यक्तविषया त्वव्यवसायः।

तात्त्विकविज्ञानं यथार्थग्राहित्वादव्यभिचारि भवतीति विशिष्यैकस्मिन्नेवार्थे सर्वदाऽवसितम्, न तु कस्मिंश्चित् काले क्वचिदेकत्रार्थे ऽवसितं भूत्वा कालान्तरे तं परित्यज्य ततोऽन्यस्मिन् विषये ऽवस्यति, तस्मात् विशेषेणैकत्रैवार्थेऽवसायित्वाद् व्यवसायात्मिका बुद्धिरुच्यते। मूर्खास्तु भ्रान्ता याथार्थ्येन पदार्थापरिज्ञानादस्थिरबुद्धयो भवन्तीत्येकमप्यर्थमन्यथान्यथा ते गृह्णन्ति, चक्षुषा दृष्टे यथैकस्मिन् रूपे तेषां बुद्धिः पुरुषत्वेनावसाय, कालान्तरे स्थाणुत्वेनावस्यति, तस्मात्तेषामव्यवसायात्मिका बुद्धयोऽन्यान्यरूपैः परिवर्तन्ते। आह च भगवान्—

> व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन !
> बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ॥

ताश्चैता अव्यवसायात्मिका भ्रान्तबुद्धयो लोकेषु भूयसानर्थायोपपद्यन्ते। हन्त ! विद्वांसोऽपि भूयांसो मतभेदेनान्यथाऽन्यथा व्यवहारान् समर्थयमानाः सर्वानेव लोकव्यवहारान् विश्लथयन्ति। तथा हि—सत्यज्ञानस्यैकरूपत्वादपरिवर्तनीयत्वेऽपि पश्यामो लोके नानामतभेदानव्यवसायबुद्धिदोषादज्ञानविजृम्भितान्। ते यथा—

१—व्यवसायबुद्ध्या व्यवहारान् पश्यन्तस्तावदेके धर्म्माचार्य्याः सत्यमेवार्थं पश्यन्ति। ज्ञानाज्ञानान्यथाज्ञानेषु [१ २ ३], सत्कर्माकर्मविकर्मसु [१ २ ३] च ज्ञानकर्म्मणी एवोपादेये नत्वितराणि। अज्ञानान्यथाज्ञानयोर्विकर्म्माकर्म्मणोश्च शोकजनकत्वादित्येवं व्यवस्थापयन्ति ॥१॥

२—अथ परे पुनराहुः—देश-काल-पात्र-द्रव्योपाय-श्रद्धानां [१ २ ३ ४ ५ ६] धर्म्मानुबन्धानां षण्णां परिस्थितिवैशेष्यात् त्रयाणां कर्म्माकर्म्मविकर्म्मणां विनिमयः क्वचिदुपपद्यते। तस्मात्—

> कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः।
> अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः ॥

तथा चैतानि त्रीण्यपि भूयो भूयः परिज्ञाय प्रतिपद्य ग्राह्याणि वा, त्याज्यानि वा।

३—अथान्ये पुनरव्यवसायबुद्धिभिर्व्यवहारान् पश्यन्तो बुद्धिदोषान्नाना मतभेदान् प्रचारयन्ति। केचित्तावत् शुभाशुभसर्वविधकर्मणां प्रचारं निन्दन्तः सदा कर्मसंन्यासमेवातिष्ठन्ते। तदुपष्टम्भकतया श्रुतिवाक्यं चोपन्यस्यन्ति—

> न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैकेऽमृतत्वमानशुः
> परेण नाकं निहितं गुहायां विभ्राजते यद् यतयो विशन्ति। इति।

४—केचन पुनः कर्मयोगं परित्यजन्तो ऽप्युपासनायोगमातिष्ठमानाः शाक्तशैववैष्णवाद्युपासनाभेदात् कर्मभेदानभ्युपगच्छन्तः परस्परं विप्रवदन्तो विद्विषन्तः कलुषितहृदया भूयसा दृश्यन्ते ॥४॥

५—अथान्ये पुनराहुः—द्विविधं हि कर्मेष्यते—वाग्बुद्धिशरीरारम्भलक्षणमन्यत्। तज्जनितवासनासंस्कारलक्षणं चान्यत्। अथ संस्कारकर्मजनितं पुनरारम्भकर्म। आरम्भकर्मजनितं पुनः संस्कारकर्म—इत्येवमियं बीजाङ्कुरपरम्परावत् कर्माश्वत्थपरम्परा भवति। तथा चेमे लोकाः कर्मसु वर्तमाना नात्यन्ताय शान्तिसुखमासादयन्ति। प्रतिक्षणक्षोभलक्षणैतत्कर्मजनितवासनायाः

कर्मोदयौपयिकतया पारम्परिकप्रवाहरूपाणां कर्मणामप्रतिष्ठानादात्मनि शान्तेरनवसरदुःस्थत्वात् ।। उक्तं च भगवता—

कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम् ।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति ।।
भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम् ।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ।। इति ।।
नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य नचायुक्तस्य भावना ।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम् ।। इति च ।

तस्मात् सुखमिच्छद्भिरेकान्ततः कर्माणीमानि परित्याज्यानि, कर्मणामात्यन्तिकसंन्यासाद्वि-शुद्धोऽयमात्मा सच्चिदानन्दः पर्य्यवशिष्यते । कर्म्मसंन्यासेन विशुद्धज्ञानोदयादविद्याजनितसर्वदोषात्यन्त-निवृत्तावानन्दमयस्यात्मनः स्वारसिकसुखस्याऽप्रतिवन्धं प्रवर्तमानत्वात् । उक्तं च भगवता गौतमेन—

"दुःख, जन्म, प्रवृत्ति, दोष, मिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः" इति ।।

तथा चायमात्यन्तिककर्मसंन्यासरूपो ज्ञानमयात्मावशेषपर्य्यवसानो ज्ञानयोगो नामाख्यायते सांख्यैः ।।५।।

तत्रैतत्सांख्यमतप्रतिवादेन गीतासिद्धान्तः प्रदर्श्यते ।। मीमांसामात्रं हीदमेषां सांख्यानां भवति, यदिदमेतैः कर्म्मसंन्यासविधानमुपदिश्यते । त्रिविधा हि पूर्वाचार्य्यैर्योगा इष्यन्ते —

१—सर्वविधकर्म्मैकान्तसंन्यासलक्षणो—ज्ञानयोगः ।
२—विद्यानिरपेक्षकर्म्मारम्भयोगलक्षणः—कर्म्मयोगः ।
३—ज्ञानकर्म्मसमुच्चयरूपो विद्याभक्तिभूतकर्म्मारम्भलक्षणो—भक्तियोगः । इति

तेष्वेतेषु त्रिष्वप्यंशतः प्रतिशोधोऽपेक्ष्यते । तथा हि—ज्ञानयोगनिष्ठायां कर्म्मसंन्यासपक्षस्तावत् पञ्चभिरधिकरणैर्नावकल्पते । तद्यथा—

१—कर्मसंन्यासजनितः फलोदयो नास्तीति कर्मसंन्यासवैयर्थ्यम् ।
२—कर्मणां स्वतो बन्धकत्वमावरकत्वं वा नास्तीति निर्द्दोषत्वाद् वैयर्थ्यम् ।
३—कर्मविद्ययोः सयुजोरात्मस्वरूपधर्मतया कर्मणामनिवार्यत्वमस्तीति—संन्यासाशक्यत्वात् कर्मसंन्यासवैयर्थ्यम् ।
४—कर्मजनितबन्धनानां गुणहेतुकत्वोपपत्त्या कर्मणैव निवृत्तिसंभवात् कर्मणो नैष्कर्म्योपाधत्वात् कर्मसंन्यासवैयर्थ्यम् ।
५—कर्मणां निःश्रेयसौपयिकसर्वाभ्युदयजनकत्वात् कर्मसंन्यासवैयर्थ्यम् ।

तत्र तावत् कर्मसंन्यासजनितं फलं नास्तीति व्याख्यास्यामः ।

ज्ञाननिष्ठापरायणानां कर्मसंन्यसिनां तावदित्थं सिद्धान्तो भवति—

ज्ञानमयः पुरुषः, कर्म्ममयी प्रकृतिः । अक्रियः पुरुषः । अज्ञा प्रकृतिः । प्रकृतिपुरुषयोरनादिसम्बन्ध-वैचित्र्यादभेदेन वृत्तिरित्येष पुरुषः प्रकृतिधर्मानात्मसात् कुर्वन्नज्ञः क्रियावान् भवति । प्रकृति-पुरुषयोर्विवेके पुनरयमात्मा पुरुषः प्रकृतिधर्मैः कर्म्मबन्धनैर्मुच्यते । ज्ञानं कर्म्म चात्मनो भोगसाधने भवतः । तत्र कर्म्मेदं वीर्य्यलक्षणमज्ञानं ज्ञानावरणं भवति । तेनायमात्मा सज्ज्यते, बध्यते, लिप्यते ।

अथ ज्ञानोत्कर्षे तु कर्म्माणि मुच्यन्ते, नैष्कर्म्यं सिध्यति, कर्म्मकृतं चावरणं नश्यति । ततश्चायं ज्ञानमय आत्मा स्वयमाविर्भूय प्रकाशते । तथा च ब्रह्म विदित्वा ब्रह्मैव भवति । उक्तं च—

अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः।
ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः ॥
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम्। इति।
शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि। इति।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति।
सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे ॥ इति च।

इत्येवमेते संन्यासिनः संन्यासेन नैष्कर्म्यसिद्धिं पश्यन्ति। तत्रेदं ब्रूमः—संन्यासस्त्यागः। कस्य तु परित्यागः श्रेयानिति विचारसापेक्षम्। तत्र न त्वेव सर्वविधानां कर्मणां संन्यासादयं संन्यासयोग उपपद्यते। एकान्ततः कर्मसंन्यासस्यात्यन्तविगर्हितत्वात्। उभयोरपि हि तौल्यं हिताय भवति—योऽयं कर्म्मयोगो यश्चायं संन्यासयोगः। किं त्वेष संन्यासयोगः कर्म्मयोगसहकारेणैव श्रेयसे भवति, न तु कर्म्मव्यतिरेकेण। तस्मात् कर्म्मयोगः श्रेयान्। कर्म्मयोगापेक्षयापि च बुद्धियोगः श्रेयान्—इति कर्म्मसिद्धान्तः। तदुक्तम्—

संन्यासः कर्म्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ।
तयोस्तु कर्म्मसंन्यासात्कर्म्मयोगो विशिष्यते ॥
संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म न चिरेणाधिगच्छति ॥

ननु कर्म्मणां संन्यास एव स्वयं संन्यासयोग उच्यते, स कर्म्मयोगसहकारेण कथमुपपद्यते इति चेन्न। कर्म्मफलासङ्गसंन्यासः संन्यासयोगो नाम द्रष्टव्यो ननु कर्म्मणामेव संन्यासः क्वचिदपि हिताय संपद्यते। कर्म्मसंन्यासेनोत्तरतः कर्म्मजन्यसंस्कारानुदयेऽपि पूर्वकृतकर्म्मजनितानां शुभाशुभ-संस्काराणामात्मन्यासज्जमानानां स्वयं विनाशस्याशक्यतया जातसंस्काराणां पुण्यपापानां बाधायोगादा-वरणविनाशासंभवात्। तस्मादेष कर्म्मसंन्यासो नितान्तं व्यर्थः।

(कर्म्मणां नैष्कर्म्योपायत्वम्)

कर्म्म तु द्विविधं भवति—

"प्रवृत्तं च निवृत्तं च द्विविधं कर्म्म वैदिकम् ॥"

इति भगवान् मनुराह। तत्र प्रवृत्तेन कर्म्मणा वासनासंस्कारा उत्पाद्यन्ते इति तान्यात्मनो बन्धनानि भवन्ति। अथ निवृत्तकर्म्मणा बन्धनभूताः पूर्वकर्म्मजनिता वासनासंस्कारा उच्छिद्यन्ते। तस्मात्कर्म्मपरायणेषु विदेहजनकादिषु कर्म्मणैव नैष्कर्म्यसिद्धेः प्रत्यक्षं दृष्टत्वात् कर्म्मैव नैष्कर्म्यं संपादयतीति नैष्कर्म्योपायत्वात् कर्म्मसंन्यासो नावकल्पते इत्याह—

"न कर्म्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ॥"
"कर्म्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः ॥" इति।

ननु निवृत्तकर्म्मकरणे भवतु पूर्वकर्म्मजनितसंस्काराणामुच्छेदः, किन्तु निवृत्तकर्म्मणोऽपि कर्म्मतया तत्कर्मजनितः संस्कार उत्पद्य बन्धनाय भविष्यतीति चेन्न। कर्मफलासङ्गसंन्यासेन कृतानामपि कर्म्मणां निवृत्तिकर्म्मतया तत्कर्मणो बन्धकत्वं नास्तीति पूर्वसंस्काराणामुच्छेदनपूर्वकं कतकरजोवत् स्वयं च तन्निवर्तते—इति कृत्वा तस्य बन्धकत्वं नोपपद्यते। तदाह —

'त्यक्त्वा कर्म्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः ।
कर्म्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किंचित्करोति सः' ॥
'यदृच्छालाभसन्तुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः ।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते' ।
'कर्म्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्म्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्म्मणि' ॥
'योगस्थः कुरु कर्म्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय !
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते' ॥
'ब्रह्मण्याधाय कर्म्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः ।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा' ॥
'विहाय कामान् यः सर्वान् पुमांश्चरति निस्पृहः ।
निर्म्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति' ॥

ननु कर्म्मणः सतो नावरकत्वं न बन्धकत्वमिति नोपपद्यते, अज्ञानत्वाद्वीर्य्यवत्त्वाच्चैतेन कर्म्मणावश्यं ज्ञानावरणस्य संभाव्यमानत्वात् । तथा चेहात्मनि सत्यपि कर्म्मणि नैष्कर्म्यं सिद्ध्यतीत्याख्यानं मिथ्या व्यामोहनमात्रं भवति—इति चेत्, तत्रेदं ब्रूमः—तस्यैतस्यात्मनो द्विविधं हीदं कर्म्मोपपद्यते—पुरुषधर्मश्च, प्रकृतिधर्मश्चेति । तत्र आनन्दविज्ञानघनं मनस्तावदव्ययपुरुषे विद्याभागः । अथ मनोमयप्राणगर्भिता वागव्ययपुरुषे कर्म्मभागः—तदात्मकानि नामरूपकर्म्माणि । वागात्मकं नाम । मनोमयं रूपम् । प्राणात्मकं कर्म । तान्येतान्यात्मनः स्वरूपधर्म्माणि न त्वेवात्मनि विहीयन्ते । ततश्च कर्म्मणः स्वातन्त्र्येण बन्धकत्वमावरकत्वं वास्तीति न भ्रमितव्यम्, पुरुषस्यात्मत्वात् । पुरुषधर्म्मयोश्च विद्याकर्म्मणोरनामयत्वेनात्मावरकत्वासंभवात् । अपि च न स्वरूपधर्म्माणां स्वस्यावरकत्वं संभवति । तस्मात् प्रकृतिधर्म्माणामेवात्मानाश्रितधर्म्मत्वादात्मावरकत्वं बन्धकत्वं वा युज्यते वक्तुम् । अत एव च रजस्तमोगुणयोगेनैव सत्त्वरजस्तमांसि प्रकृतिः । तत्र सत्त्वनिबन्धना विद्या । रजोनिबन्धनं कर्म्म । तमोनिबन्धनमावरणमिति कर्म्मणामावरकत्वं बन्धकत्वं चाचार्य्यैरुपदिश्यते । तथा हि भगवानाह—

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः ।
निबध्नन्ति महाबाहो ! देहे देहिनमव्ययम् ॥१॥
तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात् प्रकाशकमनामयम् ।
सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ ! ॥२॥
रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम् ।
तन्निबध्नाति कौन्तेय ! कर्म्मसङ्गेन देहिनम् ॥३॥
तमस्त्वज्ञानजं कर्म्म मोहनं सर्वदेहिनाम् ।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत! ॥४॥
सत्त्वं सुखे सञ्जयति रजः कर्मणि भारत ! ।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे सञ्जयत्युत ॥५॥
रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत !
रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा ।
सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन्प्रकाश उपजायते ।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत ॥६॥

इति । इत्थं च त्रैगुण्यसहयोगापेक्षमिवैतस्य कर्म्मणः पुरुषावरकत्वं वाच्यम् ।

अपि चेदमपरं द्रष्टव्यम्। प्रकृतिकर्म्मणोऽपि नत्वेवैकान्ततो बन्धकत्वमावरकत्वं वा भवत्येवेति नियमः शक्यो वक्तुम्। प्रतिबन्धकसद्भावे बन्धकत्वावरकत्वयोरनुत्पत्तेः। तथा हि—

द्विविधं हीदं कर्म्म क्रियते—विद्यानिरपेक्षम्, विद्यासमुच्चितं चेति। विद्या बुद्धिगुणः। तत्र विद्यानिरपेक्षस्यैव कर्म्मणो रजोमयत्वाद्बन्धकत्वं तमोमयत्वाच्चावरकत्वं संभवति, न तु विद्यासहकृतस्य, विद्यायाः सत्त्वगुणात्मकत्वात्, सत्त्वस्य च प्रकाशकत्वसिद्धान्तात्। विद्यायोगो बुद्धियोगः। स केवलेन योगशब्देनापि व्यपदिश्यते। बुद्धियोगे बुद्धिमयस्य कर्म्मणः प्रकाशशालितया बुद्धित्वेन व्यपदेष्टुं शक्यत्वाद् बुद्धिसाम्यं भवति, समत्वे चायं योगशब्द इष्यते। तथा चेह नानाविधा योगा उपपद्यन्ते। कर्म्मसंन्यासयोगाभिन्नो ज्ञानयोगः सांख्यानाम्। विद्यासमुच्चितकर्म्मारम्भयोगाभिन्नो ज्ञानयोगो योगिनाम्। अपि वा कर्मफलकामासक्तिसंन्यासपूर्वकः कर्म्मारम्भयोगः कर्म्मयोगोऽपि योगिनाम्। फलकामासक्तिसंन्यासः सांख्यम्। कर्म्मारम्भो योगः। तथा चेदमेकत्रोभयधर्म्मसम्बन्धात् —

'यत् सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद् योगैरपि गम्यते।
एकं साख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति'॥
'सांख्ययोगौ पृथग् बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम्'॥
'संन्यासस्तु महावाहो! दुःखमाप्तुमयोगतः'।
'सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते'॥
'अनाश्रित : कर्म्मफलं काम्यं कर्म्म करोति यः।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः'॥
'यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव!।
न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन'॥
'आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म्म कारणमुच्यते।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते'॥ इत्याद्युक्तम्।

एवं च सिद्धमनयोः कर्म्मयोगज्ञानयोगयोरत्यन्तं सन्निकर्षेण भवितव्यमिति। तथा च फलकामनासक्त्या कर्म्मारम्भः कर्म्मयोगः। क्रियमाणानां कर्म्मणां फलकामनासंन्यासो ज्ञानयोगः। इत्थं यत्र कर्म्मयोगज्ञानयोगयोरैक्यमुपपद्यते स बुद्धियोगः। तस्यैतस्य बुद्धियोगस्यैते द्वे अङ्गे भवतः—ज्ञानयोगः, कर्म्मयोगश्चेति सिद्धान्तः।

अथ यथैते प्राञ्चः कर्म्मसंन्यासपूर्वकं ज्ञानयोगमाचक्षते। तत्रेदं प्रतिब्रूमः—

मीमांसामात्रं हीदमिह सांख्यैराख्यायते—यदिह कर्मसंन्यासविधानमुपदिश्यते। वस्तुतस्तु भगवान् वेदपुरुषः कर्म्मसंन्यासमत्यन्ताय प्रतिषेधति—

कुर्वन्नेवेह कर्म्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥

न च कर्म्मणो बन्धकत्वात् कर्म्मपराणाममृतत्वं नोपपद्येतेति भ्रमितव्यम्। आत्मविद्यासहकारेण कर्म्म कुर्वतः कर्म्मजनितो बन्धो नास्ति—इति सर्वविधकर्मकरणेऽपि अमृतत्वप्राप्तेरव्याहतत्वात्। तथा हि—

"एष नित्यो महिमा ब्रह्मणोऽस्य न कर्मणा वर्द्धते नो कनीयान्।
तस्यैव स्यात्पदवित्तं विदित्वा न कर्मणा लिप्यते पापकेन"॥ इति॥

भगवानप्याह गीतायाम्—

"यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते'

"त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः ।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित्करोति सः ।" इति ।

(कर्मपरित्यागाशक्यत्वम्)

अपि च नात्यन्तायेदमात्मना कर्म शक्यं परिहातुम् । विद्याकामकर्म्मैतत्त्रितयारब्धस्य षोड़शिनोऽत्यन्तर्निगूढस्याव्ययात्मनः कर्म्मव्यतिरेकेण स्वरूपालाभात् । तथा हि—पञ्चकलोऽयमव्ययस्तावदानन्दविज्ञानमनोऽवच्छेदेन विद्यामयः । अथ विज्ञानमनःप्राणावच्छेदेन काममयः । अथ मनःप्राणवागवच्छेदेनायमात्मा कर्म्ममयः संभवति । अत एवायमात्मा प्रतिक्षणं निरवछिन्नमनवरतं किञ्चिज्जानाति च, किञ्चिदिच्छति च, किञ्चित्करोति च ॥

"न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ॥"

तस्मात् कर्ममयोऽयमात्मा न त्वेव कदाचित् कर्म्मणा विहीयते । आमनन्ति हि भगवन्तो वेदमहर्षयः श्वोवसीयसं नामाव्ययमात्मानम् । आमनन्ति च तस्मादेवाव्ययमनसश्चितिसृष्टिप्रभावाद् मनःप्राणवाङ्मयस्यैतस्यात्मनः कर्म्ममयत्वम् ।

तथा हि—

(१) " आसीदिव वा इदमग्रे नेवासीत् । तद्ध तन्मन एवास ।१। . . .
नेव हि सन् मनो नेवासत् ।२। तदिदं मनः सृष्टमाविरबुभूषत् । . . .

तदात्मानमन्वैच्छत् . . . ॥३॥ तन्मनो वाचमसृजत . . . ॥४॥ सा वाक् प्राणमसृजत . . . ॥५॥ स प्राणश्चक्षुरसृजत . . . ॥६॥ तच्चक्षुः श्रोत्रमसृजत . . . ॥७॥ तच्छ्रोत्रं कर्म्मासृजत । . . . अकृत्स्नं वै कर्म्म ऋते प्राणेभ्यः । अकृत्स्ना उ वै प्राणा ऋते कर्म्मणः ॥८॥ तदिदं कर्म्म सृष्टमाविरबुभूषत् । . . . तदात्मानमन्वैच्छत् ॥९॥ तत्कर्म्माग्निमसृजत . . . ॥१०॥ ते हैते विद्याचित एव । . . . विद्यया हैवैत एवंविदश्चिता भवन्ति" ॥१२ इति शतपथे १०।५।३।

(२) अपि च पुनः—

"आत्मैवेदमग्र आसीत् पुरुषविधः । सोऽनुवीक्ष्य नान्यदात्मनोऽपश्यत् । सोऽहमस्मीत्यग्रे व्याहरत् . . . ।१। सोऽवेत्—अहं वाव सृष्टिरस्मि । अहं हीदं सर्वमसृक्षीति . . . १०॥ . . . स मुखाच्च योनेर्हस्ताभ्यां चाग्निमसृजत . . . ११। . . . एष उ ह्येव सर्वे देवाः ।१२। अथ यत् किञ्चेदमार्द्रं तद्रेतसोऽसृजत । तदु सोमः । एतावद्वा इदं सर्वम्—अन्नं चैवान्नादश्च । सोम एवान्नमग्निरन्नादः । १३। स एष इह प्रविष्टः, आनखाग्रेभ्यः । . . . तं न पश्यन्ति—अकृत्स्नो हि सः ।१६। प्राणन्नेव प्राणो . . . । वदन् वाक् । पश्यंश्चक्षुः । शृण्वन् श्रोत्रम् । मन्वानो मनः । तान्यस्यैतानि कर्मनामान्येव । स योऽत एकैकमुपास्ते—न स वेद । अकृत्स्नो ह्येषोऽत एकैकेन भवति ।१७। आत्मेत्येवोपासीत । अत्र ह्येते सर्व एकं भवन्ति । तदेतत्पदनीयमस्य सर्वस्य, यदयमात्मा । अनेन ह्येतत् सर्वं वेद . . . ।१८ तदेतत् प्रेयः पुत्रात्, प्रेयो वित्तात् प्रेयोऽन्यस्मात्सर्वस्मादन्तरतरं यदयमात्मा . . . । इति ॥ शतपथे १४।४।२।

(३) अपि च पुनः श्रूयते —

"आत्मैवेदमग्र आसीदेक एव । सोऽकामयत—जाया मे स्यात् । अथ प्रजायेय । अथ वित्तं मे स्यात् । अथ कर्म कुर्वीयेति । एतावान् वै कामो नेच्छंश्च नातो भूयो विन्देत् . . . ।३०। मन एवास्यात्मा । वाग् जाया । प्राणः प्रजा । चक्षुर्मानुषं वित्तम् । . . . श्रोत्रं दैवम् . . . आत्मैवास्य कर्म ॥ आत्मना हि कर्म करोति . . . ।३१। शत०।१४।४।२ ॥इति॥

(४) अपि च श्रूयते —"त्रयं वा इदं नाम रूपं कर्म । तेषां नाम्नां वागित्येतदेषामुक्थम् . . .

एतदेषां साम।...एतदेषां ब्रह्म...१। अथ रूपाणां चक्षुरित्येतदेषामुक्थम्...एतदेषां साम...एतदेषां ब्रह्म...।२। अथ कर्मणामात्मेत्येतदेषामुक्थम्,...एतदेषां साम...एतदेषां ब्रह्म... तदेतत्त्रयं सदेकमयमात्मा, आत्मो एकः सन्नेतत् त्रयम्। तदेतदमृतम्—सत्येन च्छन्नम्। प्राणो वा अमृतम्। नामरूपे सत्यम्। ताभ्यामयं प्राणश्छन्नः।३। शत० १४।४।४ इति।

(५) अथो खल्वाहु—"काममय एवायं पुरुष इति। स यथाकामो भवति-तथाक्रतुर्भवति। यथाक्रतुर्भवति तत्कर्म कुरुते। यत्कर्म कुरुते तदभिसंपद्यते। इति ।७।। शत० १४।७।२।

इत्थं चात्मनो विद्याकामकर्मैतत्त्रितयारब्धस्वरूपत्वे सिद्धे कर्म्मोच्छेदासंभवात् सर्वथा नैष्कर्म्यं नावकल्पते। तथा च—

"कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः" इति—

केषांचिदाख्यानं भ्रान्तिमात्रम्। अत एव च कर्म्मसंन्यासलक्षणज्ञानयोगाख्यानं प्राचां सांख्यादीनां नावकल्पते—इति बोध्यम्।

अत एवोक्तं भगवता

'यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्'।
'कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम्'।
'नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्म्मस्य त्रायते महतो भयात्'॥
'न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्म्मणि'॥ इति

इदं तु बोध्यम्। यद्यप्येवं कर्म्मसंन्यासनिन्दापूर्वकं कर्मयोगस्यावश्यकत्वमाख्यातम्, तथाप्यस्मिन् कर्म्मयोगे संभवतां शुभाशुभकर्म्मजन्यानां बन्धनदोषाणां परिहारायास्मिन् कर्म्मयोगे बुद्धियोगोऽपि नितान्तमावश्यक इति प्रदर्शितम्। तथा हि —

'शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्म्मबन्धनैः'।
'संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि'॥
'दूरेण ह्यवरं कर्म्म बुद्धियोगाद्धनंजय!।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः'॥
'कर्म्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम्'॥
'ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते'॥
'इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्'।
'स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः'॥ इति

इत्थमेष भगवान् वासुदेवोऽपूर्वं बुद्धियोगमुपदिश्य लोके प्रचारयामास। तदित्थमस्य प्रथमं महापुरुषलक्षणं चतुर्धा जगद्गुरुत्वं द्रष्टव्यम्। अव्ययपुरुषोपदेशकत्वनिबन्धनं प्रथमम्। बुद्धियोगोपदेशनिबन्धनं द्वितीयम्। ज्ञानयोग-कर्मयोग-भक्तियोगानामभेदोपदेशकत्वनिबन्धनं तृतीयम्। ज्ञानकर्ममयस्यात्मनो भक्तिरूपस्य कर्मणः परित्यागानौचित्ये तज्जन्यबन्धनरूपदोषपरिहाराय निष्कामकर्मोपदेशकत्वनिबन्धनं चतुर्थमिति।

इति जगद्गुरुकृष्णरहस्यम् ॥१॥

मानुषकृष्णे

परमेष्ठिसत्यावतारत्वम्

(नवसत्यावतारत्वं वा)

परः, संस्था, मायेति संस्थात्रयम्

यदिदं शास्त्रमुपसृष्टे चानुपसृष्टे चात्मन्यविशेषात् सत्यशब्दं प्रयुङ्क्ते, तेनैतत् सत्यं त्रैविध्येन प्रतीयते—परसत्यम्, संस्थासत्यम्, मायासत्यञ्चेति। तत्र नामरूपाभ्यामिदमेकैकं वस्तु मीयते, तस्मादिमे नामरूपे मायासत्यम्। अथ विश्वोपसृष्टं वा, शरीरोपसृष्टं वा, संबन्धोपसृष्टं वा—सर्वाणीमानि सत्यप्रजापतिरूपाणि संस्थासत्यानि। तेषु कार्य्यविशिष्टानां कार्य्योपहितानां वा कारणानां सत्यत्वमास्थीयते। यत्तु सर्वेषामेषां विश्वगतानां कारणानां मूलमेकं कारणम्, तदिदं सत्यस्य सत्यं भाव्यम्। तदेतत् सत्यमन्वेव तु सर्वाणीमान्युत्तराणि कारणानि सत्यानुगमादेव स्वस्वकार्यं प्रति सत्यान्युपचर्य्यन्ते। तदित्थं द्विविधं सत्यं निष्कृष्यते—मौलिकं चौपपादिकं चेति। तयोश्च प्रकृते तावत् सर्वाकाशपरिव्यापीदमलौकिकं मौलिकमेव किञ्चित् कारणं ब्रह्मसत्यमिति ब्रूमः। या तावदियं कार्य्यकारणपरम्परा सर्वत्राविशेषेणोपपद्यते, तत्र यदेषामशेषाणां कारणानां परमं कारणम्, यच्चेदमशेषाणां सत्यानां परमं सत्यम्, स एव कृष्णोऽयमहंशब्दो द्रष्टव्यः। स आत्मा। आत्मनि चायमहंशब्दः प्रयुज्यते। स एष खल्वशेषविश्वजनकः परमात्मा सत्यपदार्थः।

कार्य्यकारणभावानां पारम्परिकतया नानात्वात् सत्यविश्वयोरपि नानात्वमपेक्षाकृतमुपपद्यते। तानीमानि विश्वोपसृष्टानि संस्थासत्यानि। तेषु तेषु तत्तद्विश्वं स्वस्वात्मसत्याधारं भवति। उत्तरोत्तरं च सत्यं पूर्वपूर्वसत्याधारं भवति। यत्तु सर्वेषामुत्तरेषां संस्थासत्यानामन्तरतमं सर्वाद्यं सत्यं तदेकं सर्वाधारभूतं मूलसत्यम्। तदक्षरं परमं ब्रह्म, स एष प्रथमो भावः। सर्वमिदं भूतजातं विधृतं तत्र प्रतितिष्ठतीति विद्यात्।

ननु यदाधारेणेदं सर्वं क्षरं भूतजातं विधृतमाख्यायते, स सर्वाधारोऽयमक्षरः कस्मिन्नाधारे प्रतितिष्ठति ? इति चेदुच्यते। सर्वाधारोऽयमक्षरो नान्याधारो भवति। किन्तु निराधार एवायमव्ययालम्बनप्रतिष्ठास्वाभाव्यादविचाली सत्यः स्वत एवेदं सर्वमात्मनि विधारयति। सर्वं सत्ये प्रतिष्ठितम्, सत्यं स्वस्मिन् प्रतिष्ठितम्। तथा च श्रूयते मुण्डकश्रुतौ —

> "यदर्चिमद् यदणुभ्योऽणु यस्मिन् लोका निहिता लोकिनश्च। तदेतदक्षरं ब्रह्म,
> स प्राणस्तदु वाङ्मनः। तदेतत्सत्यं तदमृतं तद्वेद्धव्यं सोम्य ! विद्धि।"
> "यस्मिन् द्यौः, पृथिवी चान्तरिक्षमोतं मनः सह प्राणैश्च सर्वैः।
> तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुञ्चथ अमृतस्यैष सेतुः।"
> "मनोमयः प्राणशरीरनेता प्रतिष्ठितोऽन्ने हृदयं संनिधाय।
> तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीरा आनन्दरूपममृतं यद्विभाति॥"

"ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद् ब्रह्म पश्चाद् ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण।
अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं यद्वरिष्ठम्॥"
"यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्।
तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति॥"
"प्राणो ह्येष यः सर्वभूतैर्विभाति विजानन् विद्वान् भवते नातिवादी।
आत्मक्रीड आत्मरतिः क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः॥"
"सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यग् ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्।
अन्तःशरीरे ज्योतिर्म्मयो हि शुभ्रो यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः॥"
"सत्यमेव जयते नानृतं सत्येन पन्था विततो देवयानः।
येनाक्रमन्ति ऋषयो ह्याप्तकामा यत्र तत् सत्यस्य परमं निधानम्"। इत्यादि

अपि चैवं श्रूयते छान्दोग्यश्रुतौ—

"एष तु वा अतिवदति, यः सत्येनातिवदति।....सत्यं त्वेव विजिज्ञासितव्यमिति। सत्यं भगवो विजिज्ञासे इति।

यदा वै विजानाति, अथ सत्यं वदति, नाविजानन् सत्यं वदति।....विज्ञानं त्वेव विजिज्ञासितव्यमिति।....

यदा वै मनुते, अथ विजानाति, नामत्वा विजानाति, मतिस्त्वेव विजिज्ञासितव्येति।..... यदा वै श्रद्दधाति, अथ मनुते। नाश्रद्दधन् मनुते। श्रद्धा त्वेव विजिज्ञासितव्येति। यदा वै निस्तिष्ठति, अथ श्रद्दधाति, नानिस्तिष्ठन् श्रद्दधाति। निष्ठा त्वेव विजिज्ञासितव्येति। यदा वै करोति, अथ निस्तिष्ठति, नाकृत्वा निस्तिष्ठति। कृतिस्त्वेव विजिज्ञासितव्येति। यदा वै सुखं लभते, अथ करोति, नासुखं लब्ध्वा करोति, सुखं त्वेव विजिज्ञासितव्यमिति। यो वै भूमा तत्सुखम्, नाल्पे सुखमस्ति। भूमैव सुखम्, भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्य इति। भूमानं भगवो विजिज्ञासे इति। यत्र नान्यत् पश्यति, नान्यच्छृणोति, नान्यद्विजानाति स भूमा। अथ यत्रान्यत्पश्यति, अन्यच्छृणोति, अन्यद्विजानाति, तदल्पम्। यो वै भूमा तदमृतम्। अथ यदल्पं तन्मर्त्यम्। स भगवः कस्मिन् प्रतिष्ठित इति। स्वे महिम्नि, यदि वा न महिम्नि इति। गो अश्वमिह महिमेत्याचक्षते। हस्तिहिरण्यं दासभार्य्यं क्षेत्राण्यायतनानीति। नाहमेवं ब्रवीमि, ब्रवीमीति ह होवाच, अन्यो ह्यन्यस्मिन् प्रतितिष्ठतीति।" (छा० ७।२४)

"स एवाधस्तात्, स उपरिष्टात्, स पश्चात्, स पुरस्तात्, स दक्षिणतः, स उत्तरतः। स एवेदं सर्वमिति।....

अहमेवाधस्तादहमुपरिष्टात्, अह पश्चाद्, अहं पुरस्तात्, अहं दक्षिणतः, अहमुत्तरतः, अहमेवेदं सर्वमिति।....

आत्मैवाधस्तात्, आत्मोपरिष्टात्, आत्मा पश्चात्, आत्मा पुरस्तात्, आत्मा दक्षिणतः, आत्मोत्तरतः, आत्मैवेदं सर्वमिति।

स वा एष एवं पश्यन्, एवं मन्वानः, एवं विजानन्, आत्मरतिः, आत्मक्रीड़ः, आत्ममिथुनः, आत्मानन्दः, स स्वराड् भवति। तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति। अथ येऽन्यथातो विदुः, अन्यराजानस्ते क्षय्यलोका भवन्ति, तेषां सर्वेषु लोकेष्वकामचारो भवति"। इति। (छा० ७।२५)

अयमेव श्रुत्यर्थः श्लोकेन संगृह्यते—

सत्यविज्ञानमतयः श्रद्धा निष्ठा कृतिः सुखम्।
भूमेति पूर्वं पूर्वं स्यादुत्तरोत्तरसंपदा॥

भूमात्मनः समृद्धिस्तच्चेष्टमिष्टे प्रवृत्तयः।
प्रवृत्तानां तत्परता प्रेमबन्धस्तु तत्परे॥
यत्र प्रेमा तत्र चित्तवृत्तिर्भूयोऽनुषज्जते।
भूयो मनोऽनुषङ्गेण विज्ञानं तत्र लभ्यते॥
कार्य्यकारणविद्या तु विज्ञानमिह कथ्यते।
विज्ञानात्सत्यमाप्नोति सत्यमात्मैव कारणम्।
सत्यो भूमा सत्य आत्मा सत्य एवायमस्म्यहम्।
कृतकृत्यः स यस्यात्मा भिद्यते नेश्वरात्मनः॥

ननु यद्येवं विश्वाधारोऽहमात्मा स्वाधार इत्यभिमन्यते, तर्त्तांह किमिदं विश्वमेव न स्वाधारं प्रकल्प्यते, अलं विश्वातिरिक्तस्य विश्वाधारत्वप्रकल्पनेनेतिचेद्, नैतदेवमास्थेयम्। विश्वेषां बलमात्रत्वदर्शनात्। बलान्येवैतानि सर्वाणि पश्यामो यानि पश्यामः। क्षणिकानि हीमान्युत्पन्न विनष्टानि न क्षणादूर्ध्वमवतिष्ठन्ते। न च तानि स्थिरं कंचिदात्मानमन्यमनवलम्ब्योत्पद्येरन्। स्थिरे हीमान्युत्पद्य स्थित्वा विलीयन्ते—इति संभवति। अनन्तानि हीमानि खण्डखण्डानि बलानि परस्परतः सहचरितानि च भवन्ति बद्धानि च। तत्रैषां बन्धः शरबन्ध, ग्रन्थिबन्ध, सूत्र-पाशबन्धादि-भेदादनेकधा। बन्धे चैषां कंचित्कालं स्थिरता प्रतीयते सेयं नाश्रयस्थिरतामनासाद्य संभवति। तस्मादस्ति तावदेषु बलेष्वनुस्यूतस्तदाधारः कश्चित् स्थिरो भावः। स एष भूमा, स रसः।

ननु विश्वातिरिक्तो नैष रसो नाम कश्चिदस्ति स्थिरो भावः। पश्यन्ति हि श्रमणाः—

"रथः, सेना, वनं, दीपः, सरो, ग्रन्थ इवास्म्यहम्।
संतानमात्रं संतानैः संतानानां बलासताम्"॥इति॥

असन्त्येव सर्वशून्यानीमानि बलान्यकस्मादुत्पद्यन्ते, क्षणमात्रं तु निसर्गादवस्थायाकस्माद् विलीयन्ते।

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि तु क्षणम्।
अव्यक्तनिधनान्येव, बलानीमानि यज्जगत्॥

तत्राविनाशिनि विश्वातीते रसे केयमास्थोपपाद्यते। यत्तु स्थेमानं क्वचिदुपलभामहे, भ्रममात्रं ह्यतदस्माकं भवति, नदी-प्रदीपादिष्विव स्थिरतायाः सन्तानमूलत्वात्। तस्मात् क्षणिकम्, दुःखम्, स्वलक्षणम्, शून्यमिदं सर्वं भावयेत्। तथा च नास्तीयं कापि व्यक्तिरित्येवमातिष्ठमानत्वान्नास्तिकानां श्रमणानामिदं रसानभ्युपगमलक्षणं मतं भवति—इति चेन्नैतदस्ति। नास्तिकानामेषां श्रमणानामदूर-दर्शित्वात्। इहैव हि तद्विपर्य्ययेण 'अस्ति ब्रह्म' इत्यातिष्ठमानत्वादास्तिका ब्राह्मणा आहुः—

"असन्नेव स भवति असद् ब्रह्मेति वेद चेत्।
अस्ति ब्रह्मेति चेद् वेद सन्तमेनं ततो विदुः॥"इति।

नास्त्येवायमेकोऽप्यर्थ इत्यातिष्ठमानानामयं नास्तिकतावादसिद्धान्तोऽपि नास्ति। सोऽयमाश्रित-शाखाच्छेदी नितान्तमश्रद्धेयो भवति। अथैषोऽस्ति सिद्धान्त इति ब्रुवंस्तु स रसास्तित्ववादी भवति। वस्तुतस्तु सदसती द्वे तत्त्वे भवतः। तयोश्च लक्षणं भगवानाह—

"नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः॥
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः॥"

यदस्त्येव, न कदापि नास्ति, तत्सत्, तदमृतम्, स रसः। त्रिकालं नास्त्येव, न कदाप्यस्ति,

तदसत्, स मृत्युः, तद् बलम्। उभयं त्विह समुच्चितं पश्यामः। तथा हि प्रतिक्षणपरिणामीदमेकैकं चिरायावतिष्ठते, न तु केवलं बलम्। यतः खलु—

बलं निरावलम्बनं न जातु दृश्यते क्वचित्।
बलं बलावलम्बनं क्षणं क्षणं कथं भवेत्॥
प्रतिक्षणं विलक्षणं जगन्न जातु संभवेत्।
प्रतीतमेकवद् ध्रुवं ध्रुवं न चेदिहान्तरे॥
समष्टिरत्र संततिः समुच्चयश्च संहतिः।
तदेकताप्रतीतये भ्रमस्य हेतुरस्ति हि॥
इति ब्रुवन्ति स भ्रमो न तु भ्रमस्तदेकता।
पशौ, शिशौ च, बालिशे, बुधे समं प्रतीतितः॥

एक एव हि कश्चिदर्थो रेतो-डिम्भ-गर्भ-शिशु-पौगण्ड-तरुण-प्रौढ़-वृद्ध-स्थविरमृत्युभिरनेकावस्थो नानाविधो भाति। एक एव च कश्चिदर्थो जल-मृदङ्कुरदारु-समिदङ्गार-क्षार-मृत्युभिरनेकावस्थो नानाविधो भवति। एक एव च कश्चिदर्थो मनः-प्राण-वाग्-वायु-तेजो-जल-मृत्-पाषाण-मृज्जल-तेजो-वायु-वाक्-प्राण-मनोभिः क्रमोत्क्रमाभ्यां चक्रवत् परिवर्त्तमानो नानानामरूपावस्थो भवति। तथा चैता एकस्यानेका अवस्था दृश्यन्ते। तत्र यदन्यदन्यद् भवति स मृत्युरसत्। यस्त्वेषु विनश्यत्सु न विनश्यति, य एष्वनेकेष्वेको भवति, यो विभक्तेष्वविभक्तो भवति, यत्रैते विकारा आहिता उपपद्यन्ते, य एक एवैषु विकारेष्वनुवर्तमानः परोवरीणो भवति, तदमृतम्, स रसः। तदित्थमिदमुभयं दृश्यते सच्चासच्च। तत्र न सतोऽयमभावो नाप्यसतः क्वचिदयं भावो वा संभवति। तथा चेह यदिदं भूतं नास्त्यस्ति नास्तीति त्रिक्षणं भवति, प्राग् नास्ति घटः, अथ जातोऽस्ति घटः, अथ ध्वस्तः पुनर्नास्ति घट इति—तत्राव्यक्त-पूर्वस्याव्यक्तनिधनस्य यदियं मध्ये व्यक्तिः, येयमुपलब्धिः सा नैकान्ततो निर्मूला संभवति। नेदं पश्यन्न पश्यामीति वक्तुं युज्यते। तस्मादस्ति रसः। तेनैतान्यसन्ति मध्ये सन्तीत्युपलभामहे। तस्मात् सच्चासच्चेत्येतदुभयं समन्वितमिदं विद्यात्। यान्यसन्ति विनश्यन्त्येतानि बलानि सर्वत्रोपपद्यन्ते, तेष्वन्तःस्यूतोऽयमविनाशी कश्चिदस्ति रसो ब्रह्म नाम। तस्यैवायं स्थेमा प्रत्यर्थमस्तीति व्यपदिश्यते। सतोऽसति यजनं चावयजनं च रसनम्। शून्यमिदमसद् बलं यतोऽस्तीति सत्तावत् प्रतिभाति, तदिदं सत्ता, ज्योती, रसः। "सतो बन्धुमसति निरविन्दन्" इति महर्षयः प्राहुः। तथा चासतो बलस्य सति रसे चितिर्जन्म। सतो रसादसतो बलस्य व्युत्थानं नाशः। मृद्गतसत्तारसस्य कुलालोपचिते बले यजनं घटस्य जन्म। यावद्बलमाभवतीयं मृत्सत्ता, तेनेदं घटजनकं कुलालबलं स्थिरतामायातीति घटो नामैकोऽर्थो जायते। तदुक्तमृषिणा—

"तुच्छेनाभ्वपिहितं यदासीत्, तपसस्तन्महिनाऽजायतैकम्" इति।
तुच्छमिदमसद्बलम्। तत्राभवतीत्याभु रसो ब्रह्म। यत्तु—
"गुणभूतैरवयवैः समूहः क्रमजन्मनाम्।
बुद्ध्या प्रकल्पिताभेदः क्रियेति व्यपदिश्यते।"

इत्येवं क्रियैकत्वव्यपदेशवत् सर्वत्रैषु संतानैकत्वप्रत्ययस्य पारमार्थिकत्वाभावेऽपि व्यावहारिकतया भ्रममात्रमियं संतानमूला सर्वस्थिरतेत्याहुः। तदिदं प्रलापमात्रम्। कारणं त्वेतत् स्थिरताया भवानाह, सन्तानादिति। स्थिरता तु नापलप्यते। सन्तानो बलसंघातः। तत्रैषा स्थिरता न बलम्, अक्षणिकत्वात्। उत्पन्नविनष्टप्रवाहशालिनां बलानां सन्ताने परोवरीणो यावदेको भावो न स्यात्, तावदेषु धारावाहिकेषु बलेष्वनेकेषु कस्यैकत्वं सन्तानशब्दत्वम्, कस्य वा स्थिरत्वं प्रतिपद्येमहि। सन्ताने वा, बलद्वयप्रत्याघाते वा, येयं स्थिरतानुभूयते, स कस्यायं धर्मोऽभ्युपगन्तव्यः। बलस्यैव वा, बलेतरस्य वा? बलस्यैव चेत्, तर्त्हि

क्षणिकत्वमस्य व्याहन्येत। क्षणिके स्थिरताभिमानस्य साहसिकत्वात्। अथेतरस्मिंश्चेत्, तमेवैतं रसमाख्यास्यामः। यत्तु—'रथः, सेना, वनं, दीपः' इत्याद्युक्तम्, तत्रापि सर्वत्रैषु धारावाहिकबलेषु यन्निबन्धनोऽयमेकत्वप्रत्ययः स रसः। सर्वत्र तेषु योऽङ्गी स रसः। अर्चिषि यदन्यदन्यद् भवति, तद् बलम्। अथ यदासायमाप्रातरेकः प्रदीपः स रसः। भगवानप्याह—

"तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा।"
"अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्।"
"सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम्।"
"यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म सम्पद्यते तदा।"
"समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति॥" इति।

तमेतं रसभावं बलतो विपरीतलक्षणं विद्यात्। तमः, आवरणम्, क्षणिकम्, दुःखम्, स्वलक्षणम्, शून्यमित्येवं बलमाख्यातम्। तद्विपर्य्ययेण त्वेष रसो ज्योतिः, असङ्गः, शाश्वतिकः, आनन्दः, बललक्षणः, पूर्ण इति विद्यात्। भूमा वा ऽणिमा वेति सर्वत्राविनाभावः पूर्णः। कालत्रयाबाध्यः पूर्णः। अनवच्छिन्नः पूर्णः। तदिदं प्रथमं सत्यं परात्परम्, तदभयम्। स एष कृष्णः प्रतिपत्तव्यः। अस्यैव सर्वत्राविभक्तस्यैकस्य भूम्नो विभक्तेष्वेतेषु भूतजातेषु अवतारतो विभक्तवदनेकधा सत्यः कृष्णो भवति। विभक्ताश्च ते सत्या अवतारकृष्णा इष्यन्ते—इति भाव्यम्।

इति परसत्यः।

अथ संस्थासत्यः।

तत्र तावदिदमाद्यं सत्यं कैश्चिदोतप्रोतैः परस्परप्रचितैर्बलैः कृतरूपमुत्तरोत्तरविकारपरिग्रहापेक्षं पुनरन्यत् सत्यमाख्यायते। तदित्थं सत्येऽन्यत् सत्यं तत्राप्यन्यत् सत्यमित्येवं सत्यसंस्था समवर्तत।

सेयं पञ्चविधा नवविधा वा सत्यसंस्था द्रष्टव्या—

१ परात्परोऽनन्तबलस्थो निष्कलो निरञ्जनः सत्यःकृष्णः।
२ पुरुषः प्रकृतिस्थः पञ्चदशकलश्चिदात्मा सत्यः कृष्णः।
३ प्रकृतिवेदमयो विश्वसृड् ब्रह्मा पञ्चशिरायज्ञस्थः सत्यः कृष्णः।
४ ईश्वरः प्रजापतिरीश्वराधियज्ञप्रजास्थः सत्यः कृष्णः।
५ जीवप्रजापतिर्जीवाधियज्ञप्रजास्थः सत्यः कृष्णः।

रसमनूद्बुद्धानि बलानीति परात्पररूपम्। तत्र बलं महिमा रसस्य सत्यस्य। तथा चानन्तबलविशिष्टो रसः प्रथमसंस्थः सत्य आत्मा।

अथ अव्ययमन्वालम्बितावक्षरक्षरौ प्रकृती पुरुषरूपम्। तत्रेयमन्तरङ्गप्रकृतिर्महिमाऽस्य पुरुषस्य सत्यस्य। तथा च महिमप्रकृतिविशिष्टः पुरुषो द्वितीयसंस्थः सत्य आत्मा।

अथ षोडशिपुरुषस्य क्षरभक्तिपञ्चकलाभ्यः पञ्च विकारक्षरा जायन्ते—प्राणः, आपः, वाक्, अन्नादः, अन्नमिति। तेऽमी विश्वसृजो नाम। अथाऽन्योन्याहुतिभिर्यज्ञात्मना परिणमन्तः पञ्चैते पञ्चजना जायन्ते। अथ यज्ञेन यज्ञं कृत्वा सम्पादिताः पञ्चैते पृथगिव यत्र यत्रैकस्मिन् षोडशिनि पुरुषेऽवलम्ब्यैकत्वं भजन्ते, तेऽमी पञ्च पुरञ्जनाः पुरुषाः। तथा चैतान् पञ्च व्यक्तान् विश्वसृजो वेदाननु

प्रवृत्ताः पञ्चजनाः, अथ पञ्चजनाननु प्रवृत्ताः पञ्च पुरञ्जना इत्युभयविधा यज्ञा विश्वसृजां महिमानो रूपाणि। तत्रैते वेदाः सत्यम्। तथा हि—"तद्यत् तत्सत्यं त्रयी सा विद्या। ते देवा अब्रुवन् यज्ञं कृत्वेदं सत्यं तनवामहा इति। १८ यज्ञं वै कृत्वा तद्देवाः सत्यं तन्वते १९"। (शत०९।५।१।) इति निगमो भवति। त एते पञ्चजनाः पुरञ्जनाश्चेत्युभये यज्ञा महिमा विश्वसृजामव्यक्तानाम्। सोऽयं यज्ञविशिष्टो वेदस्तृतीयसंस्थः सत्य आत्मा।३।

नान्तरेण षोडशिनं पुरुषमेते विश्वसृजस्तिष्ठन्तीति पञ्चैते पुरुषाः प्रजापतयो जायन्ते अधियज्ञम्। स्वयंभूः, परमेष्ठी, सूर्य्यः, पृथिवी, चन्द्र इति। एषु च पृथगिवायं षोडशी पुरुषः सत्योऽनुवर्तते। स हि पुरञ्जनेन यज्ञेन तायते—इत्यतो यावानेष यज्ञस्तायते, तावांस्तावानयमात्मा तत्राभवति। तस्यैतस्यात्मनः षोडशिनः पुरुषस्यायं वेदमयो यज्ञः प्रकृतिर्भवति। सोऽयं बहिरङ्गप्रकृतिरुपसर्गोऽस्य पुरुषस्य। सबन्धनः परिग्रह उपसर्गः।

सहृदया हीमे पञ्च यज्ञा भवन्ति। तत्रैतद्धृदयमक्षरत्रयमन्वाभक्ताः प्राणाब्वागादयः प्राणपशवोऽग्नीषोमीया द्व्यक्षराः प्रजा इत्येकैकप्रजापतिरूपम्। प्रत्येकं चैताः प्रजा महिमा हृदयात्मनः सत्यस्य। तथा चाभिः पञ्चभिरवान्तरसंस्थाभिरियं तृतीया संस्था सम्पद्यते।

अथ पञ्चाप्येतानधियज्ञप्रजापतीनधितिष्ठत्येकः पुनरन्यः षोडशी पुरुषः। स ईश्वरः प्रजापतिः। तत्रेश्वरं नामैतं षोडशिनं पुरुषमन्वाविष्टाः प्राणमया वेदयज्ञाः, तानन्वाविष्टाश्चत्वारोऽन्ये प्रतिमा-प्रजापतयश्चेश्वररूपम्–स्वयंभूः, परमेष्ठी, सूर्य्यः, चन्द्रः, पृथिवी–इति। महिमानो हीमेऽन्तःप्रजापतयः प्रजापतेराभुवः पुनरीश्वरस्य सत्यस्य, उपधानानि वा। अबन्धनः परिग्रह उपधानम्। पञ्चाऽप्येतानधि-यज्ञषोडशिपुरुषान् स्वोदरस्थानयमन्यः षोडशी पुरुष आभवतीति हेतोः स आभुप्रजापतिरीश्वरो नाम। स चतुर्थसंस्थः सत्य आत्मा।४।

अथैतेषां पञ्चानामीश्वराधियज्ञानां तास्ता मात्रा उपादाय ताभिरन्यानवरान् पञ्चाधियज्ञान् निर्म्माय तान्स्वोदरस्थानाभवन्नत्यल्पमात्रः कश्चिदन्योऽयमाभुः प्रजापतिर्जायते, स जीवो नाम। तमेतं जीवं नाम षोडशिनं पुरुषमन्वाविष्टाः पञ्चाधियज्ञा जीवरूपम्—अव्यक्तम्, महान्, बुद्धिः, मनः, शरीरम्; इति। इत्थं तस्य संस्थानम्—

१ निगूढोत्मा	१ परात्परः		अभयात्मा	रसः, बलानि।
	२ पुरुषः		चिदात्मा	आनन्दम्, विज्ञानम्, मनः, प्राणः, वाक्।
२ वैकारिकात्मा (अधियज्ञात्मा)	अव्यक्तम्	आनन्दमयः	सत्यात्मा	अन्तर्यमनम्, नियन्त्रणम्, छन्दनम्, प्रतिष्ठा, ज्योतिः।
	महान्	विज्ञानमयः	गुणात्मा	आकृतिप्रकृत्यहंकृतिभिस्त्र्यधिकरणविभक्तास्त्रयो गुणाः।
	बुद्धिः	मनोमयः	विज्ञानात्मा	धर्म्मः, ज्ञानम्, वैराग्यम्, ऐश्वर्यम्, अविद्या, अस्मिता, रागद्वेषौ, अभिनिवेश इत्यष्ट वृत्तयः।
	मनः	प्राणमयः	प्रज्ञानात्मा	पञ्च ज्ञानेन्द्रियाणि, पञ्च कर्म्मेन्द्रियाणि, चतुर्धाऽन्तःकरणम्।
	शरीरम्	भूतमयः	शरीरात्मा-चित्यः	वैश्वानरः, तैजसः; प्राज्ञः,। प्रज्ञाप्राणभूतेति त्रिमात्रः। चितेनिधेयश्च॥

३ यज्ञात्मा प्रजापतिः ।	ईश्वरात्मा	ईश्वरात्मा जीवः

महिमानो हीमेऽन्तःप्रजापतय आभुवस्तस्य जीवस्य सत्यस्य, उपधानानि वा । अवन्धनपरिग्रह उपधानम् । सोऽयं पञ्चमसंस्थः सत्य आत्मा ॥५॥

इति संस्थासत्यः ॥२॥

मायासत्यम्

उक्तं पूर्वं यन्नामरूपाभ्यां प्रत्येकं वस्तु मीयते, तस्मादिमे नामरूपे मायासत्यमिति । कारणविधृतिसत्ताभ्यामतिरिक्तमिदमुपहितसत्यम् ।

नामरूपयोर्विशदरूपेण व्याख्यानं तूत्तरत्र दिव्यकृष्णरहस्ये द्रष्टव्यम् ॥

इति मायासत्यम् ॥३॥

तदित्थमेतान्यध्यात्मं नव सत्यानि

(प्रथमकल्पे नव सत्यकृष्णाः)

निगूढोत्मा	१	परात्परः	रसः, बलानि
	२	पुरुषाः	अव्ययः, अक्षरः, क्षरः
अध्यात्मसमधियज्ञात्मा	१	अव्यक्तम्	प्राणमयः
	२	महान्	अम्मयः
	३	बुद्धिः	वाङ्मयः
	४	मनः	अन्नमयः
	५	शरीरम्	अन्नादमयः
	१	ईश्वरः	
	२	जीवः	

अथ प्रकारान्तरसिद्धा नव कृष्णाः

अथ प्रकारान्तरेणैतानि सत्यानि त्रेधा भाव्यानि। तथा हि—योऽयमपरिच्छिन्न आत्माऽध्यवसीयते तत् प्रथमं रूपम्। तत इदं परिच्छिन्नं विश्वमुपजायते।

"एतावानस्य महिमा ऽ तो ज्यायांश्च पूरुषः।
पादोस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि॥"

इति श्रवणात्, तदिदं द्वितीयं रूपम्।

अथ खल्वेष आत्मा "तत्सृष्ट्वा तदेवानु प्राविशत्"। तत् तृतीयं रूपम्। तदित्थं विश्वानुबन्धादयमात्मा त्रेधोपपद्यते—विश्वम्, विश्वचरः, विश्वातीतश्च। तत्रापरिच्छिन्नोऽयमात्मा यावदमुष्मात् परिच्छिन्नाद् विश्वस्मादतिरिच्यते, स विश्वातीतः। स निर्विशेषो वायम्, अभयो वा परात्परः, समं विवक्षणादेकः सत्यः। स प्रथमः कृष्णः। अथ यावदयं भुवनानि धारयन् विश्वमधितिष्ठति, स विश्वचरो विश्वात्माऽयमव्ययः, षोडशी वा पुरुषः समं विवक्षणादेकः सत्यः। स द्वितीयः कृष्णः।

अथेदं विश्वमस्यात्मनः सृष्टं रूपम्। सोऽयमव्यक्तात्मा च वैकारिकात्मा च। तत्र

"मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तरूपिणा"।

इति स्मरणाद् व्यक्तप्रकृतिकत्वादव्यक्तपञ्चकलानुरोधेन पञ्चैते वैकारिकात्मान इष्यन्ते—

१ प्राणमयः स्वयंभूः।
२ अम्मयः परमेष्ठी।
३ वाङ्मयः सूर्य्यः।
४ अन्नादमयः (पृथ्वी)।
५ अन्नमयः चन्द्रः। इति।

त एते विश्वरूपाः सत्या अन्ये पञ्च कृष्णा भाव्याः। तत् सप्त।

अथैतत्सृष्टं विश्वं प्रविष्टश्चैात्मा—इत्येतदुभयं संहत्यैकं रूपं प्रजापतिर्नाम। स द्विविधोऽयं प्रजापतिः—ईश्वरश्चैकविधः, जीवाश्चानन्तविधाः। पञ्चपुण्डीरसहस्रवल्शाऽश्वत्थपर्याप्तैकाव्ययपुरुष ईश्वरः। ईश्वरीय-पञ्चपुण्डीरैकवल्शारसोपजनितपञ्चात्मपर्याप्तैकाव्ययपुरुषो जीवः। तत्रायमीश्वरः सत्यः। विश्वविशिष्टैकाव्ययपुरुषस्य तस्य सर्वैकात्म्यात् तद्वचतिरिक्तार्थानुपलब्धेश्च।

अथ ये पुनरमी जीवा अव्ययात्मानस्तेऽपीश्वराव्ययस्यैव योगमायाव्यवच्छेदेनावच्छेदात् क्षुद्ररूपाः क्लेश[1]कर्म्मविपाकाशयादिभिः पाप्मभिः, अष्टाभिर्मानसमलैः, षडूर्मिभिः, सप्तावस्थाभिः, अन्नपवमान-

[1] क्लेशाः ५	कर्म्माणि ६	मनोमलाः ८	अवस्था ७	उत्सर्गाः ३	उर्म्मयः ६	विपाकाः ३	आशयौ २
अविद्या=मोहः अस्मिता राग-द्वेषौ (२) अभिनिवेशः	यज्ञः तपः दानम् इष्टम् आपूत्तम् दत्तम्।	मनोमलम् प्राणमलम् वाङ्मलम् शारीरमलम् द्रव्यमलम् अघमलम् एनोमलम् भावमलम्	जाग्रत् स्वप्नः सुषुप्तिः मोहः मूर्छा मृत्युः मुक्तिः	अन्नोपसर्गः पवमानोपसर्गः सूर्योपसर्गः	क्षुधा पिपासा शोकः मोहः जरा व्याधिः	जातिः आयुः भोगः	भावना-शुभ-ज्ञानजन्या। वासना-अशुभ-कर्मजन्या।

सूर्य्योपपन्नबहि:प्राणैश्चोपसर्गैरुपसृज्यमाना रूपान्तराणि जायन्ते। एषां पञ्चोपसर्गभेदानां भेदकत्वेऽपि चतुर्विधबुद्धियोगनिबन्धनविद्याविशेषोदयप्रभावेण सर्वविधोपसर्गात्यन्तविनिवृत्तौ जीवविशेषस्यैतदीश्वरेणाव्यतिरेकः सम्पद्यते,

"गताः कलाः पञ्चदश प्रतिष्ठा देवाश्च सर्वे प्रतिदेवतासु।
कर्म्माणि विज्ञानमयश्च आत्मा परेऽव्यये सर्व एकीभवन्ति॥"

इति श्रवणात्। तत्रैतदीश्वरसत्यत्वमञ्जसोपपद्यते। सोऽयमन्यो जीवविशेषः सत्यः ९।

तथा चैते नवधोपपन्ना ईश्वरसत्या मानुषरूपेस्मिन् श्रीकृष्णे प्रभावादीश्वरत्वेन गम्यमाने ईश्वरानतिरेकेणैवोपपद्यन्ते।

तान्येतान्यधिदैवतं नव सत्यानि—

१ प्रविविक्तो विश्वातीतः परात्परोऽनवच्छिन्नः—अभयः सत्यः।
२ प्रविष्टो विश्वचरो विश्वात्मा मायावच्छिन्नः—पुरुषः सत्यः।
३ सृष्टो विश्वरूपो व्यक्ताव्यक्तः सत्ययज्ञात्मा—प्रजापतिः सत्यः।

स एष सृष्टो यज्ञप्रजापतिः प्रकृतिभेदात् पञ्चविधः—

१ प्राणप्रकृतिकः स्वयम्भूः ब्रह्मा सत्यः
२ अप्प्रकृतिकः परमेष्ठी विष्णुः सत्यः
३ वाक्प्रकृतिकः सूर्य्यः इन्द्रः सत्यः
४ अन्नप्रकृतिकः चन्द्रमाः सोमः सत्यः
५ अन्नादप्रकृतिकः पृथिवी अग्निः सत्यः

तदित्थं पञ्चविधाः सृष्टाः प्रविष्टप्रविविक्ताभ्यां योगात् सप्तविधा भवन्ति।
अथ सृष्टप्रविष्टोभयवैशिष्ट्यादुपपन्नो विराट् प्रजापतिर्द्विविधः—

१ पञ्चप्रकृतिकपञ्चपुरुषैकाव्ययपुरुष ईश्वरः सत्यः। सोऽष्टमः।
२ ईश्वरयज्ञोच्छिष्टप्रवर्ग्योदक्ताव्ययपुरुषो जीवः सत्यः। स नवमः।

इत्थं चैते नव सत्त्या ईश्वरः परमोऽव्ययः। तेन च परेणाव्ययेनैकीभत एष श्रीकृष्णो नवसत्त्यात्मा नवधा भक्तिभिरुपासितव्यः।

इति प्रकारान्तरसिद्धा नवकृष्णाः।

अथवैषां यः प्रथमो विश्वातीतः सत्यः स एवाव्ययसत्यो भूत्वा पञ्चसु वैकारिकात्मानुगतेष्वधियज्ञेषु क्रमादवतीर्णः सर्वेश्वरे चोपपन्नः शरीरविशेषेऽवतरति—इत्येक एवायं कृष्णो नवधा भक्तिभिरुपास्यते—इति प्रतिपत्तव्यम्।

नन्वासां नवानां संस्थानामविशेषेण सत्यत्वमादिश्यते, तत्र न ज्ञायते कुत्रैतत् पारमार्थिकं सत्यत्वम्, कुत्र वा तद् भाक्तमिति। यत्तु प्रथमयोः पारमार्थिकं सत्यत्वमुत्तरेषां तु भाक्तमित्याख्यायते तदेतद्विनिगमकानुपलब्धेर्नोचितं प्रतिभाति। भवति हि निर्विशेषात् परात्परस्य, ततोऽव्ययपुरुषस्य प्रतिपत्तिरिति नैतयोरपि तद्वैकारिकत्वं नास्तीति शक्यं वक्तुम्। वैकारिकाणां चेदं पारमार्थिकं सत्यत्वं नोपपद्यते। अथोत्तरेषामिदं भाक्तत्वं नोपपद्यते, पारमार्थिकसंयोगात्तु भाक्तं भवति, न च पारमार्थिकं किञ्चित्सत्यमिहोपलभामहे। निर्विशेषो रसस्तथा स्यादिति चेन्न। निष्क्रियत्वेन तस्याकारणत्वात्। कारणस्य हि पारमार्थिकं सत्यत्वं प्रतिज्ञायते। तस्मान्नेदमुभयथापि सत्यत्वं संभवतीति चेदत्र ब्रूमः। यथेच्छसि, तथास्तु। किञ्चिदपीह सत्यं नास्तीत्येके तावदाचार्य्याः पश्यन्ति।

"एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म, नेह नानास्ति किञ्चन" इति।

"नायं भूत्वा भविता वा न भूयः" इति

अन्ये त्वाहुः–भावसृष्टिः, गुणविकारसृष्टिरितीयं द्विविधा सृष्टिः—

"भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः।"

"विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसंभवान् ॥"

इति भगवता विभज्य व्याख्यातत्वात्। परात्परो हि बलवान् रसश्चिदात्मा नित्यः। तस्याव्ययस्य च भावस्य वैकारिकत्वं नास्तीति भावसृष्टिकारणतया पारमार्थिकं सत्यत्वमुपपद्यते। उत्तरेषां तु वैकारिकतया विश्वभूतानामात्मसंयोगाद् भाक्तं सत्यत्वं नेयम्। अपि च ब्रूमः—उत्तरेषामप्युत्तरोत्तर-वैकारिकसृष्टिप्रवर्तकतया स्वतःकारणत्वं संभवतीति पारमार्थिकमेवाविशेषान्नवानामपि सत्यत्वम-वसेयम्। यत्सत्यं तद् ब्रह्म।

सर्वेषां सत्यानामेकमसाधारणलक्षणम्।

नन्वेवं तर्हि नवधा विचालीदं सत्यमलक्षणं भवति। किं नामैतस्य नवधा विभक्तस्य सत्यस्या-नुगतमेकं लक्षणं प्रतिपद्येमहि। अत्रोच्येत–'कारणं सत्यम्' इति सत्यलक्षणं भविष्यतीति, तन्न।

"यस्तूर्णनाभ इव तन्तुभिः प्रधानजैः स्वभावतः।

देव एकः स्वमावृणोति स नो दधातु ब्रह्माव्ययम्।"

इति श्रवणात् सर्वान्तरतमस्य तावन्मूलकारणस्याव्ययपुरुषस्यापि नित्यमेव स्वविकारैराव्रिय-माणतया विकारास्पृष्टरूपस्य तस्यैकान्तात्यन्ताभावादेकत्रापि सत्यानुपलब्धेः।

प्रजापतिः सत्यः।

अपि चेदं सर्वं जगदविशेषेण प्रजापतिरूपं श्रूयते—

"सर्वमु ह्येवेदं प्रजापतिः (शत०५।१।१।८॥)

"सर्वं वा इदं प्रजापतिः, यदिमे लोकाः यदिदं किञ्च" (श०।५।१।३।११।)

"यद्वै किञ्च प्राणि स प्रजापतिः" (शत०११।१।६।१७।) इति।

स चायं प्रजापतिर्द्वैरूप्यसमुच्चयेनाम्नायते–आत्मा च, सृष्टिश्चेति। यावदात्मा तत् सत्यम्, अथ या सृष्टिः, तद् विश्वम्। उभयं त्वेतत्समुच्चितं प्रजापतिरित्याह—

"प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा रूपाणि परिता बभूव"। इति। यानीमानि विश्वानि रूपाणि सा सृष्टिः। यस्त्वेतानि परिबभूव स आत्मा। अपि चाह—

"यस्माज्जातं न पुरा किं च नैव य आबभूव भुवनानि विश्वा।

प्रजापतिः प्रजया संरराणस्त्रीणि ज्योतींषि सचते स षोडशी"॥ (यजुः ३५।५)

इति यावानयं जातोऽर्थः सा सृष्टिः। अथ यो विश्वानि भुवनानि आबभूव, यो विश्वस्मिन्न-स्मिन् संप्रविष्टो विश्वमिदमात्मनि धत्ते स आत्मा। आत्मनो हीयं सृष्टिः, सृष्टेरयमात्मा। तथा च न क्वापीदं विश्वानुपसृष्टं विशुद्धं कारणमुपलभामहे, यत्सत्यमिति प्रतिजानीमहि। अपि च विकारभक्ति-परामर्शेनापि सत्यशब्दः श्रूयते—

"आप एवेदमग्र आसुः। ता आपः सत्यमसृजन्त। सत्यं ब्रह्म, ब्रह्म प्रजापतिम्। प्रजापतिर्देवान्। ते देवाः सत्यमित्युपासते। तदेतत् त्र्यक्षरं सत्यमिति। 'स' इत्येकमक्षरम्। "ती" इत्येकमक्षरम्। 'यम्' इत्येकमक्षरम्। प्रथमोत्तमे अक्षरे सत्यम्। मध्यतोऽनृतम्। तदेतदनृतं सत्येन परिगृहीतं सत्यभूयमेव

भवति। नैवं विद्वांसमनृतं हिनस्ति। तद्यत् तत्सत्यम्। असौ स आदित्यः"। (शत० १४।८।६।१–३) "तत् सत्यम्। सदिति प्राणः। तीत्यन्नम्। यमित्यसावादित्यः। तदेतत्–त्रिवृत्।"

"द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे—मूर्त्तं चैवामूर्त्तं च। मर्त्यं चामृतं च। स्थितञ्च यच्च। सच्च त्यञ्च। तदेतन्मूर्तं यदन्यद्वायोश्चान्तरिक्षाच्च। एतन् मर्त्यम्। एतत् स्थितम्। एतत्सत्। तस्यैतस्य...एष रसो य एष तपति।...अथामूर्तं—वायुश्चान्तरिक्षं च। एतदमृतम्। एतद्यत्। एतत् त्यम्। तस्यैतस्य... एष रसो य एतस्मिन्मण्डले पुरुषः। शत० १४।५।३।१–५।" इति।

तदिदमर्चिषि निरूढस्य प्रदीपशब्दस्यार्चिःसंयोगात् सवर्तितैलाधारपात्रे प्रयोगवत् कारणे निरूढस्य सत्यशब्दस्य कारणसंयुक्ते विकारेऽनुवर्त्तनमुपपद्यते। उपसृष्टाऽनुपसृष्टयोरवस्थयोस्तस्याविशेषात्। तथा चेत्थं यदि विकारविशिष्टे सत्यशब्दः प्रवर्तते, तर्हि नैतस्य कारणत्वं प्रवृत्तिनिमित्तं संभवति। कार्यसमुच्चितरूपस्य कारणत्वाभावात्—इति चेत् सत्यम्। नैतदेषामेकं लक्षणं भवति। किन्तु अन्तर्यामी, सूत्रम्, वेदा इति भिन्नानि त्रीणि सत्यानीति कृत्वा, त्रैविध्येनेदं सत्यलक्षणं प्रत्येतव्यम्। तत्रापीदमन्तर्यामिसत्यं त्रिविधम्—निष्कैवल्यं सत्यम्, विश्वोपसृष्टं सत्यम्, सत्योपहितं सत्यं चेति। पञ्चसु तावत् संस्थासु द्वे प्रथमे निष्कैवल्यम्। पञ्चसंस्थामयी तृतीया विश्वोपसृष्टम्। उत्तमे तु द्वे सत्योपहितम्। इतीत्थं लक्षणतस्त्रेधा सत्यं विवेचयेत्।

तत्र निष्कैवल्यं तावत् सत्ताचेतनानन्दानामव्याकृतैकरसत्वं सत्यत्वम्। इदमेव तस्य व्याकरणं यदेषा सत्ता, या चेतना, योऽयमानन्दो दृश्यते लोके। सत्तायां चेतनानन्दौ चीयेते, तत् सत्यम्। चेतनायां सत्तानन्दौ चीयेते, तज्ज्ञानम्। आनन्दे सत्ताचेतने चीयेते, तदनन्तम्। तदिदं सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म। स आत्मा सच्चिदानन्दः। स खलु वक्ष्यमाणयोर्यज्ञपुरुषयोर्यज्ञप्रयोजकः कालः पुरुष ईश्वरः। स एष प्रथमः सत्यः। स एष भूमा रसः प्रथमः कृष्णः।

तत्र नामरूपकर्मभिर्ज्ञानक्रियार्थैश्च मनःप्राणवाचामव्याकृतमैकभाव्यं सत्ता। रूपमाकारोपलब्धिः। यत्रैताः सर्वा उपलब्धयः सा सत्ता। अथ बलानां सत्तारसपरिग्रहस्तत्परित्यागश्चैतत्कर्म। आह च भगवान्—"विसर्गः कर्मसंज्ञितः" इति। विसर्ग इत्युभयमाह—यश्च संसर्गो यश्चापवर्गो बलानां रसेन। यत्र चेमानि सर्वाणि कर्म्माणि सा सत्ता। अथ यो रूपस्य वाचाभिसम्बन्धस्तन्नाम। यत्रैतानि सर्वाणि नामानि सा सत्ता। अथोक्थार्काशितीनामेकैकभाव्ये मनसि उक्थादुत्थितैरर्कैर्गृहीतानामशितीनां मनसि चितिश्चीयते, सा चेतना। अथ चितिभिरुपचयादुपचिते रसतो यो भूमा स रस आनन्दः। सत्ताचेतनानन्दानामव्याकृतमैकभाव्यं सत्यम्। विज्ञानमनःप्राणवाचामैकभाव्यमव्ययं तत्सत्यम्। स आत्मा सच्चिदानन्दः, सो ऽव्ययः पुरुषः प्रथमः सत्यः।२। तदेतदुभयं निष्कैवल्यं सत्यमिति परमं सत्यं भाव्यम्। सत्यस्य सत्यं हीदमाहुः। स एष कालपुरुषो नामाव्ययः सत्यः प्राथमकल्पिकः कृष्णः। अस्यैवान्ये कृष्णा अवतारा भवन्ति।

(नामरूपे सत्यम्)

अथ पुरुषानुगृहीतविश्वरूपसंमिश्रितात्मकं त्वपरं सत्यमुपहितं विद्यात्। यस्य क्रिया, यस्य रूपम्, यस्य नाम तत्सत्यम्। यद् ज्ञायते, यत् क्रियते, यदर्थ्यते, कस्मैचित्कामायापेक्ष्यते, तदुपहितं सत्यम्।

(वेदाः सूत्रं नियतिरिति त्रीणि सत्यानि)

तदिदं सत्यं त्रिविधम्। आत्मनः सृष्टिर्यज्ञाशया वेदाः, तत् सत्यम्। स आत्मा। मनःप्राणवाङ्मया हृदयादुत्थिता वेदा एव हि तायमाना यज्ञा भवन्ति। तदिदं विश्वदानीयज्ञ-स्वाहायज्ञातानयज्ञभेदात् त्रियज्ञं शरीरं भवति। वेदो मूलम्, यज्ञस्तूलम्। सर्वे हीमे यज्ञाः, स यज्ञोऽनन्तः, सर्वे वेदाः सत्यम्।

अथात्मनः सृष्ट्या षड्विकल्पः संबन्धः सृष्ट्यनुग्रहणं सूत्रम्। तत्सत्यम्। स आत्मा। सृष्टौ यदात्मनो व्रतं सा नियतिः। तत्सत्यम्। स आत्मा। तदिदं त्रिसत्यं सत्याश्रितं सत्यम्। तदिदं त्रयमेक आत्मा।

तत्र वेदस्त्रिविधः—ब्रह्मवेदः, सोमवेदः, अग्निवेदश्चेति। मूर्तिस्तेजो गतिरित्येवमृक्सामयजुषां त्रयी विद्या ब्रह्मवेदः। भृगुरङ्गिरा इत्येवमथर्वद्वयी विद्या सोमवेदः। वसवो रुद्रा आदित्या इत्येवमृग्यजुःसाम्नां त्रयी विद्या अग्निवेदः। तत्रोभयस्मिंस्त्रयीवेदे सत्यशब्दः। अथर्ववेदे तु ऋतशब्दः। नियतशरीरहृदयवत्त्वं सत्यत्वम्। नियतशरीरहृदयाभाववत्त्वमृतत्वम्। यत्र पुनः सत्यवेदवदयमथर्ववेदोपि नोपपद्यते तदनृतम्।

अथ सूत्रं द्विविधम्—सत्यमृतञ्च। हृदयवतः सत्यस्य हृदयग्राहि सूत्रं सत्यम्। अहृदयस्य ऋतस्य वपुर्ग्राहि सूत्रमृतम्। अपि चैके सत्यं च तदृतं चेति तृतीयं सूत्रमाहुः। तथा च सहृदयं सशरीरं मूर्तं सत्यमृतं मेघजलादि। अथामूर्तमृतं वायुप्राणादि। अमूर्ता वागियं हृदयवती भवतीति सत्या च सा ऋता चोपपाद्या। यत्र तु सत्यमिदमृतं च सूत्रं नोपपद्यते तदनृतम्। अपि चाहु:—हृदयानुगृहीतशरीरसत्तासमानाधिकरणविषयताकबुद्धिगृहीतत्वं सत्यत्वम्। उभयविधधर्म्मानुगामित्वमृतसत्यत्वम्। हृदयाननुगृहीतशरीरसत्तासमानाधिकरणविषयताकबुद्धिगृहीतत्वमृतत्वम्। हृदयशरीरोभयसत्ताव्यधिकरणविषयताकबुद्धिगृहीतत्वमनृतत्वम्। ऋतसत्ययोः सूत्रयोरीश्वरबुद्धिगृहीतत्वान्नाव्याप्तिः। रसबलयोः परात्परस्याहृदयत्वात्। अस्तु वा बलानामनृतत्वम्, रसस्य ऋतत्वम्, परात्परस्य तु सत्तामभ्यानन्दानां च हृदयशरीरात्मकतया सत्ताज्ञानाव्यभिचारितया च सत्यत्वमिति भाव्यम्। तदेभिः सूत्रैरयमात्मा हृदयस्थो यज्ञमयं त्रिपृष्ठं शरीरमनुगृह्णाति, अधियज्ञशीर्षे ब्रह्मौदनं प्रवर्ग्यं च।

अथ नियतिर्द्विविधा—अनिरुक्तप्राजापत्या, सर्वप्राजापत्या च। ब्रह्मेन्द्रविष्णुमयं हृदयं त्र्यक्षरं सत्यम्। सोऽन्तर्यामी नामात्मा प्रथमा नियतिः। तदिदं मर्त्याग्नेयममृताग्नेयं सौम्यं चेति त्रिपृष्ठसंस्थं शरीरं विद्यात्। अपि वा—हृदयं पदं पुनःपदं पशवश्चेति चतुःपर्वकमग्नीषोमीयत्वाद् द्व्यक्षरं वपुरिदं सत्यं विद्यात्। नियत्याऽवगुण्ठितान्येवैतानि हृदयादीनि चत्वारि पर्वाणि नियतिः। यत्र तु नैतानि हृदयादिपर्वाणि नियत्या नियम्यन्ते तदिदमृतं नामेह पृथग् रूपमाख्यायते।

तदित्थं त्रिसत्येनैतेन विश्वरूपेण विशिष्टोऽयं गूढोत्मा भवत्युपहितं सत्यम्। सोऽयं प्राणाब्वागादि विकारक्षरभेदात् पञ्चविधो यज्ञो वैकारिकात्मा सत्यः। सैषा पञ्चविधविश्वरूपलक्षणा सत्यस्य तृतीया संस्था। तद्यथा—

अधिदैवतमधियज्ञात्मा

(१)	१ स्वयंभूः	ब्रह्मा	प्राणमयः
	२ परमेष्ठी	विष्णुः	अम्मयः
	३ सूर्य्यः	इन्द्रः	वाङ्मयः
	४ चन्द्रः	सोमः	अन्नमयः
	५ पृथ्वी	अग्निः	अन्नादमयः

अध्यात्ममधियज्ञात्मा

(२)	१ अव्यक्तम्	वेदात्मा	प्राणमयः
	२ महान्	त्रैगुण्यात्मा	अम्मयः
	३ बुद्धिः	विज्ञानात्मा	वाङ्मयः

४ मनः	प्रज्ञानात्मा	अन्नमयः
५ शरीरम्	भूतात्मा	अन्नादमयः

अधिभूतमधियज्ञात्मा

(३) १ सत्यम्	प्रतिष्ठा	प्राणमयः
२ आपः	रसः=स्नेहः	अम्मयः
३ ज्योतिः	शुक्रम्=तेजः	वाङ्मयः
४ अमृतम्	रेतः	अन्नमयः
५ रसः	धृतिः	अन्नादमयः

तथा हीमे पञ्चविधा वैकारिकात्मानोऽधिकरणभेदेन त्रेधा संज्ञायन्ते। वस्तुतस्तु त्रिष्वप्यधिकरणेष्वभिन्नाः पञ्चविधा एवैतेऽधियज्ञं द्रष्टव्याः। अथ यान्येतानि विश्वरूपोपहितानि पञ्च सत्यानि, तैः सर्वैर्विशिष्टोऽयमन्यो गूढोत्मा सत्योपहितं सत्यं भवति। यश्चायमीश्वरो यश्चायं जीवः, स उभयविधोऽप्येष यज्ञपुरुषः सत्योपहितः सत्यः।

तदित्थं त्रिविधं सत्यम्, त्रिविधः कृष्णः। **कालपुरुषो महेश्वरः**[1], **यज्ञपुरुषो विश्वेश्वरः**[2], **यज्ञपुरुषो जीव**[3]**इचेति**। यत्तु विष्णुपुराणे

> "तद् ब्रह्म परमं नित्यमजमक्षयमव्ययम्।
> तदेव सर्वमेवैतद् व्यक्ताव्यक्तस्वरूपवत्॥
> तथा पुरुषरूपेण कालरूपेण च स्थितम्॥

इत्युक्तम्, तत्र यज्ञपुरुषरूपेण, कालपुरुषरूपेण चेति व्याख्येयम्। उभयोरव्ययतया पुरुषत्वानपायात्।

ननु कालाव्ययपुरुषो महेश्वरः, यज्ञाव्ययपुरुषो विश्वेश्वरः, अथ ईश्वरजीवाव्ययः पुरुषः—इत्येवं त्रिविधः सत्यः कृष्ण इत्याख्यायते। तदिदं नोपपद्यते। त्रयाणामप्येषां निराकारत्वात्। निराकारश्चार्थो न शक्यः कृष्ण इत्यभिधातुम्। कृष्णतायाः साकारधर्म्मत्वात्। उच्यते—अन्ये हीमे सर्वे वर्णाः साकारधर्म्माः संभाव्यन्ते, न तु कृष्णतायां साकारधर्मत्वमभिनिवेष्टव्यम्, वैलक्षण्यात्। तथा हि—इतरेषां वर्णानां सूर्यादुत्पन्नतया मर्त्यधर्मत्वम्। कृष्णतायास्तु नित्यानुत्पन्नत्वेनामृतधर्म्मत्वमध्यवसीयते। अपि च खलु या तावादियं निराकारता, सैव तु कृष्णतेत्यभिगच्छाम:। यत्र खलु न कंचिद्वर्णं पश्यामस्तत्रैतमनिरुद्धं कृष्णं पश्यामः। तथा हीदं कृष्णत्वं त्रिविधम्—निरुक्तमनिरुक्तमनुपाख्यं च। शालग्रामशिलादौ दृष्टं निरुक्तम्, तदिदं भूतज्योतिः। तच्च सूर्य्यज्योतिषि सोमसंस्कारनिबन्धनमङ्गिरसो रूपम्। श्रूयते हि—

> "शुक्रं ते अन्यद् यजतं ते अन्यद् विषुरूपे अहनी द्यौरिवासि।
> विश्वा हि माया अवसि स्वधावन् भद्रा ते पूषन्निह रातिरस्तु" इति।
> "यत्कृष्णो रूपं कृत्वा प्राविशस्त्वं वनस्पतीन्।
> ततस्त्वामेकविंशतिधा संभरामि सुसंभृता"। (तै० ब्रा० ३।७।४)
> एकविंशिनोऽङ्गिरसः कृष्णाः।

अथ भूतज्योतिषामभावस्तमः। यथा रात्र्या अन्धकारे दृष्टं कृष्णत्वम्। तदनिरुक्तं ब्रूमः। तदिदं सर्वाकाशपरिव्याप्तानामपरिच्छिनानां दिक्सोमानां नित्यमविनश्वरं रूपम्। तच्च "त्वं ज्योतिषा वितमो ववर्थ" इतिश्रुतेः सूर्य्यप्राणकृत्सोमप्रज्वलनजनितैर्नानाप्रकाशैरावरणात् सूर्य्यप्रकाशमन्वदृष्टिमपि सूर्य्यप्रकाशोपरमे लोकान्ते दिक्षु सर्वत्रोपलभ्यते। तथा च श्रूयते—

"तन्मित्रस्य वरुणस्याभिचक्षे सूर्य्यो रूपं कृणुते द्योरुपस्थे ।
अनन्तमन्यद् रुशदस्य पाजः कृष्णमन्यद्धरितः सम्भरन्ति ॥"

अथ यत्पुनः सृष्टेः पूर्वं सर्वपदार्थसत्ताज्ञानाभावलक्षणेन तमसाक्रान्तं सर्वसृष्टिप्रभवलक्षणं तमः श्रूयते—

"तम आसीत् तमसा गूढमग्रे ।"

यच्च स्मर्यते—

"आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम् ।
अप्रतर्क्यमनिर्द्देश्यं प्रसुप्तमिव सर्वतः ॥" (मनुः १)

इति, तदेतत्सर्वविधकार्य्याभावलक्षणेऽमुष्मिन्नन्धकारे प्रभवलक्षणं कृष्णमनुपाख्यं विद्यात् ।

तेष्वेतेषु त्रिषु कृष्णेषु द्वौ तावदमू नित्यनिराकारौ भवतः । यस्त्वेष तृतीयः साकारः, सोऽपि सर्वत्र प्रकाशेष्वप्रकाशोऽन्तर्निगूढो निराकारवत् प्रत्येतव्यः । रक्तो वा, पीतो वा, कश्चिदर्थो यद्यग्निना संस्क्रियते, अथैतत्कृष्णं सोमरूपं सर्वत्राविशेषेणोपलभ्यते । नानैते सर्वे वर्णा मृत्यो रूपाणि । अथैतेषु मृत्युषु "अन्तरं मृत्योरमृतं मृत्यावमृतमाहितम्" इतिश्रुतेर्यदन्तरतो निगूढोऽयं कृष्णोऽमृतभावः, तस्यैतस्यैतन्निराकारत्वमेव कृष्णत्वं नामोपपद्यते । तस्मादविशिष्टोऽयमेक एव सर्वत्राभिव्याप्तः सत्यः कृष्णो भगवानिति भाव्यम् ।

ननु निरुक्तश्चानिरुक्तश्चानुपाख्यश्चेति त्रेधा कृष्णोऽयमाख्यातः, तत्रैतत्त्रितयानुगतं किं नामैकं कृष्णस्य कृष्णत्वमितिचेद् अप्रकाशत्वमिति ब्रूम : । तदुक्तं भगवता—

"नाहं प्रकाश : सर्वस्य योगमायासमावृत :" इति ।

अत्राहंत्वेन विवक्षितस्य कृष्णस्याप्रकाशत्वोपाख्यानादप्रकाशत्वस्यैव कृष्णत्वस्य विवक्षितत्वात् । तथा हि—द्वौ तावदस्य विश्वस्य प्रभवौ निरुक्तौ भवतः—अग्निश्च, सोमश्च । तयोर्द्वाविव निरुक्तौ वर्णविभागौ भवतः—यावन्तोऽग्नौ सोमस्य तारतम्येनौत्तराधर्येण चोपभागास्तेऽमी सर्वे प्रकाशाख्या अनन्तविधा वर्णा इत्यन्यः । अथैकः कृष्णो वर्ण इत्यन्यः । श्रूयते च—

"अनन्तमन्यद् रुशद्स्य पाजः कृष्णमन्यद्धरितः संभरन्ति ।"

इति । सर्वे हीमे प्रकाशा अग्नीषोमयोः परस्परसंयोगसिद्धानि कार्याणि । तथा हि कृष्णातिरिक्ताः सर्वे वर्णा ज्योतिः, सोऽग्निः । हिरण्यरेता ह्यग्निः । "ज्योतिर्वै हिरण्यम्" इति हि श्रूयते ।

अपि चायं सोमो ज्योतिः । "त्वं ज्योतिषा वि तमो ववर्थ" इति सोमस्तवनात् । उभयसंयोग-सिद्धत्वाच्चैषां कृष्णातिरिक्तानां सर्वेषामेव वर्णानां कार्य्यत्वम् । अथैष कृष्णः खल्वेको नित्यो वर्णः कारणम् । अग्निरङ्गिराः कृष्णः, सोमः कृष्णः । सोऽयमप्रकाशः कृष्णः ।

ननु यथैते सर्वे वर्णाः प्रकाशन्ते, एवमयं कृष्णोऽपि न न प्रकाशते, तस्मान्नाप्रकाश इति चेन्न । नीलस्य प्रकाशेऽपि कृष्णस्याप्रकाशात् । द्विविधो ह्ययं कृष्णः प्रतिपत्तव्यः—गाढनीलश्च, कालश्चेति । तत्र योऽयं गाढतमो नीलो यश्चायं साधारणनीलः—स एवायं कृष्णो वर्ण इति लोकाः प्रतिपद्यन्ते, न त्वेषामयं स कालः कृष्णो वर्णान्तरवत् प्रकाशते । कालस्य कृष्णस्याप्रकाशत्वात् । नन्वितरसर्ववर्ण-साधारण्येनैतं कालमपि वर्णं पश्यन् पश्यामि, सोऽपि नूनं द्योतते ऽस्मभ्यमिति ज्योतिर्भवति, इति चेन्न । न हि द्योतते इत्येतावता ज्योतिषो ज्योतिष्ट्वं कल्पते । अपि तु येनार्थानां रूपाणि द्योतन्ते, तज्ज्योतिः । कालस्तु खलु वर्णः सर्वाणि रूपाणि संवृङ्क्ते—दृष्टिपथान्निष्कालयति, तस्मादज्योतिः । अथ च स्वयमपि नायं द्योतते, किन्तु सत्यन्धकारे नैकोऽपि कश्चिद् वर्णः प्रकाशत इत्येवायं वः प्रकाशते—इत्यभिमानो भवति । तथा हि—त्रैविध्येनायं वर्णानां प्रकाशो द्रष्टव्यः—सर्ववर्णसमुच्चयेन, इतरेतर-व्यतिरेकेण, सर्ववर्णातिपातेन चेति । तत्रायं प्रथमो यः खल्वेकस्मिन् विन्दौ युगपदनेकेषां वर्णानां प्रत्याघातात् प्रकाशः स शुक्लो नाम । अथायं द्वितीयो यः खल्वेष नानाविधः प्रकाशो व्यवतिष्ठते—येऽमी

सर्वे वर्णाः सामञ्जस्येनाद्धा प्रकाशन्ते । ते च रोहिताग्नयो रक्तादयः, तथा हृताग्नयो हरितादयः । अथायं तृतीयः प्रकाशो यत्रैते सर्वे वर्णा एकान्ततो दृष्टिमण्डलतो बहिर्निष्काल्यन्ते । स एष कालो नाम कृष्णः, सोऽयमप्रकाश एव प्रकाशो भवति । आरोहणावरोहणाभ्यां व्यवस्थिता हीमे सूर्य्यगावस्तारतम्येन सोमसंयोगादेभिः सर्वैरेव रूपैः सामञ्जस्येन परिणमन्ते, किन्तु यत्र नैते गावः प्रत्युपतिष्ठन्ते, तत्रैतेषां घटपटादीनां तानि तानि सर्वाण्येव रूपाणि कृष्णैकरूपतामायान्ति । आतश्चायं कारणम्, अतः स्वारसिको नित्यः कृष्णः प्रतिभासते । तत्रैतत्सूर्य्यगोजाता ऐन्द्राः सर्वेऽपीमे वर्णा एकान्ततो न प्रकाशन्ते, तस्मादप्रकाशः । किन्तु नित्योयमविनाभूतः सर्वव्यापी सर्वसाधारणः कृष्णः सूर्य्यादिप्रकाशसहयोगानपेक्षः स्वतः प्रकाशते । तस्मात् सर्वप्रकाशविलक्षणोऽयमतिरिक्तः प्रकाशः, आतश्चायमभूतप्रकाशः प्रकाशः । सोऽयं कृष्णः प्रकाशः ।

ननु च भोः सत्योऽयं कृष्ण इत्याख्यातम् । सत्यश्चायं त्रिविधः प्रतिज्ञायते—महेश्वरः कालपुरुषो नामैकः, विश्वेश्वरो यज्ञपुरुषो नामैकः, जीवश्चायमुदक्तः पुरुषो नामैकः । तेष्वयमेको महेश्वरो विशुद्धाव्ययरूपः संभवत्यप्रकाशत्वात् कृष्ण इति ।

श्रूयते हि नारायणोपनिषदि—

"यो वेदादौ स्वरः प्रोक्तो वेदान्ते च प्रतिष्ठितः ।
तस्य प्रकृतिलीनस्य यः परः स महेश्वरः ।। इति ।

अत्र क्षरप्रकृतिलीनादोमक्षरादपि यः परोऽव्ययः, सोऽत्यन्तं निगूढ इति शक्यते कृष्णत्वेनाभिधातुम् । अथ योऽयमीश्वरो वा, जीवो वा—स उभयोप्येष प्रजापतिर्भवति । प्रजापतिस्त्वेष द्विधातुकः श्रूयते—आत्मा च, सृष्टिश्चेति ।

"यस्मान्न जातः परो अन्यो अस्ति य आविवेश भुवानानि विश्वा
प्रजापतिः प्रजया संरराणस्त्रीणि ज्योतींषि सचते स षोड़शी ।" (य० सं० ८।३६)

इति मन्त्रश्रवणात् सत्यविश्वयोर्व्यासज्येदं प्रजापतित्वं पर्य्याप्नोति । प्रजापतिरेव चायमीश्वरो वा जीवो वा । तयोरुभयोरेवायं सृष्टिभागः साधु प्रकाशते, तावताऽयमुभयो नः प्रकाशः शक्यो वक्तुम् । तथा चायं नोभयः कृष्णः संभवति—इति चेद्—अत्र ब्रूमः । आत्मा सत्यः, सृष्टिर्विश्वम् । तत्रैतस्मिन् सत्यमात्रेऽयं प्रजापतिशब्दोभ्युपगन्तव्यः । मुख्यया वृत्या सत्यमात्रे पर्य्याप्तो हि स प्रजापतिशब्दः प्रदीपन्यायेन विशिष्टे भक्त्योपचर्य्यते । तथा चायं द्विविधः प्रजापतिरुपपद्यते—अनिरुक्तश्च, सर्वश्चेति । अनुपसृष्टोनिरुक्तः प्रजापतिर्विश्वस्यात्माऽयमीश्वरस्तावन्न कस्याप्यद्धा प्रकाशते । तस्मादयमप्रकाशत्वात् कृष्णः संभवति । एवमयं जीवोऽपि नाद्धा प्रकाशते । अत एव प्राहुः—

"आत्मानं चेद् विजानीयादयमस्मीति पूरुषः ।
किमिच्छन् कस्य कामाय शरीरमनु संज्वरेत् ।।

नन्वस्तु तावदयमीश्वरः सत्योऽप्रकाशत्वात् कृष्णः, किन्तु जीवोऽयं नाप्रकाशो भवति, आपामरमाविद्वत्कुलमस्याहमात्मनः सर्वत्र प्रकाशमानत्वात् । कः खलु नामायमहमस्मीति नात्मानं प्रत्यक्षमनुभवति ? अपि चायमात्मा ज्योतिष्मानाम्नायते—

"मनोमयोऽयं पुरुषो भाः सत्यस्तस्मिन्नन्तर्हृदये यथा व्रीहिर्वा यवो वा, एवमयमन्तरात्मन् पुरुषः,
स एष सर्वस्य वशी, सर्वस्येशानः सर्वस्याधिपतिः
सर्वमिदं प्रशास्ति यदिदं किञ्च, य एवं वेद" । शत० १४।८।८।१

"हिरण्मये परे कोशे विरजं ब्रह्म निष्कलम् ।
तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिस्तद्यदात्मविदो विदुः । (मुण्डकोपनिषत्)

"न तत्र सूर्य्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः ।

तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।" (मुण्डकोपनिषत्)

इत्यादि। तथा चायमात्मा ज्योतिर्मयत्वान्नाप्रकाशो युज्यते वक्तुम्। अत एव च नायमात्मा कृष्णः संभवतीति चेन्न। अस्तु खल्वयमात्मा ज्योतिषां ज्योतिः। तावताऽपि नायं प्रकाशः सर्वस्योपपद्यते। उक्तं तु—द्वयं वा इदं न तृतीयमस्ति–सत्यं च विश्वं चेति। तत्र नायं सर्वो लोकस्तदुभयं समं पश्यति। अपि तु भगवानाह—

"या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः॥"

विश्वस्मिन् हीमानि भूतानि जाग्रति। सत्ये तु संयमी जागर्ति। एतेन चक्षुरिन्द्रियवन्निगूढं पश्यतो योगिनो यो ऽर्थो ज्योतिर्मयो महाप्रकाशः, स एषां सर्वसाधारणलोकानामयोगिनां दृष्ट्या कृष्णकनीनिकावत् प्रत्यक्षभावनयाऽगृहीतः कृष्णः। उलूकैः सूर्य्यप्रकाशवदज्ञानान्धकाराच्छन्नदृग्भिरञ्जसा ज्ञानप्रकाशस्य ग्रहीतुमशक्यत्वात्।

अपि च भवानेतं विशुद्धमव्ययमात्मानमप्रकाशत्वात् कृष्णं नामाभिमन्यते, स एवायमव्ययो विश्वोपाधिकत्वादीश्वरः शरीरोपाधिकत्वाज्जीवश्चाख्यायते। तेनायमविशेषात् सर्वत्र युज्यते कृष्ण इत्यभिवक्तुम्। समानं चैष सर्वत्र गूढोत्मा बुद्धियोगमात्रैकगम्यो नान्तरेणेश्वरभक्तिमभिनीयते।

"भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन!
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप!॥"

इति भगवता प्रतिज्ञानात्। यद्यपि सार्वात्म्यादेष नः सर्वेषामतिनेदिष्ठतमः, तथापि—योगमायासमावृतत्वादहमप्रकाशः सर्वेषाम्। यथाह भगवान्—

"नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः" इति। श्रूयते च—
"एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते।
दृश्यते त्वग्र्यया बुद्धया सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः॥"
"नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो, न मेधया, न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्मै स आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्।"
"न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम्।
हृदा मनीषा मनसाभिक्लृप्तो य एतद् विदुरमृतास्ते भवन्ति॥"

आतश्चैतयोः सत्यविश्वयोर्विश्वमेवैतत् सर्वं पश्यामो यत् पश्यामः। सत्यं तु नाद्धा पश्यामः। विश्वजनीनैरस्माभिर्विश्वातीतस्य ग्रहीतुमशक्यत्वात्। श्रूयते च मन्त्रश्रुतौ—

"न विजानामि यदि वेदमस्मि निण्यः संनद्धो मनसा चरामि—" इति। निण्यो ऽन्तर्हितो बलवदावरणादप्रत्यक्षः। ब्राह्मणश्रुतौ च श्रूयते—

"स एष नेति नेत्यात्मा अगृह्यो न हि गृह्यते। अशीर्य्यो न हि शीर्यते। असङ्गोऽसितो न हि सज्यते न व्यथते।" (श० १४।६।११।६) "स वा एष महानज आत्मा, अजरोऽमरोऽभयोऽमृतो ब्रह्म। अभयं वै ब्रह्म।" (श०१४।७।२।३१) तद्वै तदेतदेव तदास—सत्यमेव।... सत्यं ब्रह्मेति, सत्यं ह्येव ब्रह्म।" (१४।८।५।१)

इति। तथा चायमात्मा सत्यः। स नेति नेतीत्थमप्रकाशत्वात्कृष्ण इति मन्यामहे। सोऽन्वेष्टव्यः, स विजिज्ञासितव्य इत्युपक्रम्यते॥ ॥

इति नव सत्यकृष्णाः।

(नवानां कृष्णानां कृष्णत्रये संक्षेपः)

अथैतस्य मानुषरूपस्य भगवतः श्रीकृष्णस्य नवधोपासनाधारभूतानि नवैतानि रूपाणि व्याख्यातानि। तत्राहुः—नैतानि तावत् कृष्णस्य नव रूपाण्यास्थातुं युज्यन्ते। तेषां मध्ये सत्य[1] मैश्वरं[2] मानुष[3] चेत्येषां त्रयाणामेव रूपाणां भगवद्गीतोपनिषदि कृष्णरूपत्वेन प्रदर्शितत्वात्। तत्रेश्वरजीवशरीरनिगूढमक्षररूपान्तरङ्गप्रकृतिकं विशुद्धमव्ययं सत्यम्।१। तं[1] काल पुरुषमाचक्षते। अथ बहिरङ्गाधिदैविकप्राणादि पञ्चप्रकृतिविशिष्टमव्ययमैश्वरं रूपम्। तमीश्वरं [2]यज्ञपुरुषमाचक्षते।२।। अथ बहिरङ्गाध्यात्मिक पञ्चप्रकृतिविशिष्टमव्ययं जैवरूपं मानुषम्। तं [3]जीवं यज्ञपुरुषमाचक्षते।३।। तत्र ईश्वरशरीरमिदं विश्वम्। जीवशरीरं मातापितृजम्। तदुभयसाधारण्येन प्रविष्टः षोडशी नाम क्षराक्षरप्रकृतिको ऽव्ययपुरुषो निगूढोत्मा। तदेतत् सत्यं कृष्णरूपम्। तदिदं क्षरविकारग्रामरहितत्वाद्विशुद्धमव्ययं भाव्यम्।१।।

अथ विराडग्निमयश्चित्याग्निर्विश्वम्। विश्वशरीरः परमात्मैक ईश्वरो देहधारी भगवान्। तदेतत् पारमेष्ठ्यं कृष्णरूपम्। तदिदमाजानविकारयज्ञप्रभेदभिन्नपञ्च-पञ्चजनक्षरसंघकलिताक्षरसम्पन्नं परमाव्ययं भाव्यम्।२।

अथ भगवान् वासुदेवो मानुषं कृष्णरूपम्। तदिदमीश्वराव्ययवत् सर्वविकारसंघकलिताक्षरसम्पन्नमपराव्ययं भाव्यम्।।३।।

एतान्येव त्रीणि रूपाणि भगवतः श्रीकृष्णस्याभिमतानि। गीतायामन्येषामनुपलम्भात्

इति नवकृष्णानां कृष्णत्रये संक्षेपः।

"त्रयाणामेकस्मिन् सत्येऽन्तर्भावः"

एतान्यपि च त्रिविधानि रूपाणि वस्तुगत्यैकमेव रूपं मन्यामहे। एकैकस्यैवार्थस्य त्रैविध्येनोपपन्नत्वात्। तथा हि—

अन्तरङ्गप्रकृतिद्वयविशिष्टोऽव्ययः पुरुषः सत्य आत्मा।

आत्मैवेदं सर्वमिति सिद्धान्तः। स द्विधाभूतो विवक्ष्यते—समृद्धः शान्तश्च। विग्रहवान् सोपाधिकः समृद्धः। निर्विग्रहो निरुपाधिको विशुद्धः शान्तः। यद्यपि नितान्तमशरीरः स न क्वाप्युपपद्यते, आत्मक्षरभागस्य विकुर्वाणत्वस्वाभाव्यादनवरतं विस्रस्ताभिः प्राणादिभिः पञ्चभिः कलाभिः शरीरोत्पत्तेर्नाप्राप्ततया तेनैतस्यात्मनो ऽव्यभिचारेण व्रियमाणत्वात्। अथापि शरीरस्योपाधित्वविशेषणत्वभेदेन विवक्षणाददोषः। नित्यं शरीरस्थत्वेऽप्यस्यात्मनः शरीरोपहितत्वविवक्षायां शान्तत्वं नापलप्यते। शरीरवैशिष्ट्येन विवक्षायां त्वात्मैव समृद्धः सम्भवति। तत्रानन्तकल्याणगुणा वा षडूर्म्यादयः षडवस्थादयः कतिचन पाप्मानो वा शरीरावच्छेदेन तत्रासक्ता उपपद्यन्ते। एतदेवैतस्य समृद्धत्वमुपचर्य्यते।

तत्रायं विग्रहवान् समृद्ध आत्मा द्विविध उपास्यते—ईश्वरो जीवश्चेति। सर्वज्ञः सर्वशक्तिमान् सर्वधर्म्मोपपन्नः षडूर्म्मिषडवस्थानवच्छिन्नरूपः क्लेशकर्म्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः।

तदभिन्नस्तत्प्रकृतिकस्तच्छरीरान्तर्भुक्तशरीरो जीवः।

तयोश्चेश्वरजीवयोः शरीरे भिद्येते। षाट्कौशिकस्य जीवशरीरस्य विश्वरूपस्य चेश्वरशरीरस्य परस्परतो भेदेन प्रतिपन्नत्वात्। विशेषणभेदाद् विशिष्टभेद इति न्यायाज्जीवेश्वरावपि तौ भिन्नत्वेन विवक्ष्येते। अथात्मा तूभयोर्न भिद्यते। विश्वमयशरीरोपहितस्य विश्वाधिष्ठातुर्विश्वात्मन एवैतस्मिन् जीवशरीरे तदायतनमात्रातारतम्येनावच्छिद्योपनिविष्टत्वात्। तथा च श्रूयते—

"यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह
मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति।।"

अनया श्रुत्या मात्रातारतम्यभेदेऽपि उभयत्रात्मनोऽव्ययपुरुषस्याविशेषत्वोपदेशात्। ईश्वर-शरीरावच्छेदेन दृष्टः स परमात्मा, जीवशरीरावच्छेदेन दृष्टः स जीवात्मा—इत्येवं शरीरमात्रानिबन्धन-भेदोपपत्तावपि अन्तरङ्गप्रकृतिद्वयविशिष्टस्याव्ययपुरुषस्योभयत्र साम्येनोपलब्धेर्वैज्ञानिकदृष्ट्या भेद-स्यानभ्युपेतत्वात्। तथा चायमेक एव सत्यात्मा त्रेधोपपद्यते—विशुद्धोऽयमशरीरो वा, ईश्वरोऽयं विश्व-शरीरो वा, जीवोऽयं क्षुद्रशरीरो वेति। शिपिविष्टस्यापि जीवेष्वेवान्तर्भावो द्रष्टव्यः। एतावता त्रिषु स्थानेष्वयमेक एव सत्य आत्मा विभवतीति कृत्वात्रैव "सत्ये" त्रयाणां कृष्णानामन्तर्भावो द्रष्टव्यः॥

इति त्रयाणामेकस्मिन् सत्येऽन्तर्भावः।

(सत्यावतारत्वम्)

सिद्धं पूर्वोक्तप्रकारेण यदेक एव सत्यो भगवाँस्तत्र तत्र नवसु स्थानेषु त्रिषु स्थानेषु वा कथञ्चि-द् रूपभेदेनावतिष्ठते—इत्यतस्तेषां नवानामपि वा त्रयाणां सत्यरूपाणामेकभाव्येन विवक्षणादेक एव कश्चिदात्मा सत्यः कृष्णो नामोपासितव्यः। अत एव चैतस्य विभिन्नरूपेभ्यो विभिन्नान्येव कर्म्माणि संगृह्य परस्परमोतप्रोतानि कृत्वाऽयमेक एव भगवान् कृष्णः पुराणादिष्वभिष्टूयते। तथा हि—

सर्वजगदात्मत्वाख्यानं हृषीकेशत्वं च सत्यकृष्णापेक्षम्।१।

विश्वरूपप्रदर्शकत्वमीश्वरकृष्णापेक्षम्।२॥

कृष्णवर्णत्वं ज्योतिःकृष्णापेक्षम्।३॥

विष्णुत्वं यज्ञकृष्णापेक्षम्।४॥

नारायणत्वं गोलोकवासित्वं गोविन्दत्वं गोपालत्वं गोवर्द्धनगिरिधारित्वं व्रजवासित्वं ब्रजे-श्वरत्वं सोमवंश्यत्वं यशोदानन्दनत्वं राधाविहारित्वं च परमेष्ठिकृष्णापेक्षम्॥५॥

गोब्राह्मणप्रतिपालकत्वं गोचारणवृत्तित्वं पीताम्बरकृष्णत्वमसुरविद्वेषित्वं च सौरकृष्णा-पेक्षम्॥६॥

रासविहारित्वं राधाप्राणत्वं समुद्रवासित्वं परमसुन्दरत्वं च चान्द्रकृष्णापेक्षम्।७॥

विश्वम्भरत्वं गिरिधरत्वं च पार्थिवकृष्णापेक्षम्।८॥

दामोदरत्वं केशवत्वं पुण्डरीकाक्षत्वं कंसारातित्वं चेति मानुषकृष्णापेक्षम्॥९॥

तथैव खलु गोपालत्वादयः परमेष्ठिकृष्णधर्म्माः—सर्वेऽपि सौरकृष्णधर्म्माः—सर्वे चान्द्रकृष्ण-धर्म्माश्चेत्येतेऽपि प्रकारान्तरेण मानुषकृष्णधर्म्मा द्रष्टव्याः।

अस्य मानुषस्य सतः कृष्णस्य नवस्थानावतीर्णैकसत्यावतारत्वसिद्धान्तात्। तदेतत् कृष्णविज्ञानं पुराणसमीक्षादौ वैशद्येनोपपादितं द्रष्टव्यम्॥ ॥

सत्यचतुष्टययोगित्वम्

अथैवं सत्यावतारत्वाल्लोकचतुष्टयसाक्षित्वमप्यस्योपपद्यते। तथा हि—

"एते वै त्रयो लोकाः—पृथिव्यन्तरिक्षं द्यौरिति।

अस्ति वै चतुर्थो देवलोक आपः" (कौ० १८।२।)

इति श्रुतेश्चत्वारो लोका विज्ञायन्ते। तत्रैतस्य मानुषेण रूपेणायं पृथ्वी लोको, वैहायसेनान्त-रिक्षलोकः, चाक्षुषेण द्युलोकः, पारमेष्ठ्येन तु चत्वारोऽप्येते लोका अनुगृहीता भवन्ति।

तथा चैतस्मिन् मानुषे कृष्णे पार्थिवं चान्द्रं सौरं पारमेष्ठ्यं च तं तं सत्यमात्मानमनुस्यूतं पश्यन्ति स्म। तस्मादयं मानुषरूपः कृष्णः पूर्णावतार उपपद्यते॥

यद्यप्येते मनुष्यादयः सर्वे एव प्राणिनः सत्यचतुष्टयसंपन्नाः संभाव्यन्ते, तथाप्येषु सर्वेष्वेवैषां तारतम्यस्योल्वणत्वतारतम्यस्य च नैसर्गिकतया यत्र निरतिशयमात्रया सत्यचतुष्ट्वसंपत्तिरत्युल्वणं विज्ञायते, तत्र दन्तीत्यादिवद् व्यपदेशोऽतिरिच्यते। यथोक्तं कृष्णद्वैपायनेन "वैशेष्यात्तु तद्वादः,"—इति। अस्ति चैतस्मिन् मानुषरूपे कृष्णे चतुर्णामपि सत्यानामुद्रेकस्ततः सत्यावतारत्वेन प्रदर्शितोयम्।

अपि च पश्यामः—पार्थिवप्राणकृतात्मत्वादयं शरीरतः कृष्ण आसीत्। तदात्वे चायत्वे चायं सार्वभौमयशाः प्रदीप्तशरीराग्नितया निरामय शरीर आसीत्। अथ मनोमयचन्द्रकृतात्मत्वादयं कृष्णः सर्वाङ्गनाहृदयङ्गमो निरतिशयमनोरम आसीत्, शत्रुमित्रोदासीनानामविशेषेण प्रियदर्शन आसीत्। अपि कालनेमिः, जरासिन्धः, शिशुपालः, कंसः, एते स्वार्थपरतोपाधिकृतविद्वेषपरतन्त्रा अपि स्वरसतस्तं दृष्ट्वा प्रीणन्ति स्मेतीतिहासालोचनयाऽवगम्यते। चन्द्रस्य चञ्चलत्वादयं कृष्णचन्द्रश्चञ्चलप्रकृतिरासीत्। कृष्णचन्द्रकृतात्मत्वाच्चायं कृष्णचन्द्रो नामाख्यायते।

"ब्रह्माकृष्णश्च नोऽवतु" २३।१३। इति यजुर्मन्त्रव्याख्यायाम्—

"चन्द्रमा वै ब्रह्मा कृष्णः" शत. १३।२।७।७। इति श्रुतेश्चन्द्रस्य कृष्णत्वावगमात्। एवमन्ये चान्ये च लोकचतुष्टयधर्म्मा इतरलोकविलक्षणा इहानुभवतां भासन्ते—इति सुनिपुणं भाव्यम्॥

इति नवसत्यावतारत्वलक्षणम्॥

तदिदं द्वितीयं महापुरुषत्वलक्षणम्॥२॥

३–अच्युतभगवत्त्वम् ।

तत्र ईश्वरसाधर्म्यम् ।

इत्थमुक्तमस्य कृष्णस्य परमेष्ठिसत्यावतारत्वं जगद्गुरुत्वं च, अथातः परमीश्वरसारूप्यं दर्शयिष्यामः । अच्युतभगवत्त्वमीश्वरसारूप्यम । तच्च विद्याऽविद्योभयभागपरस्परानभिभवप्रसन्नाऽव्ययकृतात्मत्वम् । तथा हि—मनुष्यादीनामशेषाणां प्राणिनामात्मा षोडशी भवति । पञ्चकलोऽव्ययः, पञ्चकलोऽक्षरः, पञ्चकलश्च क्षर इति योगात् पञ्चदशकलः सखण्ड आत्मा सर्वाधारेण निष्कलेनाखण्डेनात्मना षोडशकलः संपद्यते । "षोडशकलो वै पुरुषः" (कौ०) इति निगमो भवति । तत्र चास्मिन्पुरुषे १–आत्मक्षर २–विकारक्षर ३–यज्ञक्षरभेदादयं क्षरस्त्रिविधः । तदिदं क्षरत्रयं क्रमेण प्रकृतिब्रह्म, प्रथमजब्रह्म, पञ्चजनब्रह्मेति गीयते ।

एतेषु पञ्चकलं प्रथमम्, पञ्चकलं द्वितीयम्, पञ्चविंशतिकलं तु तृतीयम् । तत्र ब्रह्मा, विष्णुः, इन्द्रः, अग्निः, सोम इति पञ्चकलोऽयमात्मक्षरस्तावदात्मस्वरूपाधायकत्वादात्मभागे संनिविशते । विकारक्षरस्तु सर्वजगत्प्रकृतित्वाद् विश्वसृट्संज्ञो न विशुद्धरूपः कुत्राप्युपलभ्यते । यज्ञस्वाभाव्यादेषां पञ्च-पञ्चजनरूपेणैव सर्वत्रावस्थितत्वात् । तथा च प्राणः, आपः, वाग्, अन्नादः, अन्नमिति पञ्चैते विकारक्षरा विश्वसृजः परस्परस्मिन परस्पराहुत्या पञ्च पञ्चजना यज्ञक्षरा जायन्ते । ते चार्धस्वा अर्धेतरचतुष्काः सन्तः पञ्चाशेत्थं पञ्चीकृता भवन्ति । ते चार्धस्वत्वात् प्राणादीन्येव नामानि दधते । तेषां त्रिधा सन्निवेशो जगद्रूपम् । अधिदैवत* मध्यात्मं चाधिभूतं च । अधिदैवतं तावत्पुरुषोऽव्ययः । तस्य प्रकृतिरक्षरोऽव्यक्तः तस्यां

*

अधिदैवतम्	अध्यात्मम्	अधिभूतम्
पुरुषोऽव्ययोऽव्यक्तईश्वरः । प्रकृतिरक्षरोऽव्यक्तः ।	पुरुषोऽव्ययोऽव्यक्तः–जीवः । प्रकृतिरक्षरोऽव्यक्तः ।	पुरुषोऽव्ययोऽव्यक्तः– शिपिविष्टः । प्रकृतिरक्षरोऽव्यक्तः ।
१ प्राणोऽव्यक्तः स्वयंभूः	१ प्राणोऽव्यक्तः–(प्रतिष्ठा-ज्योतिः-यज्ञः) अव्यक्तात्मा ।	१ प्राणोऽव्यक्तः । गुहा
२ आपः सुब्रह्म परमेष्ठी	२ आपो महान्–(अहंकृतिः-प्रकृतिः-आकृतिः) महानात्मा ।	२ आपः–आपः ।
३ वाग्–इन्द्रः सूर्य्यः	३ वाग्–बुद्धिः–(धर्मः, ज्ञानम्, वैराग्यम्, ऐश्वर्य्यम्), विज्ञानात्मा ।	३ वाग्–ज्योतिः ।
४ { अन्नं सोमः चन्द्रमाः; अन्नादोऽग्निः पृथिवी }	४ { अन्नम्–मनः; अन्नादोऽग्निः } (प्रज्ञामात्राः प्रज्ञानात्मा । प्राणमात्राः, भूतमात्राःप्रज्ञामात्राः भूतात्मा) ।	४ { अन्नम्–अमृतम् । अन्नादः–शरीरसः । }

प्रतिष्ठायां प्रतिष्ठिताश्चत्वारो यज्ञक्षरपुरुषाः-प्राणोऽव्यक्तः स्वयंभूः, आपः परमेष्ठी, वागिन्द्रः सूर्यः, अन्नादान्ने पृथिवीचन्द्रौ। अथाध्यात्मम्-पुरुषोऽव्ययः, तस्य प्रकृतिरक्षरोऽव्यक्तः, तस्यां प्रतिष्ठायां प्रतिष्ठिताश्चत्वारो यज्ञक्षरपुरुषाः—प्राणोऽव्यक्तः—प्रतिष्ठा ज्योतिर्यज्ञ इति त्रेधोपपादितः। त्रयी विद्या-ब्रह्म प्रतिष्ठा, नामरूपे ज्योतिः, अन्नं यज्ञ. (१)। अथाम्मयो महानात्मा—अहंकृतिः, प्रकृतिः, आकृतिरिति त्रेधोपपादितः, वैकारिकस्तैजसो भूतादिः सानुमानो निरनुमान इत्यहंकृतिः। सत्त्वं रजस्तम इति त्रयो गुणाः प्रकृतिः। चतुरशीतियोनिप्रभेदा आकृतिः (२)। अथ वाङ्मयो बुद्धिरात्मा—धर्मः, ज्ञानम्, वैराग्यम्, ऐश्वर्यमिति तद्विपर्ययाश्चेत्यष्टौ बुद्धिभेदाः (३)। अथान्नादाभ्यामग्नीषोमाभ्यां कृता द्यावापृथिव्योस्त्रयो रसाः—वैश्वानरस्तैजसः प्राज्ञ इत्येते त्रयोऽप्येको भूतात्मा। तत्र वैश्वानराश्रितं शारीरं पार्थिवम्। तैजसो वायुरान्तरिक्ष्यः। इन्द्रियाण्यर्थाः प्रज्ञाश्चेति त्रितयमेकः प्राज्ञो नामात्मा। तत्र प्रज्ञायां मनः शब्दः, मनः प्रज्ञानात्मा दिव्य इन्द्रः-इति (४,५)। एवमधिभूतं द्रष्टव्यम् —पुरुषोऽव्ययः, तस्य प्रकृतिरक्षर इति तुल्यम्। अत्र प्राणो ऽव्यक्तो गुहाकाशः। आपो ज्योती रसोऽमृतमित्यन्यानि ब्रह्माणि।

सर्वत्रापि तैरेतैः पञ्चभिर्यज्ञक्षरैराश्रियमाणा ब्रह्मविष्ण्विन्द्राग्निसोमाभिधानाः पञ्चाक्षरा यत्र प्रतिष्ठिता यमालम्बमानाः सृष्टिं प्रवर्तयन्ति, सोऽव्ययः पुरुषः। सप्रकृतिकः "पुरुष एवेदं सर्वं यद् भूतं यच्च भाव्यम्" यजु० ३१।२। पुरुष एवायमेकैको मनुष्यः सर्वः। पुरुष एव चायमीश्वरः सर्वाराध्यो भगवानच्युतः—श्रीकृष्णः। स चायमध्यात्मं चाधिदैवतं च साम्येन प्रवर्तते। तथा हि—पृथ्वीचन्द्रौ, सूर्यपरमेष्ठिनौ स्वयंभूः पुरुष इत्येवं कृतविग्रहस्तावदयमीश्वरो विश्वशरीरः प्रवर्तते। एवमेवायं जीवोऽपि तैरेवावयवैः कृतविग्रहोऽनुवर्तते॥ तथा च कठश्रुतौ श्रूयते

"इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः ॥१॥
महतः परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुषः परः।
पुरुषान्न परं किंचित् सा काष्ठा सा परा गतिः ॥२॥" इति। (कठ० १।३।१०-११।)

प्रज्ञानात्मा, विज्ञानात्मा, महानात्मा, अव्यक्तमित्येतत्प्रकृतिकः पुरुष एवायमेकैको भूतात्मा देही प्रतिपद्यते। तत्रेश्वरो महीयान्, अथ जीवोऽणीयानित्येवं मात्राभेदेऽप्यालम्बनत्वेन सर्वत्र समः पुरुषोऽयमव्ययः साक्षरो भाव्यः। तत्राव्यक्तोऽयमव्ययः, अव्यक्त एवाक्षरः। अव्यक्त एव चायं तत्र क्षरः प्राणमयो यज्ञप्रजापतिः सत्यः।

तेष्वेतेषु त्रिष्वव्यक्तेषु प्रकृते तावदव्यक्तशब्देनायं क्षरः प्राणः प्रतिपत्तव्यः । अथ महान्—आपः परमेष्ठी, स एष गुणत्रयात्मा, अहंकृतिप्रकृत्याकृतिनियन्ता परमो रसः । सोऽयमम्मयो यज्ञप्रजापतिः सत्यः । अथायं विज्ञानात्मा बुद्धिर्वागिन्द्रः, स एष सूर्यो दिव्यो रसः । सोऽयं वाङ्मयो यज्ञप्रजापतिः सत्यः । यथायं प्रज्ञात्मा वक्तव्यः स भूतात्मा, वैश्वानरस्तैजसः प्राज्ञ इत्येवं त्रेधा विभक्तो भूतात्मा । अयं लोको मध्यलोकोऽसौ लोक इति त्रयो लोका वाक्-प्राण-मनोमया रथन्तरसाम्नः पृथिव्या रूपम् । तस्यास्त्रिलोकीरसैर्वाक्-प्राणमनोमयैरग्निवाय्विन्द्रैः पृथग् विभज्यते स भूतात्मा । अग्निर्वैश्वानरः, वायुस्तैजसः, इन्द्रः प्राज्ञः । तत्राग्निश्चित्यश्चितेनिधेयश्चेति द्वेधोपपद्यते । शरीरं भूतभौतकपिण्डश्चित्यः, योऽस्मिन्नूष्मा सोऽन्यः । अग्निर्वाक्, वायुः प्राणः—इत्युभौ तावदवरात्मत्वादिह नाख्यातौ । अथोत्तमः प्राज्ञः, स मनःशब्देनेहाख्यायते । मनोमयो हीन्द्रः प्रज्ञामयोऽर्थमयश्च प्राण-विशेषः । प्राणोऽयमिन्द्रो वाक्प्राणमनोऽनुगतिभेदात् त्रिधातुरुपपद्यते—पञ्च प्राणमात्राः, पञ्च भूतमात्राः, पञ्च प्रज्ञामात्राश्चेति । पञ्चेन्द्रियाणि पञ्चार्थान दधानानि पञ्चविधानि ज्ञानानि जनयन्ति । चक्षुरिन्द्रियं रूपवच्चाक्षुषं ज्ञानं जनयति । तत्र प्रमाणं प्रमेयं प्रमातृ चेति त्रितयमेकोऽर्थः । स त्रेधा विभज्येहाख्यायते—

"इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः" इति ।

मुख्यप्राणस्येन्द्रस्य प्राणा इन्द्रियाणि । तत्र भूतान्यर्थाः, दैवतानि मनांसि ज्ञानानि । उक्तं च कौषीतकीयश्रुतौ—

"सैषा प्राणे सर्वाप्तिः । यो वै प्राणः सा प्रज्ञा । या वा प्रज्ञा स प्राणः । सह ह्येतावस्मिन् शरीरे वसतः, सहोत्क्रामतः । अथ खलु प्रज्ञायां सर्वाणि भूतान्येकीभवन्ति ।........चक्षुरेवास्या एकमङ्गमुदूढम्, तस्य रूपं परस्तात्प्रतिविहिता भूतमात्रा ।.......प्रज्ञया चक्षुः समारुह्य चक्षुषा सर्वाणि रूपाण्याप्नोति ।.......न हि प्रज्ञापेतं चक्षू रूपं किञ्चन प्रज्ञपयेद्—अन्यत्र मे मनोऽभूदित्याह—नाहमेतद् रूपं प्राज्ञासिषमिति ।....न हि प्रज्ञापेता धीः काचन सिध्येत् । न प्रज्ञातव्यं प्रज्ञायेत ।...न रूपं विजिज्ञासीत । रूपविदं विद्यात् ।......ता वा एता दशैव भूतमात्रा—अधिप्रज्ञम् । दश प्रज्ञामात्रा अधिभूतम् । यद्धि भूतमात्रा न स्युः, न प्रज्ञामात्राः स्युः । यद्वा प्रज्ञामात्रा न स्युः न भूतमात्राः स्युः । न ह्यन्यतरतो रूपं किञ्चन सिध्येत । नो एतन्नाना । तद्यथा—रथस्यारेषु नेमिरर्पिता नाभावरा अर्पिताः । एवमेवैता भूतमात्राः प्रज्ञामात्रास्वर्पिताः, प्रज्ञामात्राः प्राणेऽर्पिताः । एष प्राण एव प्रज्ञात्मा ।...स म आत्मा" । कौ० ३ अ० । इति ।

तथा चायं त्रिधातुरिन्द्रः—इन्द्रः प्राज्ञो मनो, वायुस्तैजसः प्राणः, अग्निर्वैश्वानरो वाक्—इति त्रिकलोऽयं भूतात्मा सिद्धः । इत्थमयं चतुष्कलः पञ्चकलो वा स्तोऽव्ययपुरुषस्यात्मा

प्रकृतिः । परापर-प्रकृतिविशिष्टश्चायं पुरुषः षोडशी नामात्मा। तस्येयं बुद्धिरेकमङ्गं भवति । सा हि विज्ञानमूर्तिरपरप्रकृतिपञ्चकस्य मध्ये तिष्ठन्ती सूर्यवदर्वाच्यौ मर्त्ये द्वे प्रजे, पराच्याव-वमृते द्वे प्रजे चाधितिष्ठन्ती यथावदनुशास्ति । पुरुषस्य श्रेयस्त्व–पापीयस्त्वयोरुन्नत्यवनत्यो-स्तदधीनत्वात् । सेयं बुद्धिरष्टविधा तावत् सांख्यसिद्धान्ते निरूप्यते—

वैराग्यं[1] ज्ञानमैश्वर्य्यं[2], धर्मस्तेषां[3] विपर्ययाः[4] ।

क्लेशा आसक्तिसंमोहावस्मिताभिनिवेशकौ[5][6][7] ॥१॥ इति ।

रागद्वेषौ आसक्तिः । अथाज्ञानमविद्या संमोहः । अथ बुद्धेरविकासः–कुण्ठतत्वम्, वीर्यनिरोधात् पारतन्त्र्यमस्मिता । अथ रजस्तमसोर्दोषयोरभिनिवेशाद् बुद्धेर्मलिनसत्त्व रूपतापत्तौ स्वधर्मसंवरणादधर्मसंक्रान्ता बुद्धिरभिनिवेशः क्लेशः–इति ॥

त एते चत्वारो विपर्यया भवन्ति । एवमियमष्टविधा बुद्धिः पुनः संक्षेपतो द्वेधा विभज्यते—

व्यवसायलक्षणा चाव्यवसायलक्षणा च । कामकृतकर्मजनितवासनानभिभूतत्वात् स्वतन्त्रा स्वरूपसती प्रकाशलक्षणा बुद्धिर्व्यवसायः । निश्चितार्थत्वादेकस्मिन्नेवार्थे विशिष्या-ऽविचलितभावेनावस्यतीति व्यवसायः । तस्या अक्रियत्वात् क्रियाजन्याः क्षोभलक्षणा विक्रिया न सन्तीति समत्वं विद्यालक्षणं तत्र संपद्यते । अथ कामकृतकर्मप्राबल्यजनितदोषा-भिभूतत्वात् कलुषिता विक्षुब्धा बुद्धिरव्यवसायः । विचालित्वान्नैकत्र विशिष्याऽवस्यतीत्य-व्यवसायः । तदुक्तं भगवता—

"व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन ! ।

बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्" । गी०

अव्यवसायबुद्धेरेतस्या रागद्वेषाभ्यामासक्तिलक्षणाभ्याम्, मोहेनाज्ञानलक्षणेन, लोभेनास्मितालक्षणेन, मदमात्सर्याभ्यां रजस्तमोभिनिवेशाभ्यां चाकुलितत्वादात्मदौर्बल्याद्-धर्मसंपराभूतत्वाच्च विक्षुब्धरूपतयोच्चावचनानारूपत्वमशान्तत्वं लोके दृष्टम् ।

तत्र व्यवसायलक्षणसमताबुद्धौ शान्तिलक्षणा मनोविज्ञानानन्दाः प्रादुर्भवन्ति । अव्यवसायबुद्धौ तु जलभङ्गे प्रतिविम्बाभाववत् क्षोभयोगात् ते मनोविज्ञानानन्दा मन्दतमाः कलुषिता यथोचितं न प्रतिभासन्ते । तथा च मनोविज्ञानानन्दान् धर्मानपेक्षमाणैः सर्वदैवा-विशेषात् समताबुद्धिरपेक्षिता भवति । सा चतुर्भिरुपायैः संपादयितुं शक्यते—

१ रागद्वेषकृतासक्तिजनितो यः क्षोभः कामक्रोधरूपस्तत्संवरणलक्षणा बुद्धौ समता वैराग्येण ।

२ अथाज्ञानमविद्या । तज्जनितो यः क्षोभो मोहरूपस्तत्संबरणलक्षणा बुद्धौ समता ज्ञानेन ।

३ अथ स्वतः सिद्धानामप्यात्मबलानां प्रतिबन्धकसंनिधानेन प्रसक्तिप्रतिबन्धादनुपयोगोऽस्मिता, तत्प्रयुक्तो य इच्छाव्याघातस्तत्कृतपारतन्त्र्यजनितो यः क्षोभो लोभरूपस्तत्संवरणलक्षणा बुद्धौ समता ऐश्वर्य्येण ।

अथात्मबलोदयौपयिको यः सत्त्वगुणस्तदपकर्षकौ द्वौ दोषौ रजस्तमसी । तज्जनितो यः क्षोभो मदमात्सर्य्याभिनिवेशरूपस्तत्संवरलक्षणा बुद्धौ समता धर्म्मेण संपद्यते ।

तथा च वैराग्यज्ञानैश्वर्यधर्मेभ्यो विद्यौपयिकबुद्धिविशेषेभ्यः क्रमेण रागद्वेषयोरविद्याया अस्मिताया अभिनिवेशस्य च क्लेशलक्षणस्याविद्याबुद्धिविशेषस्योपरमणादिह जीवबुद्धौ कामक्रोधलोभमोहमदमात्सर्य्याणामतितुच्छभावानामनावरकत्वमुपपद्यते ।

एवं चैतस्मिन् जीवात्मन्यव्ययपुरुषे कर्मरूपाया अविद्यायाःप्राबल्यं नोपपद्यते—इत्यनावरणवशाद् ज्ञानरूपाया विद्यायाः स्वतः प्रकाशः संपद्यते । तदित्थं ज्ञानलक्षणाव्ययविद्याविजयो ऽयं व्यवसायलक्षणविद्याबुद्धेः परम उपयोगः ।

अथ खल्वव्यवसायबुद्धौ तु दोषसंकुलाकुलितत्वादमी उपाया अपेता भवन्तीति प्रायेण लोका रागद्वेषमोहादिकलुषितबुद्धयः परतन्त्रा दुःखोदयौपयिकमधर्मं चरन्तो दृश्यन्ते।" तेषामियं बुद्धिःरागद्वेषाशक्तिमयी मोहमयी पारतन्त्र्यमयी सत्त्वविदूषकदोषमयी च भवतीति सप्रतिबन्धकत्वात् समताबुद्धिर्नोपपद्यते, बुद्धिक्षोभाच्चानवरतं क्लेशभाजो दृश्यन्ते मनुष्याः ।

तदुक्तं भगवता—

"अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः ।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ ॥" इति गीता ।

अत एव च महाभारतयुद्धप्रसंगे युद्धं कर्त्तुं समुपस्थितस्यार्जुनस्याकाण्डे प्राकृतिकशोकसमुत्थानं दृष्ट्वा तस्य क्लेशस्य सर्वलोकसाधारण्येन निसर्गतः प्रवृत्तिं भावयमानो दयालुर्भगवान् सर्वसाधारणलोकोपकारार्थं प्राकृतिकचतुर्विधशोकव्युत्थानोपायभूताश्चतस्रो विद्यास्तत्रार्जुनमुपलक्ष्योपदिदेश । राजर्षिविद्यां[१] सिद्धविद्यां[२] राजविद्याम्[३] आर्षविद्यां[४] चेति । तत्र रागद्वेषासक्तिबुद्धिजनितक्लेशविनिवृत्तये वैराग्यबुद्धिजनितां समतामुत्पादयितुं राजर्षिविद्योपदेशः ॥१॥

अथाज्ञानबुद्धिजनितक्लेशविनिवृत्तये ज्ञानबुद्धिजनितां समतामुत्पादयितुं सिद्धविद्योपदेशः ॥२॥
अथास्मितावुद्धिजनितक्लेशविनिवृत्तये ऐश्वर्यबुद्धिजनितां समतामुत्पादयितुं राजविद्योपदेशः ॥३॥
अथाभिनिवेशबुद्धिजनितक्लेशविनिवृत्तये धर्मबुद्धिजनितां समतामुत्पादयितुमार्षविद्योपदेशः ॥४॥
शोकव्युत्थानोपायप्रकारप्रदर्शनं विद्या ।

तत्र वैराग्यं रागद्वेषनिवर्त्तकतया समताबुद्धिप्रयोजको गुणविशेषः । रागद्वेषमोहास्तु समताबुद्धिनिवर्त्तका आसक्तिलक्षणा दोषाः । ज्ञानाज्ञाने तु भगवतैव प्रदर्श्यते—

"अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम् ।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः ॥१३।८॥
इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च ।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥१३।९॥
असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु ।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥१३।१०॥
मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी ।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥१३।११॥
अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम् ।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा" ॥१३।१२॥

अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा, प्राप्तिः, प्राकाम्यम्, ईशित्वम्, वशित्वं चेत्यष्टौ योगसिद्धय ऐश्वर्यम् । तदिदं स्वातन्त्र्यप्रयोजकमात्मबलं नाम्नोच्यते । तद्विपर्ययात्र पारतन्त्र्यं बुद्धिसमत्वप्रतिबन्धको दोषः । एवं सत्त्वगुणोऽयमात्मधर्मः, सत्त्वस्य सुखशान्तिरूपत्वाद् बुद्धिस्थिरताप्रयोजको धर्मः । अथ सत्त्वगुणप्रभावनिवर्त्तकतया तद्दोषभूते रजस्तमसी विपर्ययबुद्धिरधर्म्मः । इत्थं चेयमष्टधा बुद्धिः सिद्धा ।

सा पुनः संहत्य बुद्धिर्द्वेधा विभज्यते—विद्या चाविद्या चेति । वैराग्यादिचतुष्टयी विद्याऽव्ययविजयोदयोपयिकत्वाद् विद्याबुद्धिः । विपर्य्ययचतुष्टयी त्वविद्याऽव्ययविजयोदयोपयिकत्वादविद्याबुद्धिरिति । अन्यथाविद्येयमविद्या, न तु विद्याया अभावमात्रम् । तस्मादियमविद्याऽप्यस्ति बलविशेषो बुद्धिरेव । तथा हि—

आनन्द-विज्ञान-मनः-प्राण-वाङ्मयो हि पञ्चकलोऽयमव्ययः पुरुषो न आत्मा । तत्रायमव्यये तावदविद्याबुद्धिप्रसङ्गात् प्रवृत्तिलक्षणकर्मोदयहेतुर्मनःप्राणवाग्विभागो विजयी भूत्वा मनोविज्ञानानन्दमयविद्याविभागावरको भवति, कर्मजनितवासनामयक्षोभपरतन्त्राणां पुरु-

षाणां त्रिद्यामयात्मधर्मा: शान्तिसुखादयो न यथेच्छं प्रतिभासन्ते । अथैतस्मिन्नव्यये पुनर्विद्या-बुद्धिप्रसङ्गान्निवृत्तिलक्षणकर्मोदयहेतुमनःप्राणवाग्विभागो विजयीभूत्वा मनोविज्ञानानन्दमय-विद्याविभागावरणभङ्गं करोति । आवरणभङ्गाच्चायं मनोविज्ञानानन्दविभागो मेघापाये सूर्य्यवत् स्वयमुद्बुद्धो यथार्थरूपेण प्रतिभासते यथोक्तं भगवता—

"यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन ! ।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्म्माणि भस्मसात्कुरुते तथा" ॥
"ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः ।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम्" ॥

शान्तिसुखादयश्चात्मधर्म्माः प्रत्यक्षमुपपद्यन्ते । तथा चैषां कर्म्मणामेव प्रवृत्तिलक्षण-कर्म्मनिवृत्तिलक्षणकर्म्मभेदात् क्लेशहेतुत्वं क्लेशनिवर्तकत्वं चास्तीत्युपपद्यते । इदं तु बोध्यम्—सुखदुःखमोहौपयिकनानाविधकर्मोदयप्रवर्त्तकबलकोशाधानहेतुबलप्रयोगः प्रवृत्तिकर्म्म । अथैतादृशाहितबलकोशप्रत्युत्थानहेतुबलप्रयोगो निवृत्तिकर्म्म । उभयथाप्यात्मनि बलं न हीयते, न कदाचिदात्मा निर्बलो भवति । बलयोः प्रतिद्वन्द्वितावशात्तु केनचित्प्रवर्तकबलेन प्रयुक्तेनात्मनि भोगौपयिकबलकोशाधानात् ततो भोगजनकानि कर्म्माणि प्रवर्तन्ते, निवर्तकबलेन तु प्रयुक्तेऽात्मनि भोगलक्षणकर्म्माणि निवर्तन्ते—इति भेदः । तथा चाविद्याबुद्ध्या तावत् सिसृक्षाहेतुरयमात्मनोऽव्ययपुरुषस्य मनःप्राणवाग्विभागे मनोविज्ञानानन्दभागावरणप्रयोजको विविधेच्छाशक्तिक्रियाशक्त्यावरणशक्तीनामभ्युत्थानप्रयोजकश्च बलोदयो भवति । तद्विपर्य्ययेण च विद्याबुद्ध्या मुमुक्षाहेतुरयमात्मनो ऽव्ययपुरुषस्य मनः प्राणवाग्विभागे मनोविज्ञानानन्दभागावरकवासनाभङ्गप्रयोजको मनोविज्ञानानन्दानामभ्युदयप्रयोजकश्च बलोदयो भवति। विद्याप्राबल्यादविद्याबलापकर्षस्तद्वदविद्याप्राबल्याच्च विद्याबलापकर्षः स्वरसतः सिद्धो भवति । तत्राविद्याप्राबल्ये सत्यात्मनोऽव्ययपुरुषादेवैते भयदुःखादयोऽनर्था प्रादुर्भवन्ति, विद्याप्राबल्ये पुनस्तद्विपर्य्ययेणाभयसुखादयः प्रवर्त्तन्ते । उक्तं च भगवता—

"बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहः क्षमा सत्यं दमः शमः ।
सुखं दुःखं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च ॥१॥
अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः ।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः" ॥२॥ इति ।

नानाविधवासनारूपकषायविशेषोदयवशादानन्दविज्ञानमनसामात्मस्थितानामावरणमेवानर्थहेतुः, तेषामनावरणेनाभ्युदय एव च सुखाभ्युदयहेतुरिति निष्कर्षः ।

तत्रेश्वरात्मन्यव्यये विद्याप्राचुर्य्यादानन्दविज्ञानमनोभागानामनावरणं स्वरसतःसिद्धम्। आवरणत्वैच्छिकं सिसृक्षारूपकामतपः श्रमसापेक्षम् । तदर्थमविद्याप्यपेक्ष्यते । किन्त्वैच्छिक्यामविद्यायां विद्याया विजयो नापोद्यते । अथैतद्विपर्य्ययेणास्मिन् जीवात्मन्यव्यये खल्वविद्याप्राचुर्य्यादानन्दविज्ञानमनोभागानामावरणमेव निसर्गतः सिद्धम् । आवरणभङ्गे नैषां विकासस्तु मुमुक्षारूपकामतपःश्रमसापेक्षो भवति । तदर्थं पुनर्विद्यासमाराधनमपेक्ष्यते ।

सा चेयं विद्या चतुर्धा समाराध्यते,–१ वैराग्यबुद्धया, २ ज्ञानबुद्धया, ३ ऐश्वर्यबुद्धया, ४ धर्म्मबुद्धया,चेति । चत्वारो हीमे बुद्धियोगा विद्याप्राबल्यमुद्भावयन्तो जीवगतनैसर्गिकाविद्याकषायोपरागानपवर्जयन्ति । वैराग्येण रागद्वेषासक्तिबन्धनाद्, ज्ञानेन मोहबन्धनाद् ऐश्वर्येणेच्छाव्याघातात्मकपारतन्त्र्यबन्धनाद्, धर्म्मेणानात्मकरजस्तमोधर्म्मबन्धनात्मानं विमोचयन्ति । तथा च जीवेश्वरभेदोपपादकैतद्दोषचतुष्टयविनिवृत्तिद्वारा जीवाव्ययेश्वराव्यययोरेकीभावः स्वत एवोपपद्यते। स इत्थमविद्यामपि संगृह्णाति,किन्तु नाविद्या परतन्त्रो भवति—इति स्थितिः ।

अस्ति चायं श्रीकृष्णचतुर्भिरप्येतैर्बुद्धियोगैर्निसर्गसिद्धैरीश्वराव्ययाभिन्नाव्ययपुरुषात्मकः । तस्मादीश्वर इति विज्ञायायमुपासितव्यो भवति । बुद्धिचतुष्टयसम्पत्तिश्चास्मिन् बुद्धियोगचतुष्टयात्मकभगवद्गीतोपनिच्छास्त्रोपदेष्टृत्वादवधार्य्यत एव । नहि नामावृताव्ययपुरुषश्चतुर्भिरेतैर्बुद्धियोगैरव्ययसाक्षात्कारोपायानुपदिशेत कश्चित ।

अपि च क्लेशकर्मविपाकाशयैः'* परामृष्टापरामृष्टयोर्जीवाव्ययपराव्यययोर्भिन्नतायामपि स्वयं साक्षात्कृताव्ययपुरुषस्य जीवविशेषस्यापि क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टत्वोपपत्त्या

---

*१ ते च "पर्य्यायोर्म्यशियावस्था-क्लेशकर्म्मविपक्तयः
　　द्विषड्-द्विषट्-पञ्चषट्-त्रिभेदात पाप्मान ईरिताः ॥" (३०)

२—पर्य्यायौ द्वौ—बन्धः, मुक्तिश्च । शरीरत्रयेहृद्ग्रन्थयो बन्धाः, तेषामुद्ग्रन्थयो मुक्तयः ।

६—उर्म्मयः षट्—क्षुधापिपासे, शोकमोहौ, जराव्याधी ।

२—आशयौ द्वौ—प्रज्ञापाणौ । भावनावासने । कामशुक्रे वा । शुभाशुभावित्यन्ये ।

६—अवस्थाः षट्—जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तयः, मोहमूर्छामृत्यवः ।

५—क्लेशाः पञ्च—अविद्याऽस्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः ।

६—कर्म्माणि षट्—यज्ञतपोदानानि, इष्टापूर्तवत्तानि ।

३—विपाकास्त्रयः—जात्यायुर्भोगाः ।

(३०)

ईश्वराभेदः प्राप्नोति। 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति' इति श्रुतेरस्य पुंसो विदितात्मनः परमात्मनैकीभावसिद्धेः। न चान्तरेण परमात्मप्रसादं मनुष्यस्यात्मसाक्षात्कृतत्वं सम्भवति।

"नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्"॥

इति श्रुतेः परमात्मनैव क्रियमाणस्य परमात्मद्रष्टृत्वश्रवणात्। तथा च कस्तावन्नैसर्गिकबुद्धिचतुष्टययोगिनोऽस्य कृष्णस्य वासुदेवस्याच्युतभक्तत्वे शङ्कावसरः। चतुर्विधबुद्धिसम्पन्नत्वाच्चायं योगेश्वरः श्रीकृष्णो भगवानिति व्यपदिश्यते—

"ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः।
ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा"॥

इति स्मरणात्। अभियुक्ता अप्याहुः—
"वैराग्यं ज्ञानमैश्वर्यं धर्मश्चेत्यात्मबुद्धयः।
बुद्धयः श्रीर्यशश्चेति षड् वै भगवतो भगाः" ॥ १ ॥ इति

अन्यत्रापि स्मर्य्यते—
"उत्पत्तिं प्रलयं चैव भूतानामागतिं गतिम्।
वेत्ति विद्यामविद्यां च स वाच्यो भगवानिति"।

"वेत्ति विद्यामविद्यां च" इत्युक्त्या तस्याष्टविधबुद्धिप्रयोगे स्वातन्त्र्यमुपलभ्यते। अविद्याबुद्धिचतुष्टये वृत्तिनिर्वाहकत्वेन तस्य पुंसो मनुष्यत्वम्, विद्याबुद्धिचतुष्टयनिर्वाहकत्वेन त्वेतस्यैव पुनरीश्वरत्वं शक्यमुपख्यातुम। जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिभिः मोहमूर्च्छामृत्युभिः, क्रममुक्तिसद्योमुक्तिभ्यां चाष्टावस्थत्वं मनुष्यलक्षणम् क्षुधापिपासाभ्यां शोकमोहाभ्यां जरामृत्युभ्यां षडूर्मिशालित्वं मनुष्यलक्षणम्। स्त्रीपुरुषभेदाभ्यामर्द्धेन्द्रत्वं मनुष्यलक्षणम। नियतेन्द्रियत्वं मनुष्यलक्षणम्। अथ सर्वेन्द्रियत्वं पूर्णेन्द्रत्वममूर्त्तित्वं सत्यकामसत्यसंकल्पत्वमेकरसत्वं क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टत्वं चेश्वरलक्षणम्। ज्ञायते चैतस्मिन् भगवति कृष्णेऽपि युद्धादिलोकवृत्तं मनुष्यत्वलक्षणम्, विश्वरूपप्रदर्शनाद्यलौकिकवृत्तं त्वीश्वरलक्षणम्। तत्र तावद्— ईश्वरस्य सतो लोकवृत्तानुष्ठानं तु सर्वतन्त्रस्वतन्त्रेऽनाक्षेप्यं भवति।

उक्तं च भगवता गीतायाम्—

"नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त्त एव च कर्मणि" इति।

आनन्दविज्ञानमनः प्राणवाङ्मयस्य जगत्स्रष्टुरीश्वराव्ययस्य नित्याप्तकामस्याधिमनोऽवच्छेदेन सिसृक्षा-मुमुक्षादिसत्यकामोदयवदस्य मानुषरूपस्यापि योगेश्वरकृष्णस्य प्रति-

बुद्धपञ्चकलाव्ययपुरुषस्य मनोवच्छेदेन सत्यकामोदयादिच्छासत्त्वेऽपि वा प्राप्तार्थत्वमिति नित्योद्बुद्धविद्यात्मनस्तस्येश्वररूपत्वं सिद्धं भवतीति दिक् ।

यद्यपि साक्षात्कृतधर्माण कतिपये महर्षयो योगीश्वराश्च प्रागभूव ते चापि शक्यन्ते भगवन्त इतिव्यपदेष्टुम् ।

"उत्पत्तिं प्रलयं चैव भूतानामागतिं गतिम् ।
वेत्ति विद्यामविद्यां च स वाच्यो भगवानिति ॥"

इति भगवल्लक्षणलक्षितत्वात्; तथाप्यत्र भगवत्त्वाच्युतभगवत्त्वाभ्यां भेदो द्रष्टव्यः । तथा हि—इतरेषां तावदेषां भगवतामेकैकद्वारकबुद्धियोगयोगित्वात् सत्यपि भगवत्त्वेऽच्युतत्वं नोपपद्यते इति ब्रूमः । श्रीकृष्णस्य तु भगवतो बुद्धियोगचतुष्टयमहिम्ना निरस्तयोगमायावरणतया—

"ऐश्वर्य्यस्य समग्रस्य धर्म्मस्य यशसः श्रियः ।
ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा ॥"

इत्येवं षड्विधैश्वर्य्यादि संपत्तिलक्षणेनातिशयितेऽच्युतभगवत्त्वमध्यवसीयते। जीवत्वप्रयोजकगुणविकारादिसर्वविधाव्ययात्मावरणरहिततया सर्वदा प्रतिबुद्धेश्वरभावत्वं हीदमच्युतभगवत्त्वं नाम । अत एवास्य पूर्णावतारत्वमाहुः । अतश्चायमतिशेते सर्वेभ्यो भगवद्भ्यः, अच्युतभगवत्त्वस्यानन्यगामित्वात् ।

॥ इति अच्युतभगवत्त्वलक्षणं महापुरुषत्वम् ॥ ३ ॥

---

१ ईश्वरांशस्य जीवात्मत्वापादकः पञ्चपर्वा कश्चिदविद्याधर्म्मः क्लेशाख्यः । तन्निवर्तनोपायो बुद्धियोगश्चतुर्धा—वैराग्यबुद्धिः, ज्ञानबुद्धिः, ऐश्वर्य्यबुद्धिश्चेति । तदेकैकसंपन्नो भगवान्नाम । यस्तु निसर्गात् चतुर्विधबुद्धियोगसंपन्नः सोऽच्युतभगवानित्युच्यते । स एष श्रीकृष्णस्तया विज्ञायते । अतः स जीवलक्षणाद्बहिर्भूत एवाभिपद्यते स्म ।

४-पुरुषोत्तमत्वम् ।

"अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम् ।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्" ॥

इति गीताप्रदर्शितविधया यद्यप्येष भगवान् श्रीकृष्णः साधारणजनैर्मनुष्यरूपेणैव प्रायेण समभाव्यत, तथापि तात्कालिकैः कृष्णद्वैपायनादिभिः पुराणैर्भगवद्भिर्महर्षिभिः प्राक्प्रदर्शितचतुर्विधवैलक्षण्योपपत्त्या परमेष्ठिलक्षणेश्वरविवर्ताभेदेनैवाभिष्टूयते स्म । स्वयंभू-परमेष्ठि-सूर्य्य-चन्द्र-पृथ्वीति पञ्चैता ब्रह्ममूतयः खल्वेवस्यैव परमप्रजापतेरीश्वरस्य विभूतयो विज्ञायन्ते । अतश्चैतेन परमेष्ठिमूर्तेरवताररूपतयाभिष्टुतोऽयं श्रीकृष्णस्तदात्वे चाद्यत्वे च विशिष्ट प्रज्ञैर्बहुभिरीश्वरत्वेन प्रतिपद्यते । दृश्यते ह्यस्मिन्नलौकिकविभूतिमत्त्वं सर्वातिशायि-श्रीमत्त्वं परमोर्जितभावत्वं चेति त्रितयमस्येश्वरभावे प्रमाणम् ।

"यद्यद् विभूतिमत् सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा ।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसंभवम् ॥"

इतीश्वरकृष्णोक्तेरेषां त्रयाणामीश्वररूपत्वादेवोपपन्नत्वावगमात् ।

तत्र विभूतिमत्त्वमेतस्य कृष्णस्य यशोविशेषमाहात्म्यात् सार्वभौमजीवहृदयाभिव्याप्त्यात्मकत्वं ज्ञेयम् । श्रीमत्त्वं चैतस्य परिपूर्णाव्ययानावरणवशादुपपन्नमैश्वर्य्यादिषड्विधभगवत्त्वलक्षणं बोध्यम् ।

"ऐश्वर्य्यस्य समग्रस्य धर्म्मस्य यशसः श्रियः ।
ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा" ॥ इति हि षड् भगरूपाणि ।

अथ परमोर्जितात्मत्वमेतस्य जगद्गुरुत्वादुपपद्यते ।

जगद्गुरुत्वं त्वपूर्वार्थोपदेशकत्वादस्योक्तम् । अव्ययलक्षणं ब्रह्म, बुद्धियोगलक्षणं कर्म्म-इत्येतदपूर्वं हि गीतायामर्थद्वयं व्याख्यातम् । आत्मनः सुखभोगकारणं चेहापूर्वं ज्ञानकर्म्मणोः समीकरणमाख्यातम् । तथा च परमोर्जितात्मनः श्रीमतो विभूतिमतश्चैतस्याच्युतभगवतः श्रीकृष्णस्येश्वर रूपतोपपत्त्या सर्वजीववैलक्षण्यमस्तीति पुरुषेषूत्तमत्वात्पुरुषोत्तमत्वं ब्रूमः ।

निरस्तयोगमायावरणोऽयमव्ययः पुरुषः साक्षादस्तीति पुरुषोत्तमत्वं निर्विवादम् ।

"यस्मात् क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः" ॥

इति स्मृत्या तस्याव्ययस्य पुरुषोत्तमत्वसिद्धान्तात् ।

बभूवुरद्यापि भवन्ति भूतले पुनर्भविष्यन्ति परेऽपि मानुषाः ।
ते वासुदेवस्य न षोडशीं कलामर्हन्ति साम्येऽद्भुतदिव्यकर्मणः ॥

इति पुरुषोत्तमत्वलक्षणं
महापुरुषत्वं भाव्यम् ॥ ४ ॥

९-आधिकारिकपुरुषत्वम् ।

(आधिकारिकपुरुषलक्षणम्)

अथैतस्मिन मानुषरूपयोगेश्वरकृष्णे भूयसा परमेष्ठिकृष्णसाधर्म्योपलम्भादस्याधिकारिकेश्वरपुरुषावतारत्वं विज्ञायते—तेन चैतस्य कृष्णस्य वासुदेवस्येतरमनुष्यवत् सांसारिकजीवत्वं नास्तीति दीर्घदर्शिनां महर्षीणां संप्रतिपत्तिः । तदिदमस्याधिकारिकपुरुषत्वं व्याख्यास्यामः । तच्चेश्वरपुरुषत्वसमानाधिकरणं जीवपुरुषत्वमिति विद्यात् ।

प्राणविशेषस्य पुरुषत्वम्

"पुरुष एवेदं सर्वं यद् भूतं यच्च भव्यम्" (ऋ० सं० १०।९०) इत्याहुः । महिम्नां, पाप्मनां बीजग्राम-देवग्राम-भूतग्रामाणां चैको निकायः पूः, पुरि वसन् ब्रह्मप्राणः पुरुष इति संज्ञायते । "पुरुषो ब्रह्मप्राण एषः । स पुरि शेते । पुरि शयं सन्तं प्राणं पुरुष इत्याचक्षते" इति गोपथे १०।१।२६। श्रवणात् ।

पुरुषस्य प्रजापतित्वम्

पुरुषोऽयमात्मा । स खलु सोपकरणः प्रजापतिरित्याख्यायते ।

"पुरुषः प्रजापतिरभवत्—अयमेव स योऽयमग्निश्चीयते ।
स वै सप्तपुरुषो भवति ।" श० ६ का०।१ प्रपा०।१ ब्रा०।५ कं० ।

"इमे च वै लोका दिशश्च प्रजापतिः ।" श०६।२ प्र०।३।११।

"यद्व किञ्च प्राणि स प्रजापतिः"

"प्रजापतिर्ह्य वेदं सर्वमनु" श० ४।४ प्र०।६।१३।

इत्यादिश्रुतिभ्यः सर्व एवायमेकैकोऽर्थः समष्टिर्वा व्यष्टिर्वा पुरुषः प्रजापतिरिति विद्यात । समष्ट्यात्मा स एक एवायमादिपुरुषः प्रजापतिः कालेन द्वेधाऽभिज्ञायते—ईश्वरो जीवश्चेति । तयोः प्रत्येकं त्रैविध्यात् षट् प्रजापतयोऽनुकल्पन्ते—

१ परमेश्वरः ।	४ आधिकारिको जीवः ।
२ विश्वेश्वरः ।	५ सांसारिको जीवः ।
३ आधिकारिकेश्वरः ।	६ अगतिको जीवः—इति भेदात

परमेश्वरः ।

तत्रादौ परमेश्वरो निरूपणीयः । अनन्तबलमयः सच्चिदानन्दघनो दिक्कालाद्यनवच्छिन्नोऽनन्तकालाख्यः कश्चिदेको विश्वव्यापी भूमा परात्पर इत्याख्यायते, स परमेश्वरः । श्रूयते हि—

---

१ जीवपुरुषत्वमवतीर्णत्वाज्ज्ञैर्भाव्यमानं द्रष्टव्यम् ।

"उभयम्वेतत् प्रजापतिः—निरुक्तश्चानिरुक्तश्च,
परिमितश्चापरिमितश्च" इति शत० ७।२ प्र० ।२।३०।

तत्र खलु योऽयमनिरुक्तश्चापरिमितश्च प्रजापतिः, स परमेश्वरो नामैकः कालात्मा प्रतिपत्तव्यः। अपरिमितत्वाच्चैष न द्वित्वमापद्यते। परिमितार्थग्राहित्वं हि मनसः स्वभावो भवति, तस्मान्नैष मनसा ग्रहीतुं शक्यः, परिमितार्थानुभाविनो मनसोऽपरिमितार्थे पर्य्याप्त्ययोगादपरिमितार्थस्वरूपयाथातथ्यग्राहित्वासंभवात्। वाक् च मनसः कृतानुकरा श्रूयते— "यन्मनसा मनुते तद्वाचा वदति" इति। शत० तस्मान् मनोविषयत्वाभावे वागप्यसमर्था भवति। तथा ह्यस्य वाङ्मनसागोचरत्वं श्रूयते—

"सं चिदन्ति न यं वेदा विष्णुर्वेद न चा विधिः ॥
यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह ॥१॥
यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः ॥
अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम्" ॥२॥ इति ॥ केन० २।३।

मनसा गृहीतं मतम्। अव्यवसायबुद्ध्या गृहीतं विज्ञातम्। इन्द्रियाधिष्ठितमनः संपरिष्वक्ता व्यवच्छिन्ना बुद्धिरव्यवसायः। मनोनिरपेक्षा तु निष्कैवल्या बुद्धिर्व्यवसायः। 'नैष भूमा मनसा मेऽवरुध्यते'—इत्येवं यो मनुते, स मनसो भूम्नश्च पारस्परिकमयोग्यत्वं मनसा गृह्णन् एवं मनुते। तस्मात्तस्य तद् ब्रह्म मतम्। एवं प्रेक्षापूर्वकारिभिर्विचारसहकृतमनसा गृहीतमविदितमेवैतद् विदितम्। व्यवसायबुद्ध्या तु स भूमा गृह्यत एव। अत एव—

"यद्वै मनुष्याणां प्रत्यक्षं तद्देवानां परोक्षम्। अथ यन्मनुष्याणां परोक्षं तद्देवानां प्रत्यक्षम्"। ताण्ड्य० २३।१०।३। इति श्रूयते ॥

स्मर्य्यते च—"या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी" इति। अतश्चैष परमेश्वरो नूनमचिन्त्योऽर्थो मनुष्याणाम् ॥ ॥

स एव खलु परमेश्वरोऽनन्तविश्वब्रह्माण्डोत्पत्तिक्षेत्रभूतो बलवद्रसघनोऽनन्तः कालपुरुषो विष्णुपुराणादौ व्याख्यातः। काले काले तानि तानि विश्वान्येष जनयति, स्वस्मिन् धारयति, स्वस्मिन्नेव काले विलापयति, पुनरुत्पादयति चेति विद्यात्।

विश्वेश्वरः।

अथ विश्वेश्वरो वक्तव्यः। प्रजापतिरात्मन्येव प्रजातिमधत्तेति सिद्धान्तादयमनवच्छिन्नो विश्वातीतः परमेश्वरः कालेनात्मनि तत्तद् विश्वं जनयित्वा तेन तेन विश्वेनावच्छिन्नमात्मानमेव तत्तद् विश्वाधिष्ठातारं तं तमेकैकमीश्वरं कल्पयामास। स एव एकैकस्य

विश्वस्याधिष्ठाता विश्वेश्वरो द्रष्टव्यः । मायाबलावच्छिन्नो विश्वव्यापकनियन्त्रणलावच्छिन्नत्वं विश्वाधिष्ठातृत्वम् । विश्वविशिष्टधर्मविवक्षायां विश्वेश्वरत्वेन पृथगभ्युपेतस्यापि तस्य परमेश्वराभिन्नत्वं न व्याहन्यते । विश्वस्योपाधित्व विवक्षायां विश्वोपहितस्य तस्य परमेश्वरानतिरिक्तत्वोपगमात् । विवक्षावशात्त्वेष विश्वेश्वरोऽवश्यं भिद्यते । तेनैतं विश्वेश्वरं यज्ञपुरुषमव्ययं विद्वान्, कालपुरुषभिन्नत्वविवक्षायां सर्वविधस्य पुरुषस्य यज्ञपुरुषत्वेन विवक्षितत्वात् ।

तं चैत विश्वेश्वरमविचालित्वेन कन्ननिरूढत्वाद् नानाशाखाप्रशाखोपेतत्वाच्च तत्त्वरूपविज्ञानानुविधृतया महावृक्षत्वेन तावदुपकल्पयन्ति । तथा हि श्रूयते—

"यस्मात् परं नापरमस्ति किञ्चित् यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति किञ्चित् ।
वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्" ।। इति नारायणोपनिषत् ।

अयमाशयः । अश्वत्थवटोदुम्बराणां कल्पवृक्षतया देववृक्षतया चोत्तमवृक्षत्वात्तेषामन्यतमस्याश्वत्थवृक्षस्य च—

"अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणां च नारदः" । अश्वत्थं प्राहुरव्ययम्"—
इत्येवमीश्वरविभूतित्वेन भगवताख्यातत्वादव्ययपुरुषनिकायत्वमुपगम्यते ।
अत एवैतमव्ययं पुरुषमश्वत्थवृक्षेणोपमिमते, उभयोरश्वत्थताधर्मसादृश्यात् । तथा हि—

अस्याश्वत्थशब्दस्य प्रकृतेस्त्रिभिरर्थैरुपयोगः । प्रथमस्तावत् "शुनं हुवेम मघवानमिन्द्रम्"—इति मन्त्रश्रवणात् सर्वाकाशपरिव्यापी निःसीमः कश्चिदिन्द्रः सर्वमिव शून्यप्रदेशानेकान्ततः पर्याक्रामन्नवगम्यते । अस्मा एव शुने हितं शून्यमिति महर्षीणामभिमानात् । सर्वत्राविनाभूतोऽयमर्थः साधारणलोके "ईथर"—इत्युच्यते । इन्द्रशब्दविकारोऽयमीथरशब्दः । सोऽयं श्वयतीति श्वाऽनवच्छिन्नो भावः । तस्मिन् शुनि विद्यमानो योऽयमन्यः परिच्छिन्नो भावो विश्वनाम तमश्वानं ब्रूमः । तमश्वानं विश्वमेधितिष्ठतीति स विश्वाधिष्ठाता कश्चिदर्थोऽयमश्वत्थः । तमेवैतमर्थं प्रश्नोत्तराभ्यां श्रुतिरनुलक्षयति—

"किं स्विद्वनं क उ स वृक्ष आस यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः ।
मनीषिणो मनसा पृच्छतेदु तद् यदध्यतिष्ठद् भुवनानि धारयन् ।।
ब्रह्म वनं ब्रह्म स वृक्ष आस यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः ।
मनीषिणो मनसा विब्रवीमि वो ब्रह्माध्यतिष्ठद् भुवनानि धारयन् ।।" इति ।

शुन एव हि मात्रामुपादायोपादायेदं विश्वं विनिर्मितमिति मन्त्रतात्पर्य्यम् । "तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्" इत्याह स यावदनुप्राविशत् तावदेवेदमध्यतिष्ठत् । सोऽपरिच्छिन्नः परिच्छिन्नमधितिष्ठतीत्यश्वत्थो नाम ।।१।।

अथ द्वितीयः । पृथिवीमधितिष्ठन्तः सर्वेऽमी वृक्षा केनचिदंशेन बुध्नरूपेण पृथिव्यामन्तः प्रविष्टाः पृथिव्या बद्धा निष्टब्धाः प्रतितिष्ठन्ति । एकस्त्वयमश्वत्थो वृक्षः पृथिवीमधितिष्ठन्नात्मना विश्वं परिगृह्णन्नपि नैतया पृथ्व्या ऽन्तर्णीयते । उपरिष्टादेव तु पृथिव्या उपस्थेऽनासक्त इव प्रथत इति झञ्झावातेनोद्वापप्रसङ्गे विज्ञायते । एवं हि स भगवानीश्वरः पुरुषोत्तमो विश्वमधितिष्ठन्नात्मनः विश्वं परिगृह्णन्नपि नैतेन विश्वेनान्तर्णीयते । उक्तं च-नत्वहं तेषु ते मयि"।

> "पुरुषः स परः पार्थ ! भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया
> यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम् ।।८।२२।।
> मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना ।
> मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः" ।।९।४३।।

इत्यादि । यथा खल्वयमार्द्र मृत्पिण्डः कुड्ये क्षिप्तः कुड्यमनुषज्जते, कुड्यं नात्मनि धीयते, यथा वायुमुत्पन्नो बुद्बुदो जलाशये कञ्चिदंशमनुषज्जते, जलाशयेनात्मनि धीयते । एवममर्मिर्भिर्नवच्छिन्ने भूमन्यव्ययेऽव्यक्तात्मनोत्पादितमिदं विश्वं क्वचितदनुषज्जते-अव्ययेनात्मनि धीयते न त्वयमव्ययात्मा तेन विश्वेनान्तर्णीतो वशीक्रियते । स यथाऽयमश्वत्थो नामाव्ययो विश्वेनासम्बद्धः सम्बध्नाति, एवमयं लोके वृक्षविशेषः पृथिव्या ऽनया नूनमसम्बद्ध एव सम्बध्नातीति सादृश्यादिवैतं पुरुषशब्दं भजते—अश्वत्थमिति । अश्वत्थ पुरुषवदयं वृक्षोऽस्तीत्यश्वत्थो नाम । सोऽयं शब्दो वृक्षे भक्त्या प्रयुज्यते । व्यपदेशेन चानेन सादृश्य महिम्ना प्रत्यक्षदृष्टो वृक्षगुणोऽमुष्मिन्नप्रत्यक्षे महेश्वरेऽध्यवसाययितुमिष्यत इत्युपयोगो भाव्यः ।

अथ तृतीयः । अश्वः पशुविशेषः । अश्ववत् तिष्ठति, सोऽश्वत्थः ।

आदित्योऽप्सुयोनिः सन्नुभयोर्योगाद् द्यावापृथिव्योः पशुरश्वो नाम जायते । तेन बलेनायं तिष्ठतीत्यादित्यरूपाश्वेऽवस्थानाद्धेतोर्वृक्षविशेषोऽयमश्वत्थ उच्यते । अथ अपां पुष्करपर्णमियं पृथिवी रथन्तरसामान्ता । तत्रान्तः प्रविष्टोऽयमादित्याग्निरश्वयत् । सोऽयमश्वोऽभवत् । श्रूयते हि—

"अग्निर्देवेभ्य उदक्रामत् । सोऽपः प्राविशत् । ते देवाः प्रजापतिमब्रुवन् — त्वमिममन्विच्छ । स तुभ्यं स्वाय पित्रे आविर्भविष्यतीति । तमश्वः शुक्लो भूत्वाऽन्वैच्छत् । तमद्भ्य उपोदासृप्तं पुष्करपर्णे विवेद ।" असौ वा आदित्य एषोऽश्वः ।" शत० ।७।२।प्र० ४।१३-१४।

सोऽयमादित्यो नामाश्वः स्वस्मादूर्ध्वं द्वे अमृते धारयति-परमेष्ठिनं स्वयंभुवं च । अथाधस्ताद् द्वे मर्त्ये धारयति-चन्द्रमसं च पृथिवीं च । तदित्थं स्वयंभुवमारभ्य पृथिवीं

यावत् पञ्च प्रजापतीनयमेकोऽव्ययः प्राणो धत्ते । सोऽयं प्राणो मध्यस्थेऽस्मिन्नश्वे तिष्ठतीति कृत्वा भवत्यश्वत्थो नाम । अपि च—

"त्रिपादूर्ध्व उदैत् पुरुषः पादोस्येहाभवत्पुनः" इति श्रवणादयमीश्वरोऽव्ययपुरुषः पादेनैकेन विश्वरूपमादधानस्त्रिभिः पादैरविकृतरूपेणावतिष्ठते । त्रिभिरेव च पादैरयं लोकेऽश्वः प्राणिपशुस्तिष्ठन् भवति । तथा चायमीश्वरोऽप्यश्ववत् तिष्ठतीति व्युत्पत्त्याऽश्वत्थ उच्यते । श्रूयते हि विश्वेश्वरस्यैतदश्वत्थत्वम्—

"ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः ॥
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते ।
तस्मिन् लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन" ॥ इति ॥

सप्तलोकाधारभूतश्चायमश्वत्थो वेदकृतात्माऽव्ययप्राणो द्रष्टव्यः । तथा हि स्मर्य्यते—

"ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम् ।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित्" ॥ (भ०गी०) इति ॥

पारमेष्ठ्यमण्डलान्तर्गतयोर्ब्राह्मणस्पत्यबार्हस्पत्यमण्डलयोः प्रसूताभ्यां भृग्वङ्गिरोभ्यां सोमाग्निभ्यां योगेन संप्रसूतानामोषधिप्राणानामस्मिन्नेवाश्वत्थवृक्षे तृतीयस्यां दिवि महर्लोकेऽवस्थानमुपपद्यते । तदेतद् विज्ञानं दर्शयति श्रुतिः—

"अश्वत्थे वो निषदनं पर्णे वो वसतिष्कृता ।
गोभाज इत् किलासथ यत् सनवथ पूरुषम्" ॥ इति ऋ०सं०म०१०सू०९७।५।
"अश्वत्थो देवसदनस्तृतीयस्यामितो दिवि ।
तत्रामृतस्य चक्षणं ततः कुष्ठो अजायत" ॥ इति अथर्व (१९।५।३९।६)
(५।१।४।३), (६।१०।९५।१)

आथर्वणोऽयमश्वत्थः सोमत्वेनोपवर्णितः । यत्र त्रयोऽग्नयस्तत्र द्वौ सोमौ नियतं स्थितौ—इति पश्यामि । "अत्राह तद्वहेथे मध्व आहुतिं यमश्वत्थमुपतिष्ठन्त जायवः" (ऋ०१म. १३५ सू. ८ म०) इति ऋङ्मन्त्रेपि अश्वत्थः सोमत्वेन व्याख्यातः ।

अश्वत्थवल्शानामसंख्यत्वेऽप्येषोऽश्वत्थः सहस्रवल्शत्वेनोपाख्यायते—

"दिवः शिल्पमवततं पृथिव्याः ककुभि श्रितम् ।
तेन वयं सहस्रवल्शेन सपत्नं नाशयामसि" (तै.ब्रा. ३ का.३.प्र.२-अनु)

इति मन्त्रश्रुत्या तथैव तात्पर्य्यावसायात् । अत्र च सहस्र शब्दोऽयमनिर्धारितसंख्याभिप्रायः । तथा च सहस्रवल्शोऽयमेकोऽश्वत्थो विश्वेश्वरः प्रतिपत्तव्यः ॥

अश्वत्थवल्शायाः पञ्चपुण्डीरत्वम् ।

तासाञ्च वल्शानामेकैका वल्शा पञ्चपुण्डीराभिज्ञायते । वल्शास्वरूपसमर्पकयोः प्रकृतिपुरुषयोः पञ्चधा विभक्तत्वात् । वल्शाविभक्तिमूलं पुण्डीरम् ।

"यदक्षरं पञ्चविधं समेति" इति मन्त्रश्रुत्या पञ्चविधेष्वक्षरेषु ब्रह्मविष्ण्विन्द्रसोमाग्निष्वन्वाभक्ताभिः- प्राणः, आपः, वाक्, अन्नम्, अन्नादः-इत्येताभिः पञ्चभिः प्रकृतिभिर्व्यवच्छेदात् पञ्चपुण्डीराणि जायन्ते—स्वयम्भूः, परमेष्ठी, सूर्य्यः, चन्द्रः, पृथिवीति ।

सप्तलोकमयवल्शायास्त्रिलोकीविश्वत्वम् ।

तत्रेयं पृथिव्येव पृथिवी, स्वयंभूर्द्यौः ।

"इमे एव द्यावापृथिवी अन्तरा सूर्य्यस्तपति" ।

"एष इमौ लोकावन्तरेण पवते"— । शत० ।७।२। प्रपा०।३।१।

इति हि श्रूयते। द्यावापृथिवीशब्देन मध्यस्थमन्तरिक्षमपि संगृह्यते। तेन पृथिव्यन्तरिक्षं द्यौरित्येतत्त्रैलोक्यं द्यावापृथिवीत्वादेकं विश्वं भवति । विश्वशब्दस्य द्यावापृथिव्योरैकात्म्ये रूढत्वात् । श्रूयते हि —"इमे द्यावापृथिवी विश्वरूपे" । शत० ।५।१।५।२६। इति । लोकत्रयं चेदं प्रत्येकं त्रेधाकृतं श्रूयते—

१ "तिस्रो मातृस्त्रीन्पितॄन् विभ्रदेक ऊर्ध्वस्तस्थौ नेमवग्लापयन्ति ।
मन्त्रयन्ते दिवो अमुष्य पृष्ठे विश्वविदं वाचमविश्वमिन्वाम् । ऋ० १।१६४।१०।

२ तिस्रो द्यावः सवितुर्द्वा उपस्थां एका यमस्य भुवने विराषाट् ॥
आणिं न रथ्यममृताधि तस्थुरिह ब्रवीतु क उ तच्चिकेतत् । ऋ० १।३५।६।

३ तिस्रो भूमिर्धारयन् त्रीँरुतद्यून् त्रीणि व्रता विदथे अन्तरेषाम् ॥
ऋतेनादित्या महि वो महित्वं तदर्य्यमन् वरुण मित्र चारु । ऋ० २।२७।८।

४ तिस्रो द्यावो निहिता अन्तरस्मिन् तिस्रो भूमीरुपराः षड्विधानाः ॥
गृत्सो राजा वरुणश्चक्र एतं दिवि प्रेङ्खं हिरण्ययं शुभे कम्" । ऋ० ७।८७।५

तत्र भूः, भुवः, स्वः-इति रोदसी त्रिलोकी पृथिवी । स्वः, महः, जनत्-इति क्रन्दसी त्रिलोकी अन्तरिक्षम् । जनत्, तपः, सत्यम्—इति संयती त्रिलोकी द्यौः । स्वर्जनतोर्लोकद्वये ऽभिनिवेशात् सप्तैव लोकाः सिध्यन्ति । अथवा भूः पृथिवी, भुवः अन्तरिक्षम्, स्वः द्यौः । अथ भूर्भुवःस्वः पृथिवी । महरन्तरिक्षम्, जनद् द्यौः । अथ जनत्पर्य्यन्तं पृथिवी । तपोऽन्तरिक्षम् । सत्यं द्यौः—इत्येवं त्रैलोक्यं भावयेत् । एतदभिप्रायेणैव श्रूयते—

"या ते धामानि परमाणि याऽवमा या मध्यमा विश्वकर्मन्नुतेमा ।
शिक्षा सखिभ्यो हविषि स्वधा वः स्वयं यजस्व तन्वं वृधानः ॥ ऋ० १०।८१।५।

संयती-लोकाः परमं धाम । क्रन्दसी-लोका मध्यमं धाम । रोदसी-लोका अवमं धामेति विद्यात् । त्रैलोक्यगर्भेऽपि त्रयाणां पिण्डानां पृथिवीत्वं नेयम् । यथाह ब्राह्मणश्रुतौ—

"तिस्रो वा इमाः पृथिव्यः । इयमहैका । द्वे अस्याः परे । शत० ५।१।५।२१। चन्द्रः सूर्य्यश्चेति द्वे अस्याः परे पृथिव्यौ । सेयमेतावती सप्त-लोक-लक्षण-त्रिलोकी भवत्यश्वत्थस्यैका वल्शा । तदेकं विश्वम् ।

सहस्रं वल्शा एकमश्वत्थलक्षणं महाविश्वम् । तस्याधिष्ठाता पुरुषो महाविश्वेश्वरः । अथैका वल्शाऽप्येकं विश्वम् । तस्याध्यक्षः पुरुषो वल्शाविश्वेश्वरः । अथैतस्य वल्शाविश्वस्यापि येऽवान्तरा लोकविभागाः, तेषामेकैकस्यापि पुण्डीरलक्षणस्याध्यक्षो विश्वेश्वरः । इत्थ त्रेधा विश्वेश्वरः प्रकल्पते । स त्रिविधोऽप्ययमेक एव पुरुषो यस्तावदश्वत्थविश्वेश्वरो यश्चायं वल्शाविश्वेश्वरो यः पुनरयं खण्डविश्वेश्वर इति । एक एवाक्षरपुरुषः प्रकृतिब्रह्मशुक्रपुरादिभेदनिबन्धनाव्ययभेदविवक्षया भेदेन गृह्यते । योऽक्षरो यावन्तं विश्वभागं निग्रहानुग्रहाभ्यामीष्टे-नियन्त्रयति, तन्त्रायी भवति, स तत्र विश्वेश्वरो विज्ञायते ।

विश्वेश्वरानुगृहीतानां वल्शानामनन्तत्वेऽप्येनामास्माकीनामेकां वल्शां व्याख्यास्यामः ।

ब्रह्म त्रेधा विवर्तते—अमृतं प्रथमजं शुक्रं च । अमृतं चतुर्धा—परात्परं परं परमं प्रकृतिश्चेति । परात्परं ब्रह्म असीमम् । परं ब्रह्माव्ययम् । परमं ब्रह्माक्षरम् । प्रकृतिब्रह्म क्षरम् ।

तत्राव्ययालम्बितमक्षरं पञ्चविधम्—ब्रह्मा, विष्णुः, इन्द्रः इत्येते त्रयोऽन्तर्य्यामिणो हृद्याः । अग्निः, सोमः, इति द्वौ सूत्रात्मानौ पृष्ठ्यौ । तेषु हृद्यत्रयमेवानु पृष्ठ्यद्वयं संप्रवर्तते । ब्रह्माणमध्याश्रितो विष्णुस्तमध्यालम्बते सोमः । विष्णोः पश्चाद् ब्रह्माणमेवाध्याश्रित इन्द्रः । एतमध्यालम्बते त्वग्निः ।

तस्मान्नातिरिच्य हृद्यान् पृष्ठ्यानां पृथग् व्यक्तिः । हृद्यैस्त्रिभिः समन्वितैरेवायमेकैक आत्मोपपद्यते जीवानां चेश्वराणां च । हृद्यत्वादन्तरात्मायम् । स वा एष आत्मा आनन्दमयो विज्ञानमयो मनोमयश्च प्रतिपत्तव्यः । हृद्यास्त्रयोऽक्षरा आनन्दविज्ञानमनांस्यव्ययभक्तीरालम्बन्ते । अस्यैवान्तरात्मनः पुनराभ्यां पृष्ठ्याभ्यां शरीरमुपजायते । तदिदं शरीरं मनोमयं प्राणमयं वाङ्मयं चोपपद्यते । तथा चैतद् हृदयमन्वात्मग्रामं—देवग्रामं—भूतग्रामाः शरीरम् । मनोमया आत्मग्रामाः कारणशरीरम् । प्राणमया देवग्रामाः सूक्ष्मशरीरम् । वाङ्मया भूतग्रामाः स्थूलशरीरम् । अग्नीषोमौ हैमौ पृष्ठ्यावक्षरौ वाक्प्राणमनांस्यव्ययभक्तीरालम्बेते, पृष्ठ्यत्वा-

देष बाह्यात्मा । स वा एष आत्मा वाङ्मयः प्राणमयो मनोमयश्च । यावन्मनश्चेतना ज्ञानम् । यावान् प्राणस्तच्चेष्टा क्रिया । यावती वाक् तद् भूतमर्थः ।

एतत् त्रितयमग्नीषोमीयम् । तदन्तरतो हृदयम् । इन्द्राविष्णुभ्यां सयुग् ब्रह्मा हृदयम् । एतावान् सर्वसाधारणः पुरुषधर्मः । अयं तु विशेषः—वाक्प्राणमनोमयसोमाग्निसमन्वयतारतम्यविशेषाद्, वैश्वानरतैजसप्राज्ञप्राणस्वरूपोदयवैचित्र्याद्—असंज्ञान्त: संज्ञ-ससंज्ञ भेदेन जीवात्मशरीरत्रैविध्यमुपपद्यते । सर्वसाधारणपुरुषत्रयसंगठनसाम्येऽपि प्रकृतिपाञ्चविध्यात् पञ्चविधाः प्रजापतयोऽजायन्त । तेषु चाग्निप्रजापतित्रैविध्येन त्रिविधानामेव शुक्राहुतीनां संपत्त्या त्रय एव यज्ञप्रजापतय ईश्वराः समपद्यन्त । तत्रापि च—त्रयाणामप्येषां समन्वितानां हृद्यानामेकस्यैव कस्यचिदेकत्रेश्वरशरीरे प्राधान्यमितरयोस्तु तदनुगामित्वम् । अतं एवाधिकारिकेश्वरस्त्रेधा भिद्यते—वाक्शुक्रः प्राणप्रकृतिर्यजुषाग्निरक्षरो ब्रह्माऽन्यः ॥१॥ अपशुक्रः, अपप्रकृतिराङ्गिरसाग्निर्विरणवक्षरो विष्णुरन्यः ॥२॥ अग्निशुक्रः वाक्प्रकृतिभूताग्निरिन्द्राक्षरो महेश्वरोन्यः ॥३॥ इति समुच्चितात्मस्वरूपभेदादिच्छातपः श्रमभेदात्प्रकृतिविकृतिपुरपरिग्रहभेदाच्च । अथैषामेव तारतम्येन योगवैलक्षण्यात् प्रतिशरीरमात्मा भिद्यते जीवानां चेश्वराणां चो

तत्रैतेषां पञ्चानामक्षराणां सनाम्नः क्षरात्मनः प्रकृतयो भिद्यन्ते—

१—ब्रह्मणः प्रकृतिः—विधारणलक्षणः प्राणः, प्रतिष्ठा ।

२—विष्णोः प्रकृतिः—अशनायालक्षणा आपः, यज्ञः ।

३—इन्द्रस्य प्रकृतिः—छन्दोलक्षणा वाक्, हिरण्यम् ।

४—सोमस्य प्रकृतिः—पशुलक्षणमन्नम्, शून्यमूर्ति सहः ।

५—अग्नेः प्रकृतिः—अर्कलक्षणो ऽन्नादः, भैषज्यम् ।

तदित्थं प्राणः, आपः, वाक् अन्नम्, अन्नादः—इति प्रकृतिलक्षणब्रह्मपाञ्चविध्यात् पञ्चपुण्डीरा हीयं वल्शा भवति–स्वयंभूः, परमेष्ठी, सूर्य्यः, चन्द्रः, पृथिवी, इति पञ्च ब्रह्मणो मुखानि, वल्शापुण्डीराणि । पञ्चनामेषां प्रजापतीनां मनःप्राणवाङ्मयानामेका मूर्तिरेकविश्वेश्वरस्तावदेकवल्शाविश्वाधिकृतत्वादाधिकारिकेश्वरो विज्ञायते ।

एष खलु पञ्चपुण्डीरैकवल्शात्मकविश्वाधिकारिकेश्वरः सृष्टिमात्मनि कर्तुं शुक्रं परिगृह्णाति । एवं ही श्रूयते—

"स पर्य्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम् ।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ।"
(य. सं. अ. ४०)

---

१ शुक्रमिदमधस्ताद्विव्रियते ।

कयाचिन् मात्रया परिमितस्य चयनात् पिण्डीभावः कायः । विजातीयद्रव्य समुच्छ्रितं स्नाविरम् । विरुद्धद्रव्यग्रस्तं पापविद्धम् । व्याघातकद्रव्ययोगाद् विशीर्णाङ्गं सव्रणम् । ईश्वरेण परिग्रहावस्थायामेतद्दोषचतुष्टयशून्यत्वं शुक्रस्योपपद्यते, तदाह-शुद्धमिति । अमिश्रितावस्थत्वान्निष्कैवल्यरूपमित्यर्थः । कविरिति भृग्वङ्गिरसोः संज्ञा, "उशना वै काव्योऽसुराणां पुरोहित आसीत्" (ताण्ड्य७।५।२।) कव्यवाहनिरित्यादौ भृगुपरत्वेन, "अग्निनाऽग्निः समिध्यते कविः" इत्यादौ अग्निपरत्वेन च श्रूयमाणत्वात् । एतेन ब्रह्मणि सुब्रह्मणोर्भृग्वङ्गिरसोः साहित्याद् यथेच्छसाधनसम्पत्तिर्लक्ष्यते । सर्वविधरचनासु वाग्व्यवहारेषु सुप्रवीणो वा कविः, दाशतय्यामेतस्मिन्नेवार्थे भूयसा कविशब्दप्रयोगदर्शनात् । मनीषीत्यत्र मनःशब्दः साहित्यनियमात् प्राणवाचोरुपलक्षणम् । मनसा कामयमानः, प्राणेन तप्यन्, वाचा श्राम्यन्नेवेश्वरः सर्वां सृष्टिमातनुते । सृष्टिं कुर्वाणस्त्वेष शुक्रस्यान्तर्धा च बहिर्धा च परितो भवतीति परिभूः ।

"अन्तरं मृत्योरमृतं मृत्यावमृतमाहितम् ।
मृत्युर्विवस्वन्तं वस्ते मृत्योरात्मा विवस्वति" ॥ शत०

इत्येवं विवस्वद्दृष्टान्तमुद्रया सृष्टिविधावारम्भणद्रव्याणां सर्वतोभावेन संधानोपगमात् । इत्थं चैष आधिकारिकेश्वरः शुक्रपरिग्रहेणैवेदं सर्वं भूतं भवद् भविष्यच्चानवरतं व्यदधात्, विधत्ते, विधास्यति चेति भावः ।

तत्रेदं प्रकृतिब्रह्म योनिः, शुक्रं रेतः । तयोर्मिथुनाद् विश्वं प्रजायते । तयोश्चेदं शुक्रं द्विविधम्—अमृतं मर्त्यञ्च । तदुभयं पुनस्त्रिविधम्—वाक्, आपः, अग्निश्चेति—

१—अग्निस्तेजनः, विश्लेषणकृत्, विकाशलक्षणः, उष्णस्पर्शः ।
२—आपः स्नेहनाः, संश्लेषणकृतः, संकोचलक्षणाः, शीतस्पर्शाः ।
३—वाक् छन्दना, नोदनकृत्, कम्पलक्षणा, अस्पर्शा ।

आपो गौः । अग्निर्द्यौः । वाग् गौः,द्यौरित्येतास्तिस्रो मनोता[1] इत्येके । प्रकृतिब्रह्मणां पाञ्चविध्येपि त्रीण्येव ब्रह्माणि अमृतशुक्रैर्युज्यन्त इति भवति वाचा ब्रह्मप्रकृतिः प्राणः । अद्भिर्विष्णुप्रकृतिरापः । अग्निना इन्द्रप्रकृतिर्वागिति ।

तदित्थममृतशुक्रत्रैविध्याद् विश्वत्रैविध्यं संभवति-अमृतवाक्संस्थानं वेदानां प्रजननं स्वयंभुवा ब्रह्मणाऽधिष्ठितं परमं व्योमैकं विश्वम् ॥१॥ अथामृताप्संस्थानं गवां प्रजननं परमेष्ठिना विष्णुनाऽधिष्ठितं महासमुद्रश्चैकं विश्वम् ॥२॥ अथामृताग्निसंस्थानं ज्योतिषां प्रजननं सूर्य्येणम हेश्वरेणाऽधिष्ठितं ब्रह्माण्डं चैकं विश्वम् ॥ ३ ॥

१—मनोतानिरूपणमन्यत्र ।

यथैतस्मिन् परमे व्योम्नि महासमुद्रस्तथास्मिन् महासमुद्रे ब्रह्माण्डं चान्तर्निधीयते। तत्रैतदमृतायां वाचि ओतप्रोतः प्रतिष्ठाप्राणः। अथैतासु अमृतासु अप्सु ओतप्रोता अशनायालक्षणा आपः। अथामृतेऽग्नौ ओतप्रोता छन्दोवाक्। इत्थं च विश्वत्रैविध्यादक्षराधिकारत्रैविध्यमुपपद्यते-स्वयंभूर्ब्रह्मा ऽयमक्षरो नियन्ता परमाकाशं विश्वमीष्टे। परमेष्ठी विष्णुरक्षरो नियन्ता महासमुद्रं विश्वमीष्टे। अथ सूर्योऽयमिन्द्रोऽक्षरो नियन्ता ब्रह्माण्डं विश्वमीष्टे।

मर्त्यानि तु त्रीण्यपि शुक्राण्यस्मिन्नुत्तमे माहेश्वरे ब्रह्माण्डे सन्निविशन्ते-सूर्यावच्छेदेनाग्नेः, चन्द्रावच्छेदेनापाम्, पृथिव्यवच्छेदेन च वाचः पर्य्याहितत्वात्। एतैरेव च त्रिभिः सूर्य्यचन्द्राग्निभिर्नेत्रैस्त्रिनेत्रस्य प्रजापतेर्महेश्वरत्वोपगमात्। पृथिवीस्थोयमग्निः सूर्य्याग्नेरतिरिच्यते, सूर्य्याग्नेः शुक्रलक्षणत्वात, पृथिव्यग्नेस्तु अन्नादब्रह्मलक्षणत्वात्।

इत्थं च बलशालक्षणमेकमेवैतद्विश्वममृतशुक्रत्रयानुबन्धभेदात् त्रेधा व्यवच्छिद्यते। एक एव च विश्वेश्वरो विश्वत्रैविध्यादधिकारत्रैविध्येन त्रैविध्यमायाति—

ब्रह्मा, विष्णुः, महेश्वरश्चेति,
१—वागवच्छिन्नो वेदगर्भो विद्यात्मा ब्रह्मा।
२—अबवच्छिन्नो गोविन्दो यज्ञात्मा विष्णुः।
३—अग्न्यवच्छिन्नोऽनेकरूपो, रूपी लिङ्गात्मा महेश्वरः।

रूपिद्रव्यमरूपाणां लिङ्गम्। गम्यते हि हस्तेन च तत्क्रियया चाहष्टो मनोभावः, गम्यते चान्तरबललक्षणः प्राणः। लक्ष्यन्ते चैवं महेश्वरेण रूपिणा विष्णोर्ब्रह्मणश्च व्यापाराः, तस्मान् महेश्वरो मर्त्यविश्वेश्वरः सर्वेषाममृतानां लिङ्गमिति बोध्यम्।

इदमत्रापरं बोध्यम्। पूर्वं पूर्वं शुक्रमुत्तरत्राप्यनुवर्तमानं तत्तद्विश्वरूपप्राप्ते पर्य्याहितमनुषज्यते। द्विविधं हि विश्वरूपं भवति—प्रकृतिवितानो यज्ञवितानश्चेति। तत्राद्यस्मिन् प्रकृतिविताने उत्तराधरक्रमसन्निवेशेनैतानि त्रीणि शुक्राणि सन्निविशन्ते, शुक्रमिन्द्रिययोग्यं प्रकाशद्रव्यम्। शुक्रानुषङ्गसिद्धं विश्वरूपं यज्ञवितानः। तच्चेदं शुक्रं ब्रह्माग्नावेकं वागेव। अथ देवाग्नौ द्वे—आपश्च वाक् च। अथ भूताग्नौ त्रीणि—अग्निश्चापश्च वाक् चेति। तेनैष ब्रह्माक्षरपुरुषः स्वयंभूः प्राणप्रकृतिको वाङ्मात्रेण विश्व व्यापिना शुक्रेण विश्वव्यापिनं प्राणमधीष्टे॥१॥ अथैष विष्णुरक्षरपुरुषो हिरण्यगर्भः परमेष्ठी अप्प्रकृतिको वाक्परिश्रिताभिरद्भिर्द्वाभ्यां विश्वव्यापिभ्यां शुक्राभ्यां विश्वव्यापिनीर्गोलक्षणा आपो अधीष्टे॥२॥ अथायमिन्द्रोऽक्षरपुरुषः सोमाग्निभ्यामक्षराभ्यां परिजुष्टः सन् अक्षरत्रयात्मा चन्द्रपृथ्वीगर्भः सूर्य्यो वागप्प्राणादप्रकृतिको वाक्परिश्रिताभिरद्भिः परिश्रितेऽग्नौ शुक्रेऽधिकरोतीति कृत्वा शुक्रत्रयावच्छेदेनैष महेश्वरो विश्वव्यापि शुक्रत्रयमधीष्टे। नातोऽन्यच्छुक्रमस्ति।

तमेव ऋषिं तमु ब्रह्माणमाहुर्यज्ञन्यं सामगामुक्थशासम् ।
स शुक्रस्य तन्वो वेद तिस्रो यः प्रथमो दक्षिणया रराध ॥ ऋ० १०।१०७।६।

इति मन्त्रेण शुक्रस्य त्रिविधत्वावगमात् । यत्तु भूर्भुवः स्वः इति त्रीणि शुक्राणीत्या-चक्षते, तेषामप्यत्रैव तात्पर्य्यं नेयम् । तथा चाधिकारविशेषाभावात् त्रय एवाधिकारिकेश्वरा निष्कृष्यन्ते—इति बोध्यम् ।

(पञ्चब्रह्ममय्या वल्शाया अग्नीषोमीयत्वम्)

अपि चेदमत्र बोध्यम् । पञ्च—ब्रह्मरूपाया अस्या वल्शाया द्वावेव शरीरनिर्मापकौ बाह्यात्मानौ भवतः—अग्निश्च सोमश्चेति । आदौ मध्ये चान्ते चेति त्रीण्यग्निब्रह्माणि । तदन्तरा द्वे सोमब्रह्मणी ।

अथर्वणोऽयमश्वत्थः सोमत्वेनोपवर्णितः ।
"त्रिविधा अग्नयः सोमस्तरुभेदेन तिष्ठन्ति भिन्नवत् ।"

तत्रैतौ सोममयविग्रहौ परमेष्ठिचन्द्रमसौ अग्नत्वादग्नादेष्वग्निष्वन्याभक्तौ भवतः । परमेष्ठी तावत् स्वयंभूसूर्य्ययोः, अथ चन्द्रमाः सूर्य्यपृथिव्योरान्तरीभवति । नान्तरेण समि-न्धनमग्निः समिन्धे—इत्यग्निसमिन्धनाय तयोरुपयोगः ।

सोमद्वयोपयोगः ।

तत्रायमम्मयः परमेष्ठी पवित्रतमसोमगर्भा गाः सहस्रमदभिर्जनयति । महान्तं चात्मानमुद्भावयन् गुणत्रयसृष्ट्यै विनियुङ्क्ते । अथैष चन्द्रमाः स्वसंयुक्तपरप्रजापतिधर्म्मं गृह्णन्नेकधर्म्मा भवति, अष्टाविंशतिनक्षत्रेष्वधिष्ठाय नक्षत्रधर्म्मा भवति, अतिदूरस्थान्नक्षत्रि-करसानिह पृथिव्यामहरहरावपति । नाक्षत्रिकैरष्टाविंशतिसहोभिर्बीजपिण्डं जनयित्वा ततः प्राणिनां पुत्रपौत्रादीन् जनयति । सहस्रगोदुग्धरसैरोषधीर्जनयित्वा ततोऽन्नैः प्राणिनामेषामा-ध्यात्मिकं यज्ञं निर्वाहयति । प्रज्ञान चात्मानमुद्भावयन् सर्वेन्द्रियव्यापारसमर्थनाय विनियुङ्क्ते ।

(अग्नित्रयोपयोगः)

अथाग्नयोऽप्येते त्रयो वेदानुबन्धभेदाद् भिन्नजातीया दृश्यन्ते । तत्रायम् १—स्वयम्भू-र्ब्रह्माग्निः, यजुराग्निश्च । यजुषः प्राणस्य ब्रह्मरूपत्वात् । "य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषः —सोऽग्निः, तानि यजूंषि" (शत० १०।३।६।१) इति यजुषोऽग्नित्वश्रवणाच्च ।१।

२—अथ सूर्यो देवाग्निः । आङ्गिरसत्वात् । "अङ्गिरा वा अग्निः" शत० ६।३।१।४। "त्वमग्ने प्रथमो अङ्गिरा ऋषिः" (ऋ० १।३१।१) इत्यङ्गिरसोऽग्नित्वश्रवणात् ।२।

३—अथेयं पृथिवी भूताग्निः पाशुकाग्निश्च । मर्त्याग्निप्रभेदैः संवत्सर-कुमार-चित्र-पशुभिश्चीयमानाया भूतमय्याः पृथिव्याः पशव्यत्वात् । चित्राग्निर्हि तानि । तत एव चायं पाशुकाग्निः प्रजायते । पशूनां चाग्नित्वं श्रूयते—

"स एष पशुर्यदग्निः" ।शत० ।१।८।१७। "पशुरेष यदग्निः" ।शत० ८।१।४।७। इति

अग्निं तं मन्ये यो वसुरस्तं यं यन्ति धेनवः (ऋ० ५।६।१) इति ।।३।।

स्थितिगतिलक्षणावाऽऽकाशवायू वाक्प्राणौ यजुरग्निः ।१। अङ्गिनः पिण्डाद् रसतो विस्रंसते इति व्युत्पत्त्या विस्रंसनशीलोऽङ्गिरा अग्निः ।२। द्यावापृथिव्यो रसानामन्योऽन्य-चित्या बहुब्रह्मकात्तरपुरुषो भूताग्निः ।३।

ब्रह्म शुक्रम्

१—प्राणाग्निः- पुरुषलक्षणः । ब्रह्माग्निः । वाक् ।

२—वागग्निः-अङ्गिरोलक्षणः । देवाग्निः । आपः ।

३—अन्नादाग्निः- पशुलक्षणः । भूताग्निः । अग्निः ।

		१	२	३	४	५	
तत्रायं	१—प्राणाग्निः	याजुषाग्निः	ऋताग्निः	ब्रह्माग्निः	स्वयम्भूः		प्रथमः
अथ	२—वागग्निः	आङ्गिरसाग्निः	संवत्सराग्निः	देवाग्निः	सूर्य्यः		द्वितीयः
अथ	३—अन्नादाग्निः	भूताग्निः	कुमाराग्निः	पाशुकाग्निः	पृथ्वी		तृतीयः

तदित्थं ब्रह्माग्निः, देवाग्निः, भूताग्निः इति वा । यजुः, अङ्गिराः, पशुः इति वा । स्वयम्भूः, सूर्य्यः, पृथ्वी इति वा एते त्रयोऽग्नयः, तेषु त्रिभिर्वेदैः सोमाहुत्या जायमानाः पृथगात्मप्राणपशुभिस्त्रिपर्वाणस्त्रयो यज्ञप्रजापतयः सिद्धाः ।।

१—तत्र प्रथमो ब्रह्मा स्वयम्भूः सत्यात्मा—तस्योपनिषद् ब्रह्माग्निः ।
स च विद्याध्यक्षो वाचस्पतिः, वाय्वाकाशरूपः प्राणमयः ।१।

२—अथ मध्यमो विष्णुः हिरण्यगर्भो यज्ञात्मा—तस्योपनिषद् देवाग्निः ।
स च कर्माध्यक्षो गोपतिः भृग्वङ्गिरोरूपः अम्मयः ।२।

३—अथोत्तमो महर्षिः सर्वभूतान्तरात्मा भूतात्मा ।तस्योपनिषद् भूताग्निः ॥
स च अर्थाध्यक्षः पशुपतिः, चित्यचितेनिधेयरूपो वाममयः ।।३।।

प्राणप्रकृतिर्ब्रह्मा । अप्प्रकृतिर्विष्णुः । अथ वागन्नान्नादैस्त्रिप्रकृतिर्महेश्वर इति स्थितिः । प्रकृतिब्रह्मभेदादक्षरपुरुषाणां पञ्चविधत्वेऽपि अमृतशुक्रत्रैविध्यात् त्रय एवामी आधिकारिकेश्वरा व्यवतिष्ठन्ते । द्विविधं हि शुक्रं विज्ञायते—अमृतं च मर्त्यं चेति । उभयेऽपि त्रिविधाः—वाग्, आपः, अग्निरिति । तत्रामृतशुक्रमयास्त्रयोऽमी देवा आख्याताः—
—वाङ्मयो ब्रह्मा । अम्मयो विष्णुः । अग्निमयो महेश्वरः—इति ।

ते चैते लोकत्रयाधिकारिकत्वात् त्रयो विश्वेश्वराः सन्तो बल्शात्मकैकविश्वेश्वरस्याङ्गानि भवन्ति, महाविश्वेश्वरस्य चैतान्युपाङ्गानि । न चाङ्गान्युपाङ्गानि वा ऽङ्गिनो ऽतिरिच्यन्ते । तस्मात् त्रयोऽप्याधिकारिकेश्वरा एते स एको विश्वेश्वरश्च महाविश्वेश्वरश्च परमेश्वरश्चाभ्युपगन्तव्यः ।

विभिन्नलोकाधिकारभेदाद् विभिन्नानामप्येषां त्रयाणामाधिकारिकेश्वराणामेकस्यान्येनाविनाभावादेकेनैव त्रयाणां संग्रहणादेक एवायं कश्चिद् बल्शाविश्वेश्वरः शक्यतेऽभ्युपगन्तुम् । स चैको विश्वेश्वरस्तावदुपासनादृष्टिवैशेष्याद् ब्रह्मैव केषांचिद्, विष्णुरेव केषांचिद्, महेश्वर एव वा केषांचिदङ्गित्वेनावधीयते । अत एवोपासकदृष्टिभेदादेष बल्शाविश्वेश्वरो भिद्यते । तमेतमेकैकं पृथक् कृत्योपपादयामः ।

अयमत्राभिसन्धिः । ब्रह्मेदं त्रेधा विवर्तते—ज्योतिश्च रसतेजसी चेति । तदेतत् त्रयं त्रिस्थानं भवति—अमृतं ब्रह्म शुक्रं चेति । अमृतं पुरुषः । ब्रह्म प्रकृतिः । शुक्रं रेतः । एतत् त्रितयं पुनर्द्विविधम्—अमृतं—मर्त्यं चेति । अमृतं हृद्यम्, स आत्मा । अथ मर्त्यं पृष्ठ्यम्, तच्छरीरम् । आत्मा च शरीरं चेत्युभयोरन्योऽन्यपरिग्रहादेका व्यक्तिरेकः प्रजापतिः । प्रजापतिरिदं सर्वम् ।

तत्रायमात्मा तावदमृतं हृद्यं यथा—

		(ज्योतिः)	(रसः)	(तेजः)
अमृतम्	पुरुषः———	ब्रह्मा	विष्णुः	इन्द्रः
ब्रह्म	प्रकृतिः———	प्राणः	आपः (नारः)	वाक्
शुक्रम्	रेतः———	वाक् (इरा)	आपः (गौः)	अग्निः

अथेदं शरीरं तत्र मर्त्यं पृष्ठ्यम्—तद्यथा—

		(ज्योतिः)	(रसः)	(तेजः)
अमृतम्	पुरुषः———	इन्द्रः	सोमः	अग्निः
ब्रह्म	प्रकृतिः———	वाक्	अन्नम्	अन्नादः

(पूर्व पृष्ठशेषः— शुक्रम् रेतः———अग्निः आपः (गोः) वाक् (इरा)

(१)

स्वयम्भूः, ब्रह्मा—ईश्वरः

अत्र च ज्योतिर्भिस्त्रिभिरमृतैः पुरुषप्रकृतिरेतोभिर्ह्य यस्यात्मा, तथा ज्योतिर्भिस्त्रिभिर्म्मर्त्यैः पुरुषप्रकृतिरेतोभिः पृष्ठ्यैर्यस्य शरीरमनुवर्तते, स स्वयम्भूर्नाम ब्रह्मा प्रथमोऽग्निः प्राणोपनिषत्कस्तावदाधिकारिकेश्वरो भवति । १ ।

(२)

हिरण्यगर्भः—सूर्यगर्भः, परमेष्ठी विष्णुः—ईश्वरः

एवं रसैस्त्रिभिरमृतैः पुरुषप्रकृतिरेतोभिर्ह्य यस्यात्मा, तथा रसैस्त्रिभिर्म्मर्त्यैः पुरुषप्रकृतिरेतोभिः पृष्ठ्यैर्यस्य शरीरमनुवर्तते, स परमेष्ठी नाम विष्णुर्द्वितीयोऽग्निर्वागुपनिषत्कः खल्वाधिकारिकेश्वरो भवति । २ ।

(३)

पृथिवी, महेश्वरः—ईश्वरः

एवं तेजोभिस्त्रिभिरमृतैः पुरुषप्रकृतिरेतोभिर्ह्य यस्यात्मा. तथा तेजोभिस्त्रिभिर्मर्त्यैः पुरुषप्रकृतिरेतोभिः पृष्ठ्यैर्यस्य शरीरमनुवर्तते. स पृथ्वी नाम महादेवस्तृतीयोऽग्निरन्नादोपनिषत्कस्तृतीयः पुनराधिकारिकेश्वरो भवति । ३ ।

(ब्रह्मा—ज्योतिः)

	ब्रह्मप्राणाग्निलक्षणः स्वयम्भूः ब्रह्मा—ईश्वरः				
ब्रह्म	ब्रह्मा	पुरुषः	अमृतम्	ज्योतिः	आत्मा
क्षत्रम्	प्राणः	प्रकृतिः	,,	,,	,,
विट्	वाक्	रेतः	,,	,,	,,
उक्थम्	इन्द्रः	पुरुषः	मर्त्यम्	ज्योतिः	शरीरम्
अर्कः	वाक्	प्रकृतिः	,,	,,	,,
अशितिः	अग्निः	रेतः	,,	,,	,,

(विष्णुः—रसः)

	वागग्निलक्षणः सूर्यगर्भः समुद्रः परमेष्ठी विष्णुः—ईश्वरः				
ब्रह्म	विष्णुः	पुरुषः	अमृतम्	रसः	आत्मा
क्षत्रम्	आपः	प्रकृतिः	,,	,,	,,
विट्	आपः	रेतः	,,	,,	,,
उक्थम्	सोमः	पुरुषः	मर्त्यम्	रसः	शरीरम्
अर्कः	अन्नम्	प्रकृतिः	,,	,,	,,
अशितिः	आपः	रेतः	,,	,,	,,

(महादेवः—तेजः)

	अन्नादाग्निलक्षणः पृथ्वीरूपो महादेवः—ईश्वरः				
ब्रह्म	इन्द्रः	पुरुषः	अमृतम्	तेजः	आत्मा
क्षत्रम्	वाक्	प्रकृतिः	,,	,,	,,
विट्	अग्निः	रेतः	,,	,,	,,
उक्थम्	अग्निः	पुरुषः	मर्त्यम्	तेजः	शरीरम्
अर्कः	अन्नादः	प्रकृतिः	,,	,,	,,
अशितिः	वाक्	रेतः	,,	,,	,,

१ ब्रह्मा तावत् सरस्वती-शक्तिमान् ज्ञानविभागं वाग्विभागं चाधिकुरुते ।

२ विष्णुः लक्ष्मीशक्तिमान् कर्म्मविभागं गोविभागं चाधिकुरुते ।

३ महादेवोऽयं योगमाया-शक्तिमान् आवरणलक्षणमर्थविभागं भूतविभागं चाधिकुरुते । एतान् क्रमेण व्याख्यास्यामः ।

आधिकारिकपुरुषनिरुक्तौ ।

१—ब्रह्मा ।

"प्रथमजं देवं हविषा विधेम स्वयंभूर्ब्रह्म परमं तपो यत् ।
स एव पुत्रः स पिता स माता तपो ह यक्षं प्रथमं संबभूव ॥"

"वागक्षरं प्रथमजम्", "ब्रह्मैव प्रथममसृजत, त्रयीमेव विद्याम्। सैवास्मै प्रतिष्ठाऽभवत्।" शत० ६।१।१।८। इत्युक्त्वा ब्रह्मैवास्य सर्वस्य प्रथमजम्, ब्रह्मैवास्य सर्वस्य प्रतिष्ठा—इत्यायातम्। त्रयी विद्या हीदं ब्रह्म। तस्माद् ब्रह्मशब्दोऽत्र त्रयीपरः। त्रयीशब्दश्च वेदापरपर्य्यायः सैषा प्राणमयी वेदवाक्। वागाकाश इत्येकोऽर्थः। अस्मिन्नेव परमाकाशे सर्वाणि भूतानि प्रोतानि चौतानि च। तथा च श्रूयते—

"वाचीमा विश्वा भुवनान्यर्पिता" "त्रय्यां वाव विद्यायां सर्वाणि भूतानि ऐक्षत"। "यदूर्ध्वं गार्गि दिवो यदवाक् पृथिव्या यदन्तरा द्यावापृथिवी इमे यद् भूतं च भवच्च भविष्यच्चेत्याचक्षते, आकाश एव तदोतं च प्रोतं च"॥ बृह० ।६।७।ब्रा०

"अथो वागेवेदं सर्वम्" इति च।

स्मर्य्यते च—

"वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्म्ममे" इति (मनुः)।

एतावता त्रयीवाङ्मयोम् (वेदमयो वायम्) स्वयंभूः परमः प्रजापतिः। तदन्तर्भुक्ता ह्येते—परमेष्ठी, सूर्य्यः, चन्द्रः, पृथिवी चेति चत्वारः प्रतिमाप्रजापतयः। श्रूयते स्मर्य्यते चायं प्राणमयः परमप्रजापतिरूपः स्वयंभूपिण्डः परमाकाशस्थः सप्तवितस्तिकायः। तथा हि—

"क्वाहं तमोमहदहंखचराऽग्निवाभूसंवेष्टिताण्डघटसप्तवितस्तिकायः" (भागवते स्क० १०पू०अ० १४)

"अचिकित्वांश्चिकितुषश्चिदत्र कवीन् पृच्छामि विद्मने न विद्वान्।
वियस्तस्तम्भ षडिमा रजांसि अजस्य रूपे किमपि स्विदेकम्"।
(ऋ० सं० २।३।१५)

अयंभावः—भूः, भुवः, स्वः, महः, जनत्, तपः सत्यमिति हि सप्तलोका भवन्ति।
एषु सप्तमः सत्यलोकः स्वयंभूरेवायमव्ययो नामाजो विवक्ष्यते।
"लोका हि रजांसि" "यस्तस्तम्भ षडिमा रजांसि"—इत्युक्त्या तथैवावगमात्।
सप्तवितस्तिकायं तमेतं स्वयंभुवमेष परमेष्ठी विष्णुः प्रदक्षिणीकुरुते।
परमेष्ठिनं च स्वर्लोकाधिष्ठाता तपनोऽयं प्रदक्षिणीकुरुते। तथा चोक्तम्—

"उरुं हि राजा वरुणश्चकार सूर्य्याय पन्थामन्वेतवा उ" (ऋ० १।२४।८) इति। सूर्य्यं चैषा पृथ्वी प्रदक्षिणीकुरुते—

"यज्ञ इन्द्रमवर्द्धयद् यद् भूमिं व्यवर्तयत्। चक्राण ओपशं दिवि"। (ऋ० ८।१४।५)
"विवर्तेते अहनी चक्रियेव" (ऋ० १ म. १८५ सू १ म.) इति॥

पृथ्वीं चैतां कालेनायं पृथ्वीमहिमस्थश्चन्द्रमाः परिक्रमते। नैतेऽनुचराः स्वाश्रय-प्रतिपत्प्राण-मण्डलमतिक्रामन्ति। उत्तरोत्तरस्य पूर्वपूर्वविश्वरूपान्तर्भुक्तत्वाच्चत्वारोऽप्येते प्रतिमाप्रजापतयः

परमप्रजापतेरस्य स्वयंभुवो गर्भस्था उपपद्यन्ते । तस्मात् सर्वेषामस्मिन्नाहुतत्वात् स्वयंभूरेवैक इदं विश्वमुपपद्यते, "तन्मध्यपतितस्तद्ग्रहणेन गृह्यते" इति न्यायात्। अत एव सप्तलोकैकमूर्तितया सप्तत्रितस्तिकायो ब्रह्मायमाधिकारिकेश्वरः प्रथमो व्याख्यायते। "यावदधिकारमवस्थितिराधिकारिकाणाम् (वे. सू. ३ अ. ३ पा. ३२) इति हि भगवान् वेदव्यास आह ।

तस्यैतस्य ब्रह्मणश्चतुर्मुखत्वमाचक्षते पौराणिकाः । तथा हि—

"ऊर्ध्वमूलोऽवाक्छाख एषोऽश्वत्थः सनातनः ।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते" ॥

इति श्रुत्या महाविश्वेश्वरशरीरभूतोऽयमश्वत्थवृक्षोऽमृत–ब्रह्म-शुक्रैस्त्रिस्तरो* विज्ञायते । तत्राव्ययाक्षरक्षरैस्त्रिपुरुषः पुरुषः प्रथमस्तरः, तदमृतम् । अथ—प्राणः, आपः, वाक्, अन्नम्, अन्नादः–इत्येताः पञ्च प्रकृतयः सृष्टियोनयो द्वितीयस्तरः । तदिदं विकाराणां प्रभवप्रतिष्ठापरायणलक्षणं ब्रह्म । अथ वाग्, आपः, अग्निरित्येतत्त्रितयं सृष्ट्यै रेतः शुक्रम् ।

तत्रैतद्वाक्शुक्रः पञ्चब्रह्मविशिष्टस्त्रिपुरुषः पुरुषो ब्रह्मा नाम प्रजापतिः । स हि प्राणादिभिः पञ्चभिर्विश्वसृड्भिः पञ्चमुखीं सृष्टिमातनुते—प्राणमुखेन प्राणमयीम्, अद्भिर्मुखेनाम्मयीम्,

---

*

अमृतम् (४)	परात्परः	अव्ययः	अक्षरः	क्षरः		
ब्रह्म (५)	प्राणः	आपः	वाक्	अन्नम्	अन्नादः	
शुक्रम् (६)	वाक् अमृतः	आपः अमृताः	अग्निः अमृतः	अग्निः मर्त्यः	आपः मर्त्याः	वाक् मर्त्या

आत्मनः प्रत्यर्थं त्रयः स्तराः			
१	अमृतम्	पुरुषः	अन्तरतमस्तरः
२	ब्रह्म	प्रकृतिः	अन्तः स्तरः
३	शुक्रम्	सर्जनं रेतः	वहिः स्तरः

वाचा मुखेन वाङ्मयीम्, अन्नादान्नमुखेन चान्नादान्नमयीं सृष्टिं सृजति । तस्मात् पञ्चमुखो विश्वसृड् नामोपपद्यते । ता वा एताः पञ्च देवता दर्शपूर्णमासाभ्यां कामप्रेण यज्ञेन यजन्त्यः सर्वाः सर्वमभवन् । प्राणो अर्द्धे चत्वारोऽन्येषां भागाः, स पञ्चीकृतः पञ्चजनः प्राणः । एवमापः, वाक्, अन्नम्, अन्नादश्चेति । तेऽमी पञ्च पञ्चजनाः पञ्चविंशतिरभवन् । तेषां रूपाणि ताण्ड्ये श्रूयन्ते—

१ तपः	६ भूतम्	११ सत्यम्	१६ अपचितिः	२१ उर्क्
२ ब्रह्म	७ भविष्यत्	१२ ऋतम्	१७ यशः	२२ वाक्
३ इरा	८ ऋतवः	१३ ओजः	१८ अग्निः	२३ प्राणः
४ अमृतम्	९ आर्तवाः	१४ त्विषिः	१९ भगः	२४ अपानः
५ त्विष्टिः	१० बलम्	१५ अहोरात्रे	२० आशा २	५ मृत्युः—इति

ते चैते भावा विश्वसृजामयने सत्रे विश्वसृजो नामाख्यायन्ते । एषां सोमाभिषवात् सहसा प्रज्वलितो भूत्वायं हिरण्यगर्भो भूतपतिरेवाग्रे समवर्तत । विश्वसृजां सत्रेण यज्ञेन सर्वतः प्रथमं हिरण्यगर्भस्यैवोत्पत्तेः संभवात् । तथा हि श्रूयते—

"विश्वसृजः प्रथमाः सत्त्रमासत सहस्त्रसमं प्रसुवे नयन्तः ।

ते ह जज्ञे भुवनस्य गोपा हिरण्मयः शकुनो ब्रह्मनाम" ता० २५ । १८ । ५।

विश्वसृड्ब्रह्ममयत्वाच्चैतद् हिरण्मयं ब्रह्माख्यायते । शकुनः पक्षी । अन्यत्रापि श्रूयते—

"एकः सुपर्णः स समुद्रमाविवेश स इदं विश्वं भुवनं विचष्टे ।

तं पाकेन मनसाऽपश्यमन्तितस्तं माता रेढि स उ रेढि मातरम् ।" ऋ० ८।६।१६

द्यौः पिता प्राणः पृथिवीमिमां मातरं वाचं रेढि—वाचो रसमात्मनि गृह्णाति ।

अथ माता चेयं पृथ्वी वाक्, तं सुपर्णं सूर्य्यं रेढि—प्राणरसमात्मनि गृह्णाति ।

तं हिरण्मयं प्राणमत्यन्तसन्निकर्षे पृथिव्यामध्यात्मं च हृदये ऽहमपश्यम् । एष खलु पञ्चजन वाचा विश्वसृजा कृतरूपो हिरण्मयः सुपर्णः समुद्रे ऽन्तर्निहितस्तपति—"या रोचने परस्तात् सूर्य्यस्य याश्चावस्तादुपतिष्ठन्त आपः" इति श्रवणात् । "ज्योतिर्वै हिरण्यम्" तेनैष ज्योतिष्मान् हिरण्मयपुरुषस्तपतीत्यग्निः स महेश्वरोव दयते । तद्गर्भिणा समुद्रेण सायतनो विष्णुः पञ्चजनाद्भिर्विश्व सृजा कृतरूपो वदयते । तेन च विष्णुना सगर्भोऽयं पञ्चजनप्राणकृतरूपो विश्वसृड् ब्रह्मा सर्वमिदमात्मसात् कुर्वाणो विश्वं सृजति । चतुष्टयी चैतस्य सृष्टिर्निष्कृष्यते—

प्राणेन वेदसृष्टिः, अद्भिर्लोकसृष्टिः, वाचा देवसृष्टिः, अन्नादान्नाभ्यां धर्म्मसृष्टिश्चेति। तत्रैतयोरन्नादान्नयोः पृथक्त्वेऽपि नान्योन्यविनाकृतं सृष्ट्यै क्षमते। "अद्यात्तृसमवाये चात्तैवाख्यायते, नाद्यम्" इति लोकदृष्टमेवार्थं श्रुतिरप्यन्वाह। अन्नादश्चायमग्नी रुद्रः। "अग्निर्वा रुद्रः" इति श्रवणात्। तेनान्नरूपाहरणादाहुः पौराणिकाः—रुद्रेणास्य पञ्चमं मुखमुपसंहृतमिति। तेनैष विश्वसृड् ब्रह्मा चतुर्मुखो निष्कृष्यते। विश्वसृजां च ब्रह्मणो मुखानां पञ्चविधत्वेऽपि चतस्र एव सृष्टयो ब्रह्मणो निष्कृष्यन्ते—प्राणमयी, अम्मयी, वाङ्मयी, अग्नीषोमीयपदार्थमयी चेति। नातोऽधिका विश्वस्मिन्निह काचित् सृष्टिरवशिष्यते इति भाव्यम्।

ब्रह्मणा कृतायाः सृष्टेः स्थितिर्यज्ञादेवोपपद्यते। अन्नादनं, यज्ञः। सर्वमिदमन्नम्, सर्वमन्नादम्। अन्नादनव्याघातेऽन्नादोऽग्निर्विरमति, यज्ञो विहन्यते, सृष्टोऽर्थो विनश्यति। तस्मादेष यज्ञो विष्णुः सृष्टिं परिरक्षति—इत्याहुः। रक्षा चाहरहः सृष्ट्यैवोपपद्यते, तस्माद् विष्णुरपि सृष्टिकृत्। किन्त्वेष विष्णुः क्रमिकसृष्टिप्रवाहं निर्वाहयन् जीवनस्थितिं रक्षति। ब्रह्मा तु सृष्टिमारभते—इति विशेषः। तमेतं ब्रह्माणमाधिकारिकमीश्वरं स्वयंभूः, प्रथमजाः, वेदगर्भः, सत्यः—इत्यादिनामभिरुपासते विद्वांसो ब्रह्मोपासका ब्राह्मणाः। अनिरुक्तमहावृक्षरूपस्य महाविश्वेश्वरस्येयं प्रथमा बल्शा ब्रह्मप्रधानत्वे पलाशवृक्षत्वेनोपास्यते—आगमिकैः।

इति व्याख्यातो ब्रह्मा।

आधिकारिकपुरुषनिरुक्तौ—विष्णुर्विराट् ।

अथान्यैर्भगवद्भिर्हिरण्यगर्भादिभिर्महर्षिभिरयमीश्वर उपास्यते हिरण्यगर्भो विष्णुर्नाम । मध्ये संतत्यस्य द्वौ बाहू पक्षौ भवतः—उपरितनोऽधस्तनश्चेति । सोऽयममृतबाहुना बहुभिः पक्षैरेकतः स्वयंभुवं नाम दिवं धत्ते । मर्त्यबाहुना च बहुभिः पक्षैरन्यतः पृथिवीं धत्ते—

"यस्य त्रि पूर्णा मधुना पदानि अक्षीयमाणा स्वधया मदन्ति ।
य उ त्रिधातु पृथिवीमुत द्यामेको दाधार भुवनानि विश्वा ॥१॥ ऋ० १।१५४।४।

इत्यनया श्रुत्या विष्णुरेवायं मध्यस्थो लक्ष्यते । द्यावापृथिव्यावुदरसात् कुर्वाणः स विश्वगर्भो भवति, नान्यः कश्चिद्, अतः सर्वतो वैशिष्ट्यमर्हति । संयतीं नामोपरितनीं त्रिलोकीमेकतो दिवं जनयन् स्वयंभुवं ब्रह्माणं तत्र नियुङ्क्ते । वेदांश्च तस्मै परिददाति । स ब्रह्मा ज्ञानानि वेदानीष्टे । अथ रोदसीं नामाधस्तनीं त्रिलोकीमेकतः पृथिवीं जनयन् महेश्वरं शिवं तत्र नियुङ्क्ते । भूतानि च सर्वाणि पशूंश्च तस्मै परिददाति । स महादेवो भूतानि पशूनीष्टे । तथा चैष हिरण्यगर्भो भगवानेवैकः परमाराध्यतयोपपद्यते इति संभवति । अक्रिययोर्वाङ्मनसयोः प्राणाधीनवृत्तिकतया ज्ञानक्रियाभूतभेदाद्विभक्तेषु त्रिषु विश्वभावेषु ज्ञानभूतनिकायानामपि क्रियासमर्पकविष्णुदेवाधीनत्वेनैवोपपन्नत्वात् । एवं हि पश्यामः—

"हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् ।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ १ ॥ ऋ० ८।७।३
विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतोबाहुरुत विश्वतस्पात् ।
सं बाहुभ्यां धमति सं पतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन् देव एकः ॥ २ ॥ ऋ० ८।३।१६
न ते विष्णो जायमानो न जातो देव महिम्नः परमन्तमाप ।
उदस्तभ्ना नाकमृष्वं बृहन्तं दाधर्थ प्राचीं ककुभं पृथिव्याः । ऋ० ।७।६।६।
प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरजायमानो बहुधा विजायते ।
तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीरास्तस्मिन् ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा । यजु० ३१।१६।
यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदाँश्च प्रहिणोति तस्मै ।
तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये ॥ श्वेता० ६।१८।

महोक्थमहाव्रतपुरुषैस्त्रेधा विभक्तमिदं सूर्यज्योतिर्मण्डलम्—यावदवकाशे प्रतपति, तदिदं सूर्यज्योतिः संस्थानं हिरण्यं नाम, "ज्योतिर्वै हिरण्यम्" इति श्रुतिः । (शत० ६-५-१-२) यस्य चैतद् गर्भे तिष्ठति स भगवान् समुद्रशरीरः परमेष्ठी विष्णुर्नाम ।

"प्र तत्ते अद्य शिपिविष्टनामार्यः शंसामि वयुनानि विद्वान् ।
तं त्वा गृणामि तव समतव्यान् क्षयन्तमस्य रजसः पराके ॥ ऋ० ५।६।२५ ।

इति विष्णोर्दिव उपरि निवासस्य श्रूयमाणत्वात् । रजस्त्रैलोक्यम् । "इमे वै लोका रजांसि"। (शत० ६।२।३।१८) इत्याम्नातत्वात् । तदिहाधस्तनं माहेश्वरं विवक्षितम् । स एष परमेष्ठी प्रत्यक्षं दृश्यते, यमेतमाकाशे सर्वतो नीलिमानं पश्यामः । यावानयं नीलिमा, तावच्छरीरोयं भगवान् विष्णुर्हिरण्यगर्भो नाम ॥

वाक्प्रकृतिके सूर्यमण्डले योन्तः पुरुषोऽमृताग्निः शुक्रः, स हिरण्यगर्भस्यात्मा हिरण्मयः पुरुषो विज्ञायते । "अग्नेर्वा एतद् रेतो यद् हिरण्यम्" रेतः शुक्रमित्येकोऽर्थः । एष वै प्रथमः प्रजापतिः सर्वेषां प्रकाशकश्च विधारकश्च संहारकश्चोपपद्यते । विज्ञानमयत्वात् प्राणघनत्वाद् मृत्युकृत्त्वाच्च । "अर्द्धं वै प्रजापतेरात्मनो मर्त्यमासीदर्द्धममृतम्" इत्याहुः । तयोश्चैष मर्य्यादागिरिर्य एष भगवान् सूर्यस्तपति । यदूर्ध्वमस्मात् किंचिदुपपद्यते, तत्सर्वममृतम् । सोमः सः । सोममयपरमेष्ठिविश्वमण्डलानुगृहीतत्वात् । अथ यदर्वाक् सूर्यात्तन मर्त्यम् । अग्निः सः । अग्निमयपृथ्वीविश्वरूपमण्डलानुगृहीतत्वात् । तदुभयमेष सूर्यो यथायथं सन्निवेशयति । तथा चाम्नायते—

"आ कृष्णेन रजसा वर्तमानो निवेशयन्नमृतं मर्त्यं च ॥

हिरण्ययेन सविता रथेना देवो याति भुवनानि पश्यन् ॥ (ऋ० १ म० ३५ सू० २)

अग्नौ चैष सोमोऽनवरतमाहूयते, तस्मादेष सर्वहुन्नाम यज्ञो विष्णुः । ततो भूतज्योतिः प्रकृतिका दृष्टिस्थप्रत्यक्तभावोपलब्धिलक्षणा गायत्रीमातृका वेदाः प्रादुर्बभूवुः । यथाह श्रुतिः—

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे ।

छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद् यजुस्तस्मादजायत । इति । यजु० ३१।७

अपि चाह नारायणोपनिषदि—

"आदित्यो वा एष एतन्मण्डलं तपति तत्र ता ऋचः । तद् ऋचां मण्डलम् । स ऋचां लोकः । अथ य एष एतस्मिन्मण्डलेऽर्चिर्दीप्यते तानि सामानि । स साम्नां लोकः । अथ य एष एतस्मिन् मण्डलेऽर्चिषि पुरुषः तानि यजूंषि स यजुषां मण्डलम् । स यजुषां लोकः । सैषा त्रय्येव विद्या तपति, य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषः । इति ।

तदिदं वस्तुसत्तास्थानं त्रयं ब्रह्म तस्य विष्णोर्महिमा भवति । अपि चैतस्य विष्णुशरीरस्यैष सूर्यो हृदयम् । स्वयंभूर्मूर्धा । पृथ्वी पादौ । सप्तलोकव्यापितया चैषोऽपि सप्तवितस्तिकायः । स एष विष्णु रन्यः पुनराधिकारिकेश्वरो भवति ॥

एकस्य विष्णोश्चातुर्विध्यम् ।

एष खलु विष्णुर्यज्ञाधिष्ठाता यज्ञो नाम्ना श्रूयते । सोमसमुद्रपरिश्रितमग्न्यायतनं यज्ञः । अग्नौ सोमस्यानवरतमाहूयमानत्वात् । "यज्ञो वै विष्णुः" इत्यामनन्ति । तेनैतं यज्ञावच्छिन्नमक्षरं विष्णुरिति विद्यात् ।

अधिदैवतं यज्ञा नामानन्त्येऽपि पृथिव्यामस्यामयं यज्ञो विशेषतश्चतुर्धा विभक्तोऽस्तीति कृत्वा चतुर्विध एवायं विष्णुः पौराणिकः प्रतिज्ञायते । १–वैकुण्ठनाथः २–समुद्रशायी ३–श्वेतद्वीपनिवासी ४–गोलोकनाथश्चेति । तत्र पृथ्वीमारभ्यैकविंशस्तोमान्तो ज्योतिष्टोमोऽयमग्निमयः प्रथमो यज्ञो वैकुण्ठनाथः ।१। स एष यज्ञस्तावदाग्नेयदेवमयश्चतुस्त्रिंशद्व्याहृतिकः श्रूयते—

"एष वै प्रजापतिर्य एष यज्ञस्तायते यस्मादिमाः प्रजाः प्रजाताः । एतमु एवापि एतर्ह्यनुप्रजायन्ते—अष्टौ वसवः, एकादश रुद्राः, द्वादशादित्याः, इमे एव द्यावापृथिवी त्रयस्त्रिंश्यौ । त्रयस्त्रिंशद् वै देवाः, प्रजापतिश्चतुस्त्रिंशः । ....एतद्वा अस्ति एतद्ध्यमृतम् । यद्ध्यमृतं तद्ध्यस्ति । एतदु तद् यन् मर्त्यम् । स एष प्रजापतिः । सर्वं वै प्रजापतिः ।....... ता हैके यज्ञतन्त्र इत्याचक्षते । यज्ञस्य ह त्वेवैतानि पर्वाणि । स एष यज्ञस्तायमान एता एव देवता भवन्तेति" । श॰ ४।४।८।१–३। इति

स एष चतुष्टोमः स्वाहायज्ञः । तस्यैकविंशः प्रतिष्ठा । अग्निप्रथमा विष्णुपश्चिमाश्च क्रमतः सन्निविष्टा देवास्तस्यावयवाः श्रूयन्ते—"अग्निर्वै देवानामवमो विष्णुः परमः । तदन्तरेण सर्वा अन्या देवताः" । इति । मन्त्रश्रुतिरप्याह—"इति स्तुतासो असथा रिशादसो ये स्थ त्रयश्च त्रिंशच्च । मनोर्देवा यज्ञियासः ।" ऋ॰ ८।३०।२ इति । तेन्वेते त्रयस्त्रिंशद्देवा एष भगवान् वैकुण्ठनाथो विष्णुः ॥ १ ॥

अथ द्वाविंशस्तोमादारभ्य त्रयस्त्रिंशस्तोमान्तोऽयमम्मयः सोममयश्च द्वादशाहो यज्ञा जलशायी भगवान् विष्णुः । सोऽपि प्रजापतिना चतुस्त्रिंशद्व्याहृतिको द्रष्टव्यः । स्तोमानां तत्र त्रयस्त्रिंशद्विधत्वात् ।

स एष षट्स्तोमो वषट्कार आतानयज्ञः स द्वितीयो विष्णुः ॥ २ ॥

अथ सप्तदशस्तोमादापञ्चविंशस्तोमं नवाहयज्ञः श्वेतद्वीपनिवासी विष्णुः । तस्यैकविंशः प्रतिष्ठा । स एव कल्याणो भगवान् सत्यनारायणो नाम तृतीयो विष्णुः ॥३॥

अथ द्वाविंशस्तोमादारभ्य षट्त्रिंशस्तोमान्तः पञ्चदशाहः सामवेदोक्तः स्वाराज्ययज्ञः श्रूयते । सोयमशेषाणां गवां जन्मस्थानत्वाद् गोसवो नाम । तमेतं गोसवं सन्तं गोलोक इत्याचक्षते । तस्यैकत्रिंशः प्रतिष्ठा, आद्वाविंशाद्—आ च षट्त्रिंशाद्—अब्वायुसोममूर्तेः समुद्रस्याभिव्याप्तत्वात् ॥ आपो हि गवां रूपम् । गावश्चैताः परिव्याप्ताः । तत्र सन्तं परमेष्ठिनं विष्णुं गोविन्दं नाम गोलोकनाथमाहुः स चतुर्थो विष्णुः ।४। त्रयस्त्रिंशस्तोमान्ताया अस्याः पृथिव्या एवैते चत्वारो भागा भवन्ति । तेषु विभज्यायं विष्णुश्चत्वारि धामानि कुरुते ॥

तत्र चातिरात्रत्वात् सत्यनारायणः श्वेतः ।१। अन्ये कृष्णाः । अथ गोलोकनाथो द्विभुजः । अन्ये चतुर्भुजाः । अथ सत्यनारायणस्य तपोमयमूर्तित्वात् पत्नी नास्ति । अन्ये तु सपत्नीकाः । तत्र गोलोकनाथस्यैका राधा पत्नी । सा च ज्ञानवाहिनी वाग्ज्योतिरिति भाव्यम् । जलशायिनस्तु लक्ष्मीः पत्नी । सा च समुद्रजा समुद्रगर्भस्था मृत्परमाणुलक्षणा पद्मानाम्नी पृथ्वीति भाव्यम् । अथ वैकुण्ठनाथस्य पृथ्वी-तुलस्यौ, गङ्गासरस्वत्यौ, लक्ष्मी-श्चेति पञ्च पत्न्यः ।

"श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्यावहोरात्रे पार्श्वे नक्षत्राणि रूपमश्विनौ व्यात्तम्" । यजुः ३१।२२। इत्येवं द्विपत्नीकत्वश्रवणन्तु पृथ्वीतुलसीसरस्वतीनां श्रीत्वेन विवक्षणाद् भाव्यम् । तत्र पृथ्वीति पृथ्वीजनिका मरो नामापः । तुलसी तु सूर्यगताः सर्वौषधिप्रजननरूपा मरी-चिनाम्न्य आपः । गङ्गे त्यम्भ आपः । सरस्वतीयं वाङ्मण्डलस्था आपः । अथ लक्ष्मीः पद्मा, सेयं मेदिनी पिण्डलक्षणा पृथ्वीति विद्यात् । स्वस्वरेतः सेकाय संयुज्यमाना योनिः पत्नी । रेतः शुक्रम् । महद् ब्रह्म योनिः—इति विद्यात् ।

अथ जलशायी नित्यं शेते, अत्यल्पं जागर्ति । अग्निजनितः प्रकाशो जागरणमिति कृत्वा अग्नेः समुद्रे दौर्बल्येन तत्र यज्ञः शिथिलो भवतीति शयनव्यपदेशः ।१।

अथ सत्यनारायणोऽनवरतं तपश्चर्याशीलो नित्यं जागर्ति । न त्वेव कदाचिच्छेते । एकविंशतिमध्यस्य नवाहयज्ञस्य संवत्सरे सर्वदैकरूपेण प्रवर्तमानत्वात् ।२।

गोलोकनाथो जागर्तीति सृष्टिः प्रवर्तते । शेते इति प्रलयो भवति ।३।

अथैष वैकुण्ठनाथो विष्णुरष्टौ मासान् जागर्ति । पृथिव्यान्तु पूर्वाषाढादिकृत्तिकान्त नक्षत्रसंस्थानुगतं समुद्रं गतायां चतुष्टोमयज्ञशैथिल्योपपत्त्या स चतुरो मासान् शेते । तत्राऽपि स्वस्वाधिकृतभावेष्वपां प्रभावातिशयादग्नेर्निग्राभे यज्ञस्य शैथिल्यं शयनम् । अपां मान्द्यादग्नेरुद्ग्राभो जागरणम् । विस्तरतश्चायमर्थो ब्रह्मविज्ञानशास्त्रे व्याख्यातो द्रष्टव्यः ॥

एतावता ब्रह्माक्षराविनाभूतोऽयं वागग्निप्रकृतिको द्वितीयो विष्णुरक्षरः स्वाभावात् सोमाक्षरमयो भवति । अत एव श्रूयते "योवै विष्णुः सोमः सः" इति । स पुनरप्प्रकृतिक-स्तथैवाप्शुक्रविग्रहः सन् परमेष्ठी नाम विष्णुः प्रजापतिरभिनिष्पद्यते । अत्र प्रकृतिलक्षणा आपो गावः संज्ञायन्ते । आसामेव गवां रसैः सप्तविधैः सप्त समुद्रा जायन्ते । सर्वाश्च सृष्टयो भवन्ति । अथ शुक्रलक्षणा आपः सोमः, ततः सर्वा देवताः—इति विवेकः । स एष विष्णुर्द्वितीयोऽक्षरः खल्वाधिकारिकेश्वर इष्यते । स पुनरात्मयज्ञमूर्तित्वाद् अन्नादनकर्मा

चार्वांगगतिकश्चेष्यते। अनिरुक्तमहावृक्षरूपस्य महाविश्वेश्वरस्येयमेका बलशा विष्णुप्रधानत्वे अश्वत्थवृक्षत्वेनोपास्यत आगमिकैः। अन्नमयी, वित्तमयी, श्रीमयी लक्ष्मीर्वागस्य विष्णुप्रजापतेः शक्तिः॥

॥ इति विष्णुनिरुक्तिः॥

महेश्वरनिरुक्तिः

अथापरे श्वेताश्वतरादयो बहवो महर्षयस्तमीश्वरं सर्वभूतान्तरात्मना रूपेण महेश्वरशब्देन चोपासते। तथा हि—अग्निसोमेन्द्रास्त्रै लोक्यपतयस्त्रयस्तावदेकोऽग्निः प्रजापतिः स सर्वभूतान्तरात्मा महेश्वरो भवति। सूर्य्यपृथ्वीस्थाने प्रथमोत्तमे इन्द्राग्नी, मध्यतोऽप्सुचित्तदङ्गो वायुः सोमः। श्रूयते हि।

"अथ योऽयं वायुः पवते एष सोमः।" इति। शत० ७।२।३।१।

"स एष उभयतोऽग्निना परिगृहीतोऽग्निभूयमेव भवति। एकमेव रूपं भवति अग्निरेव! "एतद्ध वै देवास्त्रिधकदेवत्या अभवन्।"

"इमे वै लोका एषोऽग्निः।" शत० ६।५।१।१६। इति श्रवणात्। अत एवाहुः—"वायुरग्निः।" शत० १०।३।४।१। सोमोऽग्निः। इन्द्रोऽग्निः "आदित्योऽग्निः" १०।३।४।१। अग्निरेवाग्निरिति।

"अग्निर्वै सर्वा देवताः। ४।५।५।२। स एकोऽयं देवोऽग्निरेव।

"अग्निर्वै रुद्रः" ५।२।५।१०। तस्य द्वे तन्वौ, घोरान्या च शिवान्या च। तमेतमेकं सन्तं त्रेधा पश्यन्ति—त्रेधा वा सन्तमेकं पश्यन्ति। तथा च श्रूयते—

"एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा
कर्म्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च॥" (श्वेताश्व० ६।११)
"अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ दिशः श्रोत्रे वाग्विवृताश्च वेदाः।
वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य पद्भ्यां पृथ्वी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा॥"
"अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च॥"
"वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च॥"
"सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः।

एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः ॥"
"एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा एकं रूपं बहुधा यः करोति ।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम् ॥" (कठ०)
"यो वै देवानां प्रभवश्चोद्भवश्च विश्वाधिपो रुद्रो महर्षिः ।
हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वं स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु ॥"
"तमीश्वराणां परमं महेश्वरं तं देवतानां परमञ्च दैवतम् ।
पतिं पतीनां परमं परस्ताद् विदाम देवं भुवनेशमीड्यम् ॥" (श्वेताश्व० ६।७)
"तमिद् गर्भं प्रथमं दध्र आपो यत्र देवाः समागच्छन्त विश्वे ।
अजस्य नाभावध्येकमर्पितं यस्मिन् विश्वा भुवनानि तस्थुः ।" ऋ० ८।३।१८।
"यो योनिं योनिमधितिष्ठत्येको यस्मिन्निदं सं च वि चैति सर्वम् ।
तमीशानं वरदं देवमीड्यं निचाय्येमां शान्तिमत्यन्तमेति ॥" (श्वेताश्व०)
"यदर्चिमद् यदणुभ्योऽणु यस्मिन् लोका निहिता लोकिनश्च ।
तदेतदक्षरं ब्रह्म स प्राणस्तदु वाङ् मनः ॥"
"यस्तूर्णनाभ इव तन्तुभिः प्रधानजैः स्वभावतः ।
देव एकः स्वमावृणोति स नो दधातु ब्रह्माप्ययम् ॥" श्वेताश्व० ६।१०।
"अशरीरं शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम् ।
महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति ॥"

सोममूर्तेः प्रजापतेर्महत्त्वाद् महादेवत्वम् ।

इन्द्रसोमाग्निभिस्त्रिभिरक्षरैः कलात्मायं सर्वभूतान्तरात्मा भगवानिन्द्रप्राधान्यान् महेश्वरः। सोमप्राधान्यान महादेवः। अग्निप्राधान्यात्तु रुद्रो नाम प्रसिद्ध्यति। तत्र तावदिन्द्रं सन्तं महेश्वरं ब्रूमः। यथायमग्निः सर्वा देवताः, तथैवेन्द्रः सर्वा देवताः द्यावापृथिव्योरैन्द्राग्नतया तदग्निवदिन्द्रस्यापि त्रैलोक्याधिष्ठातृत्वेन प्रजापतित्वावगमात्। श्रूयते चेन्द्रस्य सर्वाधिष्ठातृत्वम्-

"आतिथ्येन वै देवा इष्ट्वा तान् समदविन्दत्ते चतुर्धा व्यद्रवन्नन्योन्यस्य श्रिया अतिष्ठमानाः। अग्निर्वसुभिः, सोमो रुद्रैः, वरुण आदित्यैः, इन्द्रो मरुद्भिः, बृहस्पतिर्विश्वेदेवैरिति······तान् विद्र तानसुररक्षसान्यनुव्यवेयुः। ते ऽविदुः पापीयांसो वै भवामः। असुररक्षसानि वै नोऽनुव्यवागुः। द्विषद्भ्यो वै रध्यामः। हन्त संजानामहै। एकस्य श्रियै तिष्ठामहै। इति। त इन्द्रस्य श्रियाऽअतिष्ठन्त, तस्मादाहुः—इन्द्रः सर्वा देवताः, इन्द्रश्रेष्ठा देवा इति। तस्मादुह न स्वा ऋक्षीयेरन्। य एषां परस्तरामिव भवति स एतानानुव्यवैति।

ते प्रियं क्षिप्रतां कुर्वन्ति । द्विषद्भ्यो रक्ष्यन्ति । तस्मान्न आर्त्तीयेरन्" इति । शत० १।३।३।१-३।—एतच्चेन्द्रस्य त्रैलोक्याधिष्ठातृत्वं मन्त्रश्रुतिष्वपि श्रूयते—

यद् द्याव इन्द्र ते शतं शतं भूमिरुत स्युः ।

न त्वा वज्रिन् सहस्रं सूर्या अनु जातमष्टरोदसी ॥ ऋ० ८।७०।५।

अन्तस्ये द्यावापृथिवी दधाम्यन्तर्दधाम्युर्वन्तरिक्षम् ।

सजूर्देवेभिरवरैः परैश्चान्तर्यामे मघवन् मादयस्व ॥ इति यजु:० ७।५।

तथा चैतमेकमिन्द्रमेव ग्रा महेश्वरत्वेनोपासते । इन्द्रो ह्यायं महेश्वरशक्त्योऽञ्जसा ऽवकल्पते । इन्द्रश्चायं विध्वंसकर्म्मा । तस्मात् महेश्वरं संहारकर्तारमाहु । अथ सोम-प्राधान्ये महानसौ नाम्ना देवस्तस्मात् महादेव इति प्रसिद्धिः ।

"महत्तत् सोमो महिषश्चकार अपां यद् गर्भे अवृणीत देवान्

अदधादिन्द्रे पवमान ओजोऽजनयत् सूर्ये ज्योतिरिन्दुः ॥" ऋ० ९।९७।४१

इत्येवमस्य महत्त्वमाम्नायते । इन्द्राग्न्योः सोमोपजीव्यत्वाच्चैष सोमो महानिष्यते अत एवायमिन्द्रेण गृह्यमाणः श्रूयते—

यो भूतानामधिपतिर्यस्मिन् लोका अधिश्रिताः ।

य ईशे महतो महांस्तेन गृह्णामि त्वामहं मयि गृह्णामि त्वा महम् ॥ इति । यजु: सं० २०।३२

इन्द्राग्निभोग्यतया नानाब्रह्मकृतरूपत्वाच्चैष सोमोऽक्षरो महानिष्यते ।

"भूतं भविष्यत् प्रस्तौमि महद्ब्रह्मैकमक्षरम् । बहु ब्रह्मैकमक्षरम् ।" इति श्रवणात् ।

सर्वस्य पुरस्याध्यात्मिके यज्ञेऽयमन्नरूपेण प्रविष्टः प्राणानाधाय प्रजापतिं महान्तं करोति । अथवाऽन्नरूपेण प्रविष्टः सोम एवायं महान् प्रजापतिर्भवति । तस्मादेष महानुच्यते । तदेतदाह—

"तद्वै स प्राणोऽभवत् महान् भूत्वा प्रजापतिः ।

भुजो भुजिष्या वित्वायत प्राणान् प्रणयत् पुरि" शत० ७।४।१।२१।

महानात्मा महेश्वरः ।

अपि चैष सोमः सर्वविधजीवशरीरपरिमाणहेतुत्वात् महानिति मन्यते—

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्त्तयः संभवन्ति याः ।

तासां ब्रह्म महद् योनिरहं बीजप्रदः पिता । इति स्मरणात् ।

सर्वासु जीवयोनिषु देहविकासप्रतिबन्धको देहापतननियामकः सोमविशेषो महा-नात्मा । मूषकमार्जारश्वाश्वगजादीनां तत्तच्छरीरपरिमाणे तारतम्यहेतुर्महानात्मा । महतो

विकासापेक्षं हि तदन्तर्निविष्टानामङ्गाङ्गिधातूनां प्रथनमुपपद्यते । तत्रैवायं विज्ञानात्मा, प्रज्ञानात्मा, प्राणात्मा, भूतात्मा चान्तः संनिविशन्ते । अनेकेषामात्मनामेकायतनत्वाच्चायं महानात्मा । स यथायमध्यात्मं जीवशरीरे दैहिकलोकत्रयव्यापी महानात्मा भूतात्मा नामोच्यते, एवमस्यावधिदैवतमीश्वरशरीरे लोकत्रयव्यापी महानात्मा सर्वभूतान्तरात्मा नामोपास्यते । स एष महेश्वरो मान्यः ।

तत्रैतस्मिन्नध्यात्मं चाधिदैवतं च लोकत्रयव्यापिनि महत्यात्मनि लोकत्रयाधिष्ठातारो ऽग्निवाय्विन्द्राः पृथक्तन्त्राः संश्लिष्यन्ति । तत्राध्यात्मं यावानिन्द्रः स खलु सूर्यप्रभवो बुद्धिलक्षणो विज्ञानात्मा क्षेत्रज्ञः । अथ यावान् सोमः स चन्द्रप्रभवो मनोलक्षणः प्रज्ञानात्मा सर्वेन्द्रियजन्यसुखदुःखप्रत्ययसाक्षी भवति । सोमत्वाच्चैष महदात्मना परमेष्ठिप्रभवेण घनिष्ठं संबध्नाति । अत एवायमुभयोऽपि नातितरां विशिष्यते—प्रज्ञानात्मा—महानात्मा च । उभयोर्मनस्त्वेन व्यपदेशाभिमानात् ।

अथ यावानत्र पुनरग्निराभवति स भूतात्मा । अग्नेस्तु द्वैविध्याद् द्विविधोऽयं भूतात्मा, मर्त्याग्निमयः शरीरात्मा, अमृताग्निमयः कर्म्मात्मेति भेदात् । तमेतमात्मत्रितयं सहसन्तमन्वाचष्टे भगवान् मनुः—

> योऽस्यात्मनः कारयिता तं क्षेत्रज्ञं प्रचक्षते ।
> यः करोति तु कर्म्माणि स भूतात्मोच्यते बुधैः ॥ मनु० १२।१२।
> जीवसंज्ञोऽन्तरात्मान्यः सहजः सर्वदेहिनाम् ।
> येन वेदयते सर्वं सुखं दुःखं च जन्मसु ॥ मनु० १२।१३।
> तावुभौ भूतसंपृक्तौ महान् क्षेत्रज्ञ एव च ।
> उच्चावचेषु भूतेषु स्थितं तं व्याप्य तिष्ठतः ॥१२।१४।
> तौ धर्म्मं पश्यतस्तस्य पापं चातन्द्रितौ सह
> याभ्यां प्राप्नोति संपृक्तः प्रेत्येह च शुभाशुभम् ॥१२।१६॥

स महांश्चायं क्षेत्रज्ञश्च तमेतं भूतात्मानमभिव्याप्य प्रतितिष्ठतः । जीवानां भूतात्मनां सर्वभूतान्तरात्मनो महेश्वरस्यांशेनोत्पन्नत्वात् । स चैष महानात्मा जीवः सर्वभूतान्तरात्मनो महेश्वरस्यांश इति सिद्धान्तितं शारीरकसूत्रे भगवता वेदव्यासेन—

> "अंशो नाना व्यपदेशाद्" इत्यादिना ।
> "पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
> पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥"

"यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह
मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति ॥"

इत्यादयः श्रुतयोऽप्येतमेवार्थमामनन्ति। तथा च सिद्धम्—अयमग्नित्रयैकरूपः प्रजापतिः सर्वभूतान्तरात्मा महेश्वरोऽग्निर्मयः सोममयश्चेन्द्रमयश्चास्तीति।

महेश्वरस्य त्र्यक्षरपुरुषत्वम्।

एकाक्षरः स्वयंभूर्ब्रह्मा देवः। एकाक्षरश्चायं हिरण्यगर्भो विष्णुर्देवः। एष तु भगवान् महेश्वरस्त्र्यक्षरो महान् देवः। इन्द्रसोमाग्नीनामक्षराणां सूर्य्यचन्द्रपृथ्वीभिरवरुद्धत्वात्। अत एवायं महादेव "त्र्यम्बकः"—इत्यभिष्टूयते। त्र्यम्बकस्त्रिलोकीरक्षकः; त्रिलोकीपितेति केचित्। त्रिनेत्र इति केचित्।

तमेतमाधिकारिकमीश्वरं महेश्वरो महादेवो भूतपतिः पशुपतिरित्यादिनामभिरुपासते विद्वांसो महेश्वरोपासकाः शैवाः।

अथर्ववेदस्य पञ्चदशे काण्डे प्रथमानुवाके पञ्चमे सूक्तेऽस्य कानिचिन्नामान्युक्तानि—भवः, शर्वः, पशुपतिः, उग्रदेवः, भीमः, रुद्रः, महादेवः, ईशान इति। तदनुसारेणान्यत्रापि स्मर्य्यते—

शर्वो भीमो महादेवो रुद्रः पशुपतिर्भवः।
उग्र ईशान इत्यष्टौ मूर्त्तयः शिवसन्निभाः।
त्रिनेत्रा जटिलाश्चन्द्रभाला एते चतुर्भुजाः ॥इति॥

एतेषामाग्नेयवायुविशेषाणां स्थानानि श्रुतौ मतभेदेन प्रदर्शितानि। शतपथे तावत्—६।१।३।

१	अग्निः =रुद्रः	२	आपः =सर्वः (शर्वः)
३	ओषधयः=पशुपतिः	४	वायुः =उग्रः
५	विद्युत् =अशनिः (भीमः)	६	पर्जन्यः=भवः
७	चन्द्रमाः=महादेवः	८	आदित्यः=ईशानः

अत्र च सर्वशब्दो दन्त्यसकारवानभिप्रेतः। सर्वमापोमयं जगदिति जलरूपिणोऽयं देवः सर्वः। अन्ये पुनरन्यथा व्याचक्षते—

शर्वः, भवः, रुद्रः, उग्रः, भीमः, महादेवः, ईशानः, पशुपतिः।
क्षितिः, आपः, अग्निः, वायुः, आकाशः, चन्द्रः, सूर्य्यः, यजमान इति।

एकादश रुद्राः ।

अथाग्निप्राधान्ये रुद्रोऽयमाख्यायते । रुद्राश्चैकादशसंख्ययानेकधा श्रूयन्ते ।
तत्राधियज्ञं तावद् द्विनामानो भवन्ति—

१	कृशानुः = सम्राट्	६	कविः = उशिक्
२	प्रवाहणः = विभुः	७	वम्भारिः = अङ्घारिः
३	हव्यवाहनः = वह्निः	८	दुवस्वान् = अवस्युः
४	प्रचेताः = स्वानः	९	मार्जालीयः = शुन्ध्युः
५	विश्ववेदाः = तुथः	१०	अहिर्बुध्न्यः = बुध्न्यः
		११	अज एकपात् = अजः

अत्र प्रथमोऽयमाहवनीयः सूर्याग्निर्दिव्यः । ततोऽष्टौ धिष्ण्यास्त्य आन्तरीक्ष्याः । ततो द्वौ गार्हपत्यौ पार्थिवौ । तत्र पुराणः पृथ्वीपश्चिमपृष्ठयाग्निः । नूतनः पृथ्वीपूर्वपृष्ठ-याग्निः । याज्ञिका हीमे यज्ञाधिकृता रुद्रा आग्नेयप्राणमुखा द्रष्टव्याः । यज्ञमुखेन चैते तत्र तत्राभिप्रविष्टा ईशते ।

२

अथाध्यात्मं ते द्वेधा निरूप्यन्ते—वायुमुखा अन्ये, इन्द्रमुखा अन्ये । तत्र वायुमुखास्तावत्

२	द्वे —श्रोत्रे	८	१ — गुदा
४	द्वे —चक्षुषी	९	१ — शिश्नम्
६	द्वौ —प्राणौ	१०	१ — नाभिर्देशमी
७	१ —वाक्	११	१ — आत्मैकादशः

अत्र सप्त शीर्षण्याः । द्वाववाञ्चौ । नाभिः प्राणः सर्वाङ्गशरीरनाडीनामनुग्राहकः । आत्मा तु शरीरयष्टिस्थानाधिष्ठाता इत्येके ।

३

अथान्ये—इन्द्रमुखाः ।

पञ्च कर्मेन्द्रियाणि ।	पञ्च ज्ञानेन्द्रियाणि—	उभयेन्द्रियमेकम्
१ वाक्	६ श्रोत्रम्	११ मन एकादशम्
२ पाणिः	७ त्वक्	
३ पादः	८ चक्षुः	
४ उपस्थः	९ जिह्वा	
५ पायुः	१० घ्राणम्	

उभयविधा अप्येते दैहिका रुद्रा देहाधिकृता वायव्यप्राणमुखा द्रष्टव्याः । आत्मा शरीरम् । शरीरमुखेन चैतेऽभिप्रविष्टा ईशते ।

४ अथाधिदैवतम् ।

१ प्रभ्राजमानः	६ पुरुषः
२ व्यवदातः	७ श्यामः
३ वासुकिः	८ कपिलः
४ वैद्युतः	९ अतिलोहितः
५ रजतः	१० ऊर्ध्वः
	११ अवपतनः । इति

ते हीमे सौमिका रुद्रा अन्तरिक्षस्थाना द्युस्थाना वा सर्वेष्वेव देवेष्वधिकृताः सोममुखा द्रष्टव्याः । देवतामुखेन चैतेऽभिप्रविष्टाः सर्वाणीशते । ।

क्षत्रविड्भेदाभ्यां रुद्रस्य द्वैरूप्यम् ।

अपि चेदमपरं द्रष्टव्यम् । इन्द्राग्निसोमैतल्यचरो वागन्नादान्नप्रकृतिर्द्विधाग्निशुक्रः खल्वयं तृतीयः पुरुषो रुद्र इत्युच्यते । स द्विविधः—क्षत्रं विट् चेति । सहस्रशीर्षा सहस्राक्षः शतेषुधिः क्षत्रम् । "एको रुद्रो न द्वितीयोऽवतस्थे" इति श्रुतिरेतमेवार्थमाह । "असंख्याताः सहस्राणि ये रुद्रा अधिभूम्याम्" । इति तु विशो रुद्रानाह । ते चामी असंख्याता रुद्रा यजुःसंहितायामष्टाध्याय्यामधिकारभेदेन सुस्पष्टमाख्याताः ।

असतात् प्राणाद् ब्रह्मसृष्टिः ।

अत्रेयं श्रुतिर्भवति—

"असद्वा इदमग्र आसीत् । ऋषयो वाव तेऽग्रेऽसदासीत् । प्राणा वा ऋषयः । स योऽयं मध्ये प्राणः, एष एवेन्द्रः । तानेष प्राणान् मध्यत इन्द्रियेणैन्ध । त इद्धाः सप्त नाना पुरुषानसृजन्त । त एतान् सप्तपुरुषानेकं पुरुषमकुर्वन् । स एव पुरुषः प्रजापतिरभवत् । सप्तपुरुषो ह्ययं पुरुषः ॥

सोऽयं पुरुषः प्रजापतिरकामयत—भूयान्त्स्यां प्रजायेयेति । स श्रान्तस्तेपानो ब्रह्मैव प्रथममसृजत त्रयीमेव विद्याम् । सैवास्मै प्रतिष्ठाऽभवत् । तस्यां प्रतिष्ठायां प्रतिष्ठितः सोऽपोऽसृजत । वाच एव लोकात् । वागेव साऽसृज्यत । सेदं सर्वमाप्नोत् । तस्मादापः । सोऽनया त्रय्या विद्यया सहापः प्राविशत् । ततो ब्रह्मैव प्रथममसृज्यत—त्रय्येव विद्या मुखं ह्येतदग्नेर्यद् ब्रह्म । तस्मादाहुर्ब्रह्मास्य सर्वस्य प्रथमजमिति [illegible] । इति ।

* सर्वाः कण्डिका विस्तरपरिहाराय नोद्धृताः, मध्ये मध्ये भावा उद्धृताः ।

अनया श्रुत्या—सप्तर्षिप्राणेभ्यो यत् प्रथमजं ब्रह्म सेयं वेदत्रयी प्रतिष्ठा वाक्, तत आपः, ततोऽग्निरन्नादः, तानीमानि त्रीणि शुक्राणि, ततः पृथिव्यादयस्त्रयश्चत्वारः पञ्च वा लोकाः प्रजायन्ते, इति सिद्धं भवति ।

१ २ ३ ४ ५ १ २ ३ ४ ५
पृथिव्यन्तरिक्षं द्यौरापो दिश इति लोकाः । अग्निः, वायुः, इन्द्रः, वरुणः, सोम—इति लोकपतयो देवाः । ये चैते लोका ये च लोकपतयो देवाः, सर्वे तेऽयमग्निरेवेति सिद्धान्तः । "इमे वै लोका एषोऽग्निः" शत० ६।३।४।१; इति श्रवणात् ।

"यस्मान्न जातः परो अन्यो अस्ति य आविवेश भुवनानि विश्वा ॥
प्रजापतिः प्रजया संरराणस्त्रीणि ज्योतींषि सचते स षोडशी" । (यजुः ८।३६) ।
इति मन्त्रश्रवणादग्निविद्युत्सूर्य्यसाचयस्त्रैलोक्याधिष्ठाताऽयमन्नादोऽग्निः प्रजापतिर्व्याख्यायते—

"अयं वा अग्निः प्रजाश्च प्रजापतिश्च ।" शत० ६।१।२।४२।
"षोडशकलः प्रजापतिः । प्रजापतिरग्निः ।" शत० ६।२।१।२।
इत्येवं बहुधा श्रवणात् ।

"प्रजापतेर्विस्रस्ताद्देवता उदक्रामन् । तमेक एव देवो नाजहान् मन्युरेव । सोऽस्मिन्नन्तर्विततोऽतिष्ठत् । सोऽरोदीत् । तस्य यान्यश्रूणि प्रास्कन्दन, तान्यन्यस्मिन् मन्यौ प्रत्यतिष्ठन् । स एव शतशीर्षा रुद्रः समभवत्, सहस्राक्षः, शतेषुधिरथ्यन्द अथ या अन्या विप्रुषोऽपतन्, ता असंख्याता: सहस्राणीमान् लोकाननुप्राऽविशन् । तद् यद् रुदिताद् समभवंस्तस्माद्रुद्राः । सोऽयं शतशीर्षा रुद्रः सहस्राक्षः शतेषुधिरधिज्यधन्वा प्रतिहिताथी भीषयमाणोऽतिष्ठदन्नमिच्छमानः । तस्माद्देवा अबिभयुः । ते प्रजापतिमब्रुवन्—अस्माद्वै बिभीमो यद्वै नोऽयं न हिंस्यादिति । सोऽब्रवीत्—अन्नमस्मै संभरत, तेनैनं शमयतेति । तस्मा एतदन्नं समभरन्-शतरुद्रियम्, तेनैनमशमयन् । तद् यदेतं शतशीर्षाणं रुद्रमेतेनाशमयन्, तस्मात्........शतरुद्रियमित्याचक्षते ।

स एष क्षत्रं देवः यः, स शतशीर्षा समभवत् । विश इम इतरे ये विप्रुड्भ्यः समभवन् । तस्मा एतस्मै क्षत्रायैता विश एतं पुरस्तादुद्धारमुदहरन् य एष प्रथमोऽनुवाकः । तेनैनमप्रीणन् ॥

"यत् किञ्चात्रैकदेवत्यमेतमेव तेन प्रीणाति क्षत्रमेव । तद् विश्यपि भागं करोति । तस्माद् यद् विशः—तस्मिन् क्षत्रियोऽपि भागः । अथ या असंख्याता सहस्राणीमान् लोकाननुप्राविशन्—एतास्ता देवता याभ्य एतज्जुहोति" । इति । शत० ६।१।१।६-१८।

शिवत्वघोरत्वाभ्यां रुद्रस्य द्वैरूप्यम्।

"एको रुद्रो न द्वितीयोऽवतस्थे"–इति क्षत्रमाह, "असंख्याता: सहस्राणि ये रुद्रा अधिभूम्याम्"—इति विश आह—इत्युक्तं पूर्वम्। तैरेतै रुद्रैर्विड्भिरुपसंहितं क्षत्रं रुद्रः सूर्य्य एवोपपद्यते। रौद्रोयमातपः सूर्य्यस्येति व्यवहारदर्शनात्।

"असौ यस्ताम्रो अरुण उत बभ्रुः सुमङ्गलः।
ये चैनं रुद्रा अभितो दिक्षु श्रिताः सहस्रशो वैषां हेड ईमहे"। इति श्रुत्या तथैवावगमाच्च। इदं तु बोध्यम्—

सूर्य्यस्तावदयमग्निश्चेन्द्रश्च वरुणश्चेति त्रिधा कृत्वाभिष्टूयते। तपनत्वाज्ज्योतिष्मत्वादम्मयत्वाच्च। तत्र तावदग्नेर्द्वैरूप्यं विज्ञायते—

"अग्निर्वा रुद्रस्तस्य द्वे तन्वौ घोरान्या च शिवान्या च"।

इत्याम्नानात्। अथैतज्ज्योतिष्मत्त्वं तु सूर्य्यस्य "त्वं ज्योतिषा वि तमो ववर्थ" इति श्रुत्या सोमसंबन्धादेवोपपद्यते। सोमश्चायं नित्यमेव शिवः, तथाप्यग्निभूयस्त्वादग्निमयो भूत्वा तपनः सन् घोरो रुद्रः संभवति। अथाम्मयः साम्बत्वात् सदाशिवो भवति, श्रुतिषु जायात्वेन जनित्वेन चोक्तानामम्बारूपाणामपां शान्तिहेतुत्वात्। तथा चैतस्य द्वैरूप्यं सिद्धम्—घोरश्च शिवश्चेति। तत्र सोमः साम्बो वायुः शिवः। शैत्योष्मणोः समीभावादस्य सुखावहत्वात्। अग्निमयस्तु सोष्मा वायुर्घोरः। सोमाल्पत्वे यमानुप्रवेशेनास्य दुःखानुविधायित्वात्। तत्र क्षत्रं सोमः शिवः। विशस्तु रुद्राः—शिवाश्च घोराश्च।

अथैतस्य क्षत्रस्य सोमस्य विड्भ्योऽन्तरिक्षचरेभ्यो रुद्रेभ्योऽतिरिक्ता अपि देवा इमां रोदसीमधितिष्ठन्ति। अग्नेर्वसवः, इन्द्रस्य मरुतः, वरुणस्यादित्याः, बृहस्पतेर्विश्वेदेवाः। तथा च श्रूयते—

"अग्निः प्रथमो वसुभिर्नो अव्यात् सोमो रुद्रेभिरभिरक्षतु त्मना।
इन्द्रो मरुद्भिर्ऋतुधा कृणोत्वादित्यैर्नो वरुणः संशिशातु ॥१॥
सन्नो देवो वसुभिरग्निः सं सोमस्तनूभी रुद्रियाभिः।
समिन्द्रो मरुद्भिर्यज्ञियैः समादित्यैर्नो वरुणो अजिज्ञिपत् ॥२॥
यथादित्या वसुभिः संबभूवुर्मरुद्भी रुद्राः समजानताभि।
एवा त्रिणामन्न हृणीयमाना विश्वे देवाः समनसो भवन्तु ॥३॥ (तै० सं० २।१।११)
ते चैते पञ्चधा विभक्ताः सर्वे देवा अग्निमेवैतमेकं महेश्वरं समुपासते। "इमे वै

लोका एषोऽग्निरिति" श्रुत्याऽस्य महेश्वरस्याग्नेः प्रजापतेस्तत्सर्वलोकाधिष्ठातृत्वावगमात् ।

एतावता ब्रह्मादराविना भूतस्तृतीयोऽयमिन्द्रोऽन्तरः स्वभावादग्न्यन्तरमयो भवति । अत एव श्रूयते—

"ऐन्द्राग्नोऽग्निः। इन्द्राग्नी वै सर्वे देवाः। सर्वदेवत्योऽग्निः।" शत० ६।४।४।७ इति।

स पुनर्वाक्प्रकृतिकोऽग्निशुक्रविग्रहः सन् रोदसीत्रैलोक्यात्मा महेश्वरः प्रजापतिरभिनिष्पद्यते। स एष महादेवस्तृतीयोऽयमाधिकारिकेश्वर इष्यते। विश्लेषणकर्तृत्वस्वाभाव्याच्चायं परागतिको विक्षेपणकर्म्मा सर्वसंहारको विज्ञायते। अनिरुक्तमहावृत्तरूपस्य महाविश्वेश्वरस्येयमेका बलशा महेश्वरप्रधानत्वे बटवृत्तत्वेनोपास्यते आगमिकैः। वीर्य्यमयी, प्राणमयी, कर्म्ममयी, चैश्वरी वागस्य महेश्वरप्रजापतेः शक्तिः।

इति—महेश्वरनिरुक्तिः।

त्रयोऽप्यमी आधिकारिकेश्वरस्यावस्थाविशेषत्वादाधिकारिकेश्वरा एवेष्यन्ते। लोकत्रयभेदेनैषामधिकारभेदात्। एवमप्येषां त्रयाणां यदैकात्म्यं स महाविराट्। अथैतस्यैते त्रयो भेदाः क्षुद्रविराजः संज्ञायन्ते पुराणेषु।

यज्ञः, तपः, दानम् ।

तेषामेषां त्रयाणां साधारणानि त्रीणि कर्माणि—यज्ञः, तपः, दानमिती। त्रयस्त्रयो ग्रामा इमेकैकं सर्वम्—आत्मग्रामो देवग्रामो भूतग्रामश्चेति भेदात्। उक्थप्राण आत्मा। अर्कं प्राणा देवाः। पशुघनः प्राणो भूतम्। तत्र देवानां देवैः संगमनं द्वेधा निष्पद्यते—यागो योगश्चेति। देवद्वयान्वये पूर्वदेवद्वयोपमर्द्देनापूर्वदेवोदयो यागः। पूर्वानुपमर्दे योगः, भूतद्वयान्वयश्च योगः। यागेन सिद्धमपूर्वं रूपं यज्ञः। स चाग्नौ सोमाहुत्या सम्पद्यते ॥१॥ अथ यदात्मनः प्राणं परस्योपयोगाय प्रयोजयति तत् तपः। शरीरस्थस्याग्नेरनशनेन प्रवृक्तस्य परकायप्रवेशाद् विरिक्ते स्वात्मनि विशिष्टाधिकप्राणपरिग्रहस्तपः ॥२॥ अथ "यावद्वित्तं तावदात्मेति" श्रुतिसिद्धान्ताद् वित्तानुसंश्रुतानामात्मनः पाप्मनां विरेचनाय वित्तसंप्रदानं दानम् ॥३॥ आत्मप्राणपशुभिस्त्रिपर्वणः प्रजापतेः प्राणैरेवैतानि त्रीणि कर्माणि। किन्तु तेनात्मसंस्कारोदयो यज्ञः। प्राणसंस्कारोदर्कस्तपः। पशुसंस्कारसाधनं दानम्। स्वयंभूर्हिरण्यगर्भो महेश्वरश्चेति त्रयोऽप्येते प्रजापतयो यजन्तः परस्परेण संगच्छन्तोऽन्योन्यस्याधाराधारश्च भवन्ति। तप्यन्तः स्वप्राणेनाक्रम्य परं स्ववशे कुर्वन्ति। स्वरससंप्रदानेन चान्यस्य न्यूनतां परिपूरयन्ति। त्रयोऽप्येते सर्वसमीकरणाय शश्वत् प्रयतन्ते इति सामान्यं सर्वेषां कर्म।

तेऽमी आधिकारिकास्त्रयोऽपीश्वरा धर्मभेदात् पृथक्त्वेनोपपन्ना उपासनायां लोकरुचिभेदात् पृथक्त्वेनोपास्यन्ते । तथा वै ते पृथगिव निरूप्यन्ते ।

सत्यस्य ब्रह्मणः सत्ये वेदेऽधिकारः ।

ऋग्, यजुः सामानीति त्रयी विद्या प्रथमजं ब्रह्म । ब्रह्म, विद्या, वेद—इत्येकोऽर्थः । छन्दांसि वेदाः । वेदाः सत्यम् । छन्दोभिश्छन्दितस्य हृदयोपपत्त्या सहृदयं शरीरम् । तत्सत्यम् । अच्छन्दनादनभिव्यक्तस्य त्रिभिर्वेदैश्छन्दनतो नामरूपसंयोगादभिव्यञ्जनं व्यक्तिः । सोपलब्धिः । सा सत्ता । तत्सत्यम् । स प्रजापतिः । यानीमानि कानिचित् क्वचिद् दृश्यन्ते, ता व्यक्तयः सन्तीति सत्यप्रजापतयो नाम । अशेषेषु चैतेषु सत्येष्वयमेकः सत्यप्रजापतिरीश्वरो ब्रह्माधिकुरुते; सत्यासु च सर्वासु विद्यासु । वेदगर्भेण सत्येनेश्वरेण ब्रह्मणा सर्वेषु भूतेषु वेदाहवनात् सर्वेषां वेदयोगात् सत्यत्वोपपत्तिः । यद्येषु वेदो नाहुतः स्यान्न तर्हि इदं भूतजातं किमप्युपलभ्येत । वेदैरेवैतद् भूतजातं विद्यते, ततो विदन्ति, ततश्च विन्दन्ति, एतदेवेह वेदानां वेदत्वम् । सोऽयं ब्रह्मणोऽस्याधिकारः ॥१॥

यज्ञस्य विष्णोर्यज्ञे कर्मणि अधिकारः ।

अथेदं ब्रह्म द्विविधम्—ब्रह्म सुब्रह्म चेति । तत्र गतिस्थितिलक्षणौ वाय्वाकाशौ प्राणवाचौ यच्च जूश्चेति यजुर्नाम ब्रह्म । अथ स्नेहतेजोलक्षणौ भृग्वङ्गिरसौ सोमाग्नी अथर्वा नाम सुब्रह्म । ब्रह्मणि सुब्रह्माहवनादुपपद्यते यज्ञः । ब्रह्म सत्यम्, सुब्रह्म सत्यम् । सत्यगर्भितः सत्यो यज्ञः । सत्यप्रजापतिर्ब्रह्मायमन्यः । तद्गर्भो यज्ञप्रजापतिर्विष्णुरयमन्यः । तत्रेदं सुब्रह्मास्ति विष्णोः परमेष्ठिनो रूपम् । तन्मूलत्वाच्चायं यज्ञो विष्णुः । नान्तरेणैतं परमेष्ठिनं यज्ञः सम्भवतीत्येष यज्ञप्रजापतिर्विष्णुः ।

यज्ञप्रजापतिरेवेदं सर्वं यदिदं किञ्चन दृश्यते । "यद्वै किञ्च प्राणि स प्रजापतिरिति" श्रवणात् । सर्वेष्वेव चैतेषु यज्ञेषु सर्वासु चैतासु क्रियास्वयमेको विश्वव्यापी यज्ञप्रजापतिरीश्वरो विष्णुरधिकुरुते । श्रूयते ह "विष्णुनैव यज्ञेन यज्ञं संतनोतीति ।" (मैत्रा.) युक्तञ्चैतत् सर्वेष्वेव यज्ञेषु यज्ञारम्भकयोरग्नीषोमयोस्तेजःस्नेहलक्षणयो रसयोः परमेष्ठिविष्णुत एवोपलम्भात् । भृग्वङ्गिरसौ हीमौ सोमाग्नी, तौ च रसत्वादपां रूपम् । श्रूयते हि "सर्वमापोमयं भूतं सर्वं भृग्वङ्गिरोमयम् ।" यद्वा—

"आपो भृग्वङ्गिरोरूपमापो भृग्वङ्गिरोमयम् ।
अन्तरैते त्रयो वेदा भृगूनङ्गिरसः श्रिताः ।" इति ।

आपश्चैताः परमेष्ठिनो रूपम् । "आपो वा इदं सर्वम् । ता यत् परमे स्थाने तिष्ठन्ति"

.......तस्मात् परमेष्ठी नाम ।" शत० ११।१।६।१६। इति श्रवणात् । आपो हि यज्ञः । यज्ञारम्भकयोरग्नीषोमयोरपां रूपत्वात् ।

श्रूयते च—"यज्ञो वा आपः । शत० ।१।१।१।१२। (अद्भिर्वा इदं सर्वमाप्तम) इत्थञ्च सर्वेषामग्निसोमान्वयरूपाणां यज्ञानां परमेष्ठिविष्णवधीनत्वमुपपद्यते । सोऽयं विश्वव्यापी यज्ञो विष्णोरस्याधिकारः ॥२॥

अथ महेश्वरस्याधिकारः–ईशानः[1], क्रतुध्वंसी[2], शर्वः[3], सर्वज्ञः[4] ।

अथैतौ हृदयस्थो द्वावक्षरौ प्रतिस्पर्धिनौ भवतः—विष्णुश्चेन्द्रश्चेति । विष्णुस्तावदाकर्षणवीर्य्यः प्रतिक्षणमन्यतोऽन्नमाहृत्य चितिं जनयन् यज्ञप्रजापतिविग्रहमाप्यायर ति । स पुष्यति । अथ विक्षेपणवीर्य्योऽयमिन्द्रोऽनवरतं पिण्डधातून् विश्लेष्य विक्षिपन यज्ञप्रजापतिविग्रहं विस्रंसयति । स जीर्य्यति । इत्थमयमिन्द्रप्रधानो महेश्वरो निग्रहानुग्रहाभ्यां सर्वानीष्टे, तस्मादीशानः । सर्वमेव पिण्डं विक्षेपणवीर्य्यः संहरतीति क्रतुध्वंसी भवति । शृणातीति शर्वः । ज्योतिर्लक्षणत्वाच्चायमिन्द्रो ज्ञानं जनयति, तस्मात् सर्वज्ञः ।

भूतपतिः[५], पशुपतिः[६], महादेवः[७] ।

अथाग्नौ सोमाहुत्या यावन्तो यज्ञाः संपद्यन्ते, तेषामेकैकस्य द्वैरूप्यं संभवति—ब्रह्मौदनं, प्रवर्ग्यश्च । "द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य" इति यज्ञनिरूपकमन्त्र श्रुतौ यज्ञशीर्षत्वेन तयोराख्यातत्वात् । तत्र यावद् ब्रह्मणा भुक्तत्वाद् ब्रह्मौदनमुपपद्यते, तावत् प्रत्यर्थमस्य विष्णुप्रजापतेः रूपं यज्ञः । तदिदमेकैकं भूतं नाम । सर्वाणि हीमानि भूतानि यज्ञरूपाणि । अग्नीषोमीयत्वात् । अथैतस्माद् यज्ञरूपादिन्द्रेण विश्लेष्य विक्षेपितानां पिण्डधातूनामङ्गितः प्रवृज्जनादनात्मकं यत् प्रवृक्तं रूपं स पशुः । "अग्निर्वै पशूनां योनिः" मै० २।५ इति श्रवणात् । प्राणात्मना परित्यक्ता हीमे पशवोऽनात्मकाः सन्तः परस्यात्मनोऽन्नानि भवन्ति । आदीयन्ते विसृज्यन्ते—इति हि पशूनां रूपम् । तदित्थं यज्ञत एवैतानि भूतानि पशवश्चेति प्रजायन्ते । तत्राग्निसारं भूतम्, सोमसारः पशुः । "अग्निं तं मन्ये यो वसुः" इति मन्त्रश्रुत्या वसुशब्दानां भूतानामग्नित्वाख्यानात् । "पशवः सोमो राजेति" कौषितकिश्रुतौ पशूनां सोमत्वाख्यानाच्च । "पशुरेष यदग्निः । स एष पशुर्यदग्निः"—इत्यादि श्रुतिष्वग्नेः पशुत्वाख्यानं तु पाशुकाग्निविज्ञानपरं भाव्यम् । अग्नेः पशुष्वपि नाप्राप्तत्वात् । अतएव "सर्वाणि ह वै भूतानि सोमं राजानमनुप्रजायन्ते" इत्यादौ क्वचिद् भूतानामपि सोमत्वाख्यानं न विरुध्यते । सर्वेषामग्नीषोमीयत्वसिद्धान्तात् । वैशेष्यमूलकस्तूपचारोऽतिरिच्यते । तेनैष

महेश्वरोऽप्यग्निप्रधानो भूतपतिः, सोमप्रधानो पशुपतिरित्याख्यायते। ब्रह्मौदनप्रवर्ग्यौ यज्ञस्य रूपम्। आतश्चैतदुभयप्रधानोऽयं यज्ञो महान् देवः। तथा हि श्रूयते—

"एष ह वै महान् देवो यद्यज्ञः। एष मर्त्यानाविवेश"। इति० गो० २।१६।

८

त्रिनेत्रः

"वाचीमा विश्वा भुवनान्यर्पिता"—इति मन्त्रलक्षिता काचिदैन्द्री या वाक्, तामेवैतां विश्वव्यापिनीमाकाशमित्याहुः। तथाविधवाङ्मयत्वाच्चेदं स्वयंभूमण्डलं परमव्योम आहुः। अथैतद् वाक्परिश्रिताम्मयत्वात् परमेष्ठिमण्डलं व्योमपरिवारितवायुसमुद्रो नाम। अथ चैतद्वाक्परिश्रिताप्परिश्रिताग्निमयत्वात् सूर्य्यमण्डलमिदं—व्योमपरिवृतसमुद्रपरिवेष्टितहिरण्यस्तूपो भवति। हिरण्यं ज्योतिरग्निरित्येकोऽर्थः। अथैतत्सूर्य्यज्योतिः संस्थायामियं पृथिव्यपि सूर्य्यवद् वाक्परिश्रिताप्परिश्रिताग्निमयी भवति। तत्र सूर्य्योऽसौ विज्ञानात्मा सूर्य्यनेत्रो महेश्वरः। चन्द्रोऽयं प्रज्ञानात्मा चन्द्रनेत्रो महेश्वरः। अथेयं तु भूतात्मा अग्निनेत्रो महेश्वरः इति विशेषः। नेत्रशब्दोऽधिकृतसंस्थानसंचालनद्रष्टृप्रधानाध्यक्षान्यतमपरः। "देवा अग्निनेत्राः पुरःसदः, यमनेत्रा दक्षिणासदः, विश्वेदेवनेत्राः पश्चात्सदः," मरुन्नेत्रा वोत्तरासदः, सोमनेत्रा उपरिसदः (शत० ५।२।३।६) प्रज्ञानेत्रो लोकः (ऐ० उ० ३)

इत्यादिभ्यः श्रौतव्यवहारेभ्यस्तथैवावगमात्। महेश्वरश्चायं रोदसीनामोत्तमत्रैलोक्याधिष्ठाता विश्वविभागत्रैविध्यात् त्रिनेत्रो व्याख्यातः॥

९ सर्वभूतान्तरात्मा, १० ईश्वरः, ११ भवः, १२ भीमः।

तत्रायमग्निनेत्रो महेश्वरः सर्वभूतान्तरात्मा नामेष्यते। तस्येदं रूपं श्रूयते—

एको देवः सर्वभूतेषुगूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा
कर्म्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ॥१॥
अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्य्यौ दिशः श्रोत्रे वाग्विवृताश्च वेदाः।
वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य पद्भ्यां पृथ्वी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा ॥२॥

एतस्यैव रोदसीविश्वव्यापिनो महेश्वरस्यांशमादाय पृथिव्यां सर्वे जीवा उत्पद्यन्ते। प्रतिजीवशरीरे वैश्वानराग्निदर्शनाल्लोकचतुष्टयसंस्थानदर्शनाल्लोकचतुष्टयदेवताकार्य्योपलम्भाच्च। अत एवैतं सर्वभूतप्रभवं सन्तं भव इत्याचक्षते॥ अथ चैष "तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशद्"

–इति सिद्धान्तात् सर्वभूतानामन्तस्तिष्ठन् सर्वाणि कर्म्माणि ईष्टे, तस्मादीश्वरः । स्मर्य्यते चैतत्—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया । इति ।

एतस्यैव त्रैलोक्याधिष्ठातुरीश्वरस्य त्र्यक्षरस्य प्रशासने विश्वकर्म्माणि नियतानि प्रवर्तन्ते । यथोक्तम् "एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्य्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः,........द्यावापृथिव्यौ विष्ठते तिष्ठतः........निमेषा मुहूर्ता अहोरात्राण्यार्धमासा मासा ऋतवः संवत्सरा इति विधृतास्तिष्ठन्ति ।", इत्यादि (बृह० ३।८।९)

भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्य्यः ।
भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः (कठो० २।६।३)
भीषास्माद् वातः पवते भीषोदेति सूर्य्यः ।
भीषाऽस्मादग्निश्चेन्द्रश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः इति । (तै० उ० ८)

तेनायं कर्म्मणा भीम इत्याख्यायते ॥

१४

व्योमकेशः गङ्गाधरः ।

अयं भावः । "असद्वा इदमग्र आसीत् । ऋषयो वाव तेऽग्रे ऽसदासीत् । प्राणा वा ऋषयः । स योऽयं मध्ये प्राण एष एवेन्द्रः । तानेष प्राणान् मध्यत इन्द्रियेणैन्ध । त इद्धाः सप्त नानापुरुषानसृजन्त । त एतान् सप्तपुरुषानेकं पुरुषमकुर्वन् । अथ यै तेषां सप्तानां पुरुषाणां श्रीः यो रस आसीत् तमूर्ध्वं समुदौहन् तदस्य शिरोऽभवत् । स एव पुरुषः प्रजापतिरभवत् । अयमेव स योऽयमग्निः पञ्चधा चीयते । अथ यश्चितेऽग्निर्निधीयते तदस्यैतच्छिरः ।" ६।१।१। इतिश्रवणादयमग्निस्तावद् द्वेधा विवर्तते–चित्यः, चितेनिधेयश्च । तत्रायं चित्यः प्रजापतिरियं पृथ्वी पञ्चधा चीयमानत्वात् पञ्चमुखो महेश्वरो भवति । यस्त्वन्यः सप्तपुरुषश्रीमिश्रमपञ्च ऊर्ध्वोऽग्निः सोऽस्य मूर्द्धा द्रष्टव्यः । त्रिषु नेत्रेष्वग्नेरङ्कितत्रिकचछायामितरयोर्नेत्रत्वमवशिष्यते । पृथ्वी हीयमस्य प्रतिष्ठा पादनिधानदेशः । तत ऊर्ध्वं चतुर्धा विभागेनास्य रूपं ध्यातव्यम् । तथा हि पर्वचतुष्टयात्मिका हीयं पृथ्वी द्रष्टव्या । देवयजनात्मकतया वेदि–महावेदि–जलाशय–शून्यावकाशैश्चतुर्धा विभक्तत्वात् । तत्र यावानयं प्रतिष्ठारूपो वर्तुलवृत्तात्मा भूलपिण्डः सा हविर्वेदिः प्रथमं । अथ भूपृष्ठादूर्ध्वः सूर्य्यात्मकयूपान्तः प्रदेशो महावेदिर्द्वितीयं पर्व । अथ—

"इमं लोकं खातेन दक्षिणावृत् सर्वतः समुद्रः पर्य्येति" ७।१।१।

इति श्रवणाद् गोसवयज्ञान्तः प्रदेशो भवत्यपां स्थानम्, तत् तृतीयं पर्व । अथोर्ध्वमासामपां योनिः सत्या त्रयीविद्यामयी वागुपपद्यते । सोऽवकाशः पुनराकाशप्रदेशश्चतुर्थं पर्व ।

अथ वषट्कारात्मकतया स्तोमविधया पर्वचतुष्टयं ब्रूमः—

अन्नादमयोऽयं पृथ्वीपिण्डः प्रकृतिब्रह्म । सेयं पृथ्वी । अथैतदूर्ध्वं शुक्रत्रयावरणभेदादियं पृथ्वी त्रिसंस्था भवति—ब्रह्माण्डसंस्था, समुद्रसंस्था, परमाकाशसंस्था चेति । तत्र त्रिवृत्—पञ्चदश—सप्तदशैकविंशतिभेदाच्चतुष्टोमोऽयमग्निष्टोमो ब्रह्माण्डसंस्था । सेयमुखा पृथ्वी । तदूर्ध्वं त्रिणवत्रयस्त्रिंशाभ्यां षट्स्तोमोऽयमपां स्तोमः समुद्रसंस्था । सेयं सागराम्बरा पृथ्वी । सोऽयमुभयोऽग्नीषोमीयो देवस्तोमः । अथान्यैस्त्रिभिश्छन्दोमास्तोमैरष्टाचत्वारिंशान्तो वाक्स्तोमः । सोऽयं ब्रह्मस्तोमः ।

"सहस्रधा पञ्चदशान्युक्था यावद् द्यावापृथिवी तावदित् तत् ॥ ॥
सहस्रधा महिमानः सहस्रं यावद् ब्रह्म विष्ठितं तावती वाक् ॥" ऋ० ८।६।१७

इति मन्त्रश्रवणात् । तत्रासौ द्यौरग्निरस्य मूर्धा भवति । अथ येयं वागाकाशात्मा सर्वोर्ध्वं प्रथते सा खल्वस्य मूर्द्धोपरिस्थत्वात् केशस्थानीया भवति । केशानां मूर्द्धान्तरूपत्वावसायादिहापि अष्टाचत्वारिंशस्तोमोऽस्य महेश्वरस्यातिष्ठारूपं सिद्धं भवति । तेनायं व्योमकेशोऽभिष्टूयते । अथैतस्मिन्मूर्द्धोपरिष्टात् केशव्यूहे पञ्चविंशस्तोमादूर्ध्वं त्रयस्त्रिंशस्तोमान्तमापः प्रचरन्तीति कृत्वा स गङ्गाधरो नामाख्यायते । अम्भः, मरीचिः, मरः, श्रद्धा चेति चतुर्धा विभक्तानां दिव्यानामपां मध्ये प्रथमजानामम्भसां गङ्गात्वात्, तासामपां ब्रह्माण्डादूर्ध्वं महेश्वरशिरस्येव नित्यमवस्थानात् ॥

चन्द्रशेखरः ।

अथ पारमेष्ठ्यमण्डलेऽन्तर्मण्डलानि त्रीणि भवन्ति—आप्यं—वारुणमण्डलम्, वायव्यं हंसमण्डलम्, सौम्यं—ब्राह्मणस्पत्यमण्डलं चेति । तत्रैतद् ब्रह्मणस्पतिचन्द्रापेक्षया स महेश्वरश्चन्द्रशेखर उच्यते । व्योमात्मककेशप्रचयादधस्तस्य विद्यमानत्वात् ।

शिवः, शङ्करः, शंभुः ।

रोदसीत्रिलोकीवायुप्राणोऽयं रुद्रो यद्यग्निनाऽतितरां संश्रीयते स घोरो भवति,

ऋतुध्वंसी भूत्वा विरिष्टं करोति ।

अम्बानाम्नीभिः सौम्याभिरद्भिः सजूर्भवन्नेष सोमः शान्तो भवति मृडयति । घोराग्निकृतं सर्वमेवारिष्टं शमयति स शिवः शङ्करः शंभुः । क्रूरग्रहवशादुपेतोऽयं घोरो रुद्रोऽभिषेकविधयाभिषिच्यमानः साम्बसदाशिवो भूत्वा सर्वान्दोषान्निवर्तयति । सोमस्य तस्येयं शान्तिकरी शक्तिरुमा नाम । यत्तु मन्त्रसंहितायामस्य रुद्रस्य

"इमा रुद्राय तवसे कपर्द्दिने क्षयद्वीराय प्र भरामहे मतीः" ॥

"क्षयद्वीराय नमसा विधेम ते", "क्षयद्वीरस्य तव रुद्र मीढ्वः" ॥ (ऋ० मं० १।सू० ११४। १।२।३।) इत्येवं क्षयद्वीरत्वं कपर्द्दित्वं चाख्यायते, तद् भौमस्वर्गावस्थितानां मानुषदेवानां युगे मानुषरुद्राणां गुणधर्म्मं वेशधर्म्मं च भवेदिति ब्रूमः ॥ रुणद्धीति रुध्रः । रुन्धानो धरति एकत्र निगृह्णातीति वा रुद्रः । तं रुद्धं सन्तं रुद्र इत्याचक्षते परोक्षम् । रोदयतीति वा रुद्रः ॥ क्षयन् वीर्ते—स्वाधिकृतभावस्थानसापेक्षं नियमेनैकत्रावस्थितो विक्रमते—निग्रहानुग्रहाभ्यामनुशास्तीति क्षयद्वीरः, इति गुणधर्मो भवति । कपर्द्दस्तु वालाप्रचयपरिकल्पितः शिरोवेष्टनजटाजूटस्तस्य वेशधर्म्मो भवति । एवमेवान्यान्यपि कानिचिन्नामान्येषामेव मानुषाणां रुद्राणां सम्बन्धेनोपनेयानि । यथा—प्रमथाधिपः[१], अन्धकारिपुः[२], त्रिपुरान्तकः[३], उग्रः[४] स्थाणुः[५], इत्यादयो गुणशब्दाः स्युः । शूली[१], पिनाकी[२], खण्डपरशुः[३], नीललोहितः[४], शितिकण्ठः[५], जटाधरः[६], कपाली[७], कृत्तिवासाः[८], धूर्जटिः[९], चन्द्रशेखरः[१०], इत्यादयः शब्दा अधिकारसूचकानात्मसंज्ञकवेशपरिच्छेदवचनाः स्युरिति ऊह्यम् ॥

॥ महेश्वरस्य शुल्कवर्णत्वम् ॥

इदमत्रापरं बोध्यम् । यद्यपि—"सूर्य्यो रूपं कृणुते द्योरुपस्थे" यजु० ३३।३८ "रूपं-रूपं मघवा बोभवति" ऋ० ३।३।२० "इन्द्रो रूपाणि कनिक्रदचरद्" इत्यादिश्रुतिभ्यो रक्तपीतादिरूपाणामिन्द्रप्रसूतत्वं विज्ञायते, अतएव च वाक्शुक्रस्य प्रथमस्य स्वयंभुवो ब्रह्मणः शुक्लत्वम्, तृतीयस्य त्वग्निशुक्रस्येन्द्राक्षरस्य महेश्वरस्य सूर्य्यायतनत्वाद् हिरण्मयत्वं प्रत्यक्षमनुभूयते । तथापि त्वनयोः प्रथमतृतीययोर्ब्रह्ममहेश्वरयोः शरीरवर्णव्याख्यायां पौराणिकाः परस्परतो विपर्य्ययं पश्यन्ति । हिरण्मयो ब्रह्मा, श्वेत एष महेश्वर इत्याहुः । ब्रह्मप्रकृतेः प्राणस्य ऐन्द्राग्नत्वेन, महेश्वरप्रकृतेर्वाचस्तु सर्ववर्णसमुच्चयात्मकतया श्वेतत्वेन विवक्षणात् इत्यूह्यम् ।

विभक्तसप्तवर्णपर्य्यायग्राहित्वं हिरमयत्वम् । अविभक्तसप्तवर्णयुगपद्ग्राहित्वं श्वेतत्वम् । तथा च हिरण्मयपीतरूपप्रकृतिको ब्रह्मा सप्तवर्णसमुच्चयरूपो वाक्छुक्रत्वात् श्वेतवर्णः ।

श्वेतप्रकृतिकस्तु महेश्वरोऽयं हिरण्मयसप्तवर्णोद्बोधात् सर्ववर्णप्रकृतिः संज्ञया नीललोहित इष्यते। तत्र हीतहरितनीला नीलपक्षः। धूम्रशोणसुवर्णा लोहितपक्षः। उभयेऽपीमेऽग्निरञ्जित-सोमत्वाद् रक्ता वक्तु शक्यन्ते। नीलेषु त्रिष्वमग्निः सोमादधो नीतो भवति। अव—नी अधोव-चनी। इरेत्याग्निर्विवक्षितः। "इरा भूतिः पृथिव्यै रसः" इति यजुःश्रुतेः (तै० ब्रा० ३ का० ७ प्र० ५ अनु०) लोहितस्तु रोहितः सोमादूर्ध्वस्थः। तदित्थमिमे षड् वर्णा अनन्ताश्चान्ये तद्विकारा इन्द्रस्यैतस्य महेश्वरस्य रूपाणि। तदित्थमयमनेकरूपरूपो महेश्वरः। अथ कृष्णरूपो विष्णु-रन्यः। सप्तवर्ग समुच्चयात्मकश्वेतरूपस्तु ब्रह्मान्य इति भाव्यम्।

वाक्	अन्नम्	अन्नादः	ब्रह्म—प्रकृतिः	योनिः।
ब्रह्म	सोमः	अग्निः		
वाक्	आपः	अग्निः	शुक्रम्,	रेतः
ब्रह्मा	विष्णुः	महेश्वरः		
		अग्निः	रुद्र	३ श्वेतः
		आपः	विष्णुः	१ कृष्णः
		वाक्	ब्रह्मा	२ रक्तः

॥ इति ॥

इत्याधिकारिकेश्वरत्रैविध्यमाख्यातम् ॥

आधिकारिकपुरुषत्वे जीवनिरुक्तिप्रकरणम्।

व्याख्यातस्त्रिविध ईश्वरः। अथातस्त्रिविधं जीवं व्याख्यास्यामः। योऽयमाधिकारि-केश्वरस्त्रेधा व्याख्यातस्तस्यैवान्यतमस्यांशविशेषोदञ्चनादेष जीवो नाम प्रजापतिर्जायते। सोऽयं विश्वदानिर्नाम यज्ञः संज्ञायते। तस्येश्वरांशत्वमुक्तं शारीरकसूत्रे भागवता कृष्णद्वैपायनेन।

"अंशो नानाव्यपदेशादिति" भगवान् कृष्णवासुदेवोऽप्याह गीतायाम्—

"ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः"—इति। तस्य जीवस्येश्वरांशत्वं पञ्चधा—

१ अग्नेर्विस्फुलिङ्गवत्।

२ और्णनाभस्य तन्तुवत्।

३ महाकाशस्य घटाकाशवत्।

४ बिम्बप्रतिबिम्बवत्।

५ स्वामिभृत्यवच्चेति।

नि—हरः—नीलः—इत्याभिप्रेतम्।

जीवस्य चेश्वरांशत्वं पञ्चधा प्रतिपद्यते।
विस्फुलिङ्गवदग्नेः स्यादौर्णनाभस्य तन्तुवत् ॥१॥
आकाशस्य घटाकाशो बिम्बस्य प्रतिबिम्बवत्।
स्वामिनो भृत्यवच्चेति भाव्यं सूक्ष्मधिया तु तत् ॥२॥
जीवोऽयमीश्वरस्यांशः स्यान्नाना व्यपदेशतः
इति शारीरके सूत्रे व्यासेन प्रतिपादितम् ॥३॥
ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
इत्युक्तमपि गीतायां कृष्णेन च महात्मना ॥

तथा च श्रूयते—

१ "यथा सुदीप्तात् पावकाद् विस्फुलिङ्गाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः।
तथाऽक्षराद् विविधाः सौम्य भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति ॥ मु० ।२।१
यथाग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्ति-एवमेवैतस्मादात्मनः सर्वे प्राणाः"—
बृह० २।१।२० इति—स्फुलिङ्गवत्

२ "यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च यथा पृथिव्यामोषधयः संभवन्ति—
यथा सतः पुरुषात् केशलोमानि तथाऽक्षरात् संभवतीह विश्वम् ॥ मु० १।७
यथोर्णनाभिस्तन्तुनोच्चरेत्............एवमेवैतस्मादात्मनः
सर्वे प्राणाः सर्वे लोकाः सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि व्युच्चरन्ति ॥ बृह०।२।१।२०

३ "यद्वै तद् ब्रह्म—इति—इदं वाव तद् योऽयं बहिर्धा पुरुषादाकाशः। अयं वाव इत्यौर्णनाभस्य स योऽयमन्तः—पुरुष आकाशः। अयं वाव स योऽयमन्तर्हृदय आकाशः। तदेतत् पूर्णम्। (छा० ३।१२।)

"स ब्रूयाद्—यावान् वा अयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदय आकाशः। उभे अस्मिन् द्यावापृथिवी अन्तरेव समाहिते, उभावग्निश्च वायुश्च, सूर्याचन्द्रमासावुभौ, विद्युन्नक्षत्राणि। यच्चास्ये हास्ति यच्च नास्ति सर्वं तदस्मिन् समाहितम्। इति। (छा० ८।१।)

"मनोमयः प्राणशरीरो भारूपः सत्यसंकल्प आकाशात्मा...........एष म आत्माऽन्तर्हृदयेऽणीयान् व्रीहेर्वा यवाद्वा सर्षपाद्वा श्यामाकाद्वा श्यामाकतण्डुलाद्वा। एष म आत्माऽन्तर्हृदये ज्यायान् पृथिव्या, ज्यायानन्तरिक्षाद्, ज्यायान् दिवो—ज्यायानेभ्यो लोकेभ्यः। इति। (छा० ३।१४।२।३।)

श्रूयते चान्यत्र—

"अणोरणीयान् महतो महीयानात्मा गुहायां निहितोऽस्यजन्तोः।
तमक्रतुः पश्यति वीतशोको धातुः प्रसादात् महिमानमीशम् ॥"

(श्वेता० ३।२०)

सूक्ष्मातिसूक्ष्मं कलिलस्य मध्ये विश्वस्य स्रष्टारमनेकरूपम्।
विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं ज्ञात्वा शिवं शान्तिमत्यन्तमेति ॥

(श्वेता० ४।१४)

बुद्धेर्गुणेनात्मगुणेन चैव आराग्रमात्रोऽप्यपरोऽपि दृष्टः ॥

(श्वेता० ५।८)

इति महाकाशस्य घटाकाशवत्।

४ "यथा ह्ययं ज्योतिरात्मा विवस्वानपो भिन्ना बहुधैकोऽनुगच्छन्।
उपाधिना क्रियते भेदरूपो देवः क्षेत्रेष्वेवमजोऽयमात्मा ॥
एक एव तु भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः।
एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत्।

अत्र सर्वभूतान्तरात्मा नामायं तृतीय आधिकारिकेश्वरोऽव्ययः प्रतिजीवशरीरं शरीरावच्छिन्नत्वेन भिद्यते। ततोऽयमंशांशिभावो विधीयते ॥ इति प्रतिबिम्बवत्।

५ अपि चान्ये स्वामिभृत्यवत् पश्यन्ति—

"ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशावजा ह्येका भोक्तृभोगार्थयुक्ता।
अनन्तश्चात्मा विश्वरूपो ह्यकर्ता त्रयं यदा विन्दते ब्रह्ममेतत् ॥
क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः क्षरात्मानावीशते देव एकः" ॥

(श्वेता० १।८।६)

"भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत्"।

(श्वेता० १।१२)

अत्र भोक्ता जीवः। भोग्यं शब्दादिः।
प्रेरिता नियन्ता तयोरीश्वरः ॥

सर्वथा हीदमविशेषादुपपद्यते। दृष्टिभेदेनोपपादनभेदेऽपि वस्तुभेदाभावादित्यन्यत्र निरूपितम्। स जीवस्त्रिविधः—सांस्कारिकः, आधिकारिकः, अगतिकश्चेति।

१—अगतिको जीवः।

तत्रादावगतिको जीवो वक्तव्यः। एषु खलु जीवेषु सूक्ष्मशीलानामल्पत्वे निरस्थिका जीवाः प्रादुर्भवन्ति—आध्यात्मिकाः—भूणाश्मरादयो रक्ताशयादिधातुगतकृमयश्च। अथाधिभौतिकाः दंश मशकादयः। ते चैतेऽनस्थिका जीवा नत्वेव लोकान्तरं गच्छन्ति इहैव पृथिव्यां जायन्ते म्रियन्ते, पुनः—पुनरावर्त्तन्ते। तस्मादलोक्या अमी अगतिका इष्यन्ते।

उक्तं च ताण्ड्यश्रुतौ—

"अथैतयोः पथोर्न कतरेणचन। तानीमानि क्षुद्राण्यसकृदावर्तीनि भूतानि भवन्ति। जायस्वम्रियस्वेत्येतत्तृतीयं स्थानम्। तेनासौ लोको न संपूर्य्यते। तस्माज्जुगुप्सेत। छा० उ० प० ।१०। ति।

२—सांस्कारिको जीवः।

अथ सांस्कारिकः संसारी जीवो वक्तव्यः। सांसारिकास्तु संस्कारिणः सर्वे जीवास्तृतीयस्यैवाधिकारिकेश्वरस्य महेश्वरस्य प्रवृत्तेभ्योऽशविशेषेभ्यो जायन्ते—इति सिद्धान्तः। तस्य हि महतो देवस्य प्रवर्ग्यभूतोऽयमंशः पृथगिव योगमायाबलं गृह्णाति। तत्र योगमायायाममृतब्रह्मशुक्रादयो भावाः पार्थक्येनावच्छिद्यन्ते। विश्वव्यापिनः सर्वभूतान्तरात्मनोऽयमंशविशेषो भूतात्मा भवति। स्वभावतश्च भूतेषु तिष्ठन्तं तमन्यो महानात्मा विज्ञानात्मा चाभिव्याप्य तिष्ठतः। स्मरन्ति हि मन्वादयो महर्षयः।

"तावुभौ भूतसंपृक्तौ महान् क्षेत्रज्ञ एवच।
उच्चावचेषु भूतेषु स्थितं तं व्याप्य तिष्ठतः" ॥ इति ॥ मनु०

तेनायमिन्द्रियेभ्यः संपन्नतमो भूत्वा कर्म्मणा युक्तः संसारी जीवो जायते। त्रिविधानामेषां जीवानामाधिकारिकेश्वरस्त एवोत्पत्तिं पश्यन्ति। तथा हि—

"सर्वेषां वा एष भूतानां सर्वेषां देवानामात्मा यद्यज्ञः। श० १४।२।३।
प्रजापतिर्वै यज्ञः। कौ० ३।३। यज्ञो वै प्रजापतिः। कौ० ३।७।
यज्ञो वै भुवनम्। ३।२।७ यज्ञो वै भुवनस्य नाभिः। तै० ६।५।

इत्यादिश्रुतिभ्यस्तावदाधिकारिकेश्वराः पञ्च प्रजापतयो यज्ञाः। यज्ञतश्च प्रजाः प्रजायन्ते।

"प्रजापतिः प्रजा असृजत। ता वैश्वदेवीमेवासृजत "तस्मादिमा वैश्वदेवीः। प्रजाः। लोका वै विश्वेदेवाः। मै० ३।१०।६ इति श्रवणात्।

स्मर्य्यते च—

"सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ॥

अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्" ॥ इति ॥ गी०

यज्ञस्वरूपं चोपवर्णितं गोपथश्रुतौ—

"चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य ॥

त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्या आविवेश" ॥ इति ॥ ऋ० ३।८।१०

वेदाश्चत्वारि शृङ्गाणि । त्रयः पादाः सवनानि । द्वे शीर्षे ब्रह्मौदनप्रवर्ग्यौ । छन्दांसि सप्त हस्ताः । मन्त्रब्राह्मणकल्पैस्त्रिधा बद्धः । वृषभो रोरवीति-ऋग्भिर्यजुर्भिः सामभिश्च ह्यभिः शस्त्राणि शंसति । स एष महान् देवो यज्ञो मर्त्यानिमान् भूतगणानन्तः प्रविवेश—इत्यर्थः ।

अयं भावः । भूर्भुवः स्वः—त्रैलोक्याधिष्ठाता सर्वभूतान्तरात्मा नामायं महेश्वरः प्रजापतिरेवैष यज्ञो महान् देवः । तस्यैवांशोद्भवादयं भूतात्मा नाम जीवात्मा यज्ञः प्रवर्तते । स चायं शतवार्षिकः षट्त्रिंशत्सहस्राहः सत्रयज्ञो भवति । स द्विविधः प्रतिपत्तव्यः—आरम्भिकयज्ञः उत्तरयज्ञश्चेति । उभयोश्चैतयोः सप्ताहुतयो व्यवतिष्ठन्ते—शुक्राहुतिः[1], महदाहुतिः[2], प्राजापत्याहुतिः[3], वैश्वदेव्याहुतिः[4], ब्रह्मज्योतिषाहुतिः[5], श्रीलक्ष्म्याहुती[6][7] चेति । यावदेताः सप्ताहुतयो लोके वर्तन्ते, तावदेवायं विश्वकर्मानाम यज्ञो जीवात्मा जीवन्निह लोके प्रतितिष्ठति । आरम्भिकयज्ञप्रायणीयं जीवात्मनो जन्म । अथैकस्य अप्याहुतेः स्खलितौ स यज्ञो नश्यति यज्ञनाशाच्चायं जीवो म्रियते—इति स्थितिः । ता विश्वकर्मयज्ञस्यैताः सप्ताहुतयः श्रुतौ षडृचेन—उत्तरनारायणसूक्तेनाम्नायन्ते ।

"अद्भ्यः सम्भृतः पृथिव्यै रसाच्च विश्वकर्मणः समवर्तताग्रे ।

तस्य त्वष्टा विदधद्रूपमेति तन्मर्त्यस्य देवत्वमाजानमग्रे ॥ १ ॥

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ॥

तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥ २ ॥

प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरजायमानो बहुधा विजायते ।

तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीरास्तस्मिन् ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा ॥ ३ ॥

यो देवेभ्य आतप्रति यो देवानां पुरोहितः ।

पूर्वो यो देवेभ्यो जातो नमो रुचाय ब्राह्मये ॥ ४ ॥

रुचं ब्राह्मं जनयन्तो देवा अग्रे तदब्रुवन् ॥

यस्त्वैवं ब्राह्मणो विद्यात्तस्य देवा आसन् वशे ॥ ५ ॥

श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्यावहोरात्रे पार्श्वे नक्षत्राणि रूपमश्विनौ व्यात्तम् ॥

इष्णन्निषाणामुं इषाण सर्वलोकं म इषाण ॥ ८ ॥ इति यजु० ३१ अ० १७-२२॥

अयमर्थः। अद्भ्य इति प्रथमां शुक्राहुतिमाह । अद्भ्यः पृथ्वीरसाद् विश्वकर्म्मरसाच्चेत्येतैस्त्रिभिर्द्रव्यैः शुक्रमुत्पद्यते । तत्र-आपः, वायुः, सोमः, इत्येतत्त्रितयमापो नामैकोऽर्थः ।

"आपो भृग्वङ्गिरोरूपमापो भृग्वङ्गिरोमयम् ।"

इति श्रुतावाप्यत्वेनाम्नातस्य भृगोरेतत्त्रैविध्येन गोपथश्रुतावाम्नातत्वात् । एभिरेव त्रिभिः शुक्रमिदं प्रथमतः संभृतं भवति । अथ—पृथिव्या रसाच्चेदं संभ्रियते । पृथिवीत्युपलक्षणं पञ्चभूतानाम् । "चेतनाषष्ठा भूतधातवः शुक्रम्" इत्यायुर्वेदसिद्धान्तात् । अथ विश्वकर्म्मणो रसाच्चेदं शुक्रं संभ्रियते । अग्निः, वायुः, इन्द्रः, इत्येते लोकत्रयाधिष्ठातारः प्राणा विश्वकर्म्माणः । तथा चैतैस्त्रिभिः शुक्रस्य संभृतत्वादियं द्वादशरसा शुक्राहुतिरग्नेः समवर्त्तत । शुक्राहुतिमन्तरेणान्यासामाहुतीनामसंभवात् ।

अथैतस्याः शुक्राहुतेरुपयोगमाह—"तस्य त्वष्टेति ।" तेन शुक्रेण रूपं शरीरस्याकारं परिणमय न्नादित्यविशेषस्त्वष्टा देवोऽस्मिन् शरीरे समन्वेति । "त्वष्टा वै रेतः सिक्तं विकरोति" इत्यन्यत्र श्रवणात् । तेनैतस्य भूतात्मनो देवत्वमुपपद्यते । तदाह—"तन्मर्त्यस्य देवत्वमिति" । द्विविधा हि देवाः—कर्म्मदेवाः, आजानदेवाश्च । अदेवा मनुष्यादयः कर्म्मप्रभावात् सिद्धे देवत्वे कर्म्मदेवा भवन्ति । यथा विद्वांसो याज्ञिकाः यज्ञकर्मणा दैवमात्मानमपूर्वं संपाद्य मनुष्यदेवा भवन्ति । जन्मसिद्धे तु देवत्वे भवन्त्याजानदेवाः—यथाग्निवरुणेन्द्रादयः । श्रूयते चैवम्—

"द्वया वै देवाः । देवा अहैव देवाः । अथ ये ब्राह्मणाः शुश्रुवांसोऽनूचानास्ते मनुष्य देवाः" इति । तत्र दैवेनात्मना सात्मत्वे मनुष्याणां देवत्वमुपपद्यते । "दैवो वा अस्यैष आत्मा मानुषोऽयम्" । श० ६।३।१।१६। (अपि च ६।४।६।६) इति श्रवणात् । तथा चेत्थं मर्त्यस्य कर्म्मणा देवत्वमुत्तरतः संभवति, किन्तु तस्य जन्मकाले देवानामयमुपादानत्वेनात्मनि सन्निवेशस्ततोऽस्य मर्त्यस्याप्याजानदेवत्वमुपपद्यते । शुक्राहुतिजातस्य मर्त्यस्य शुक्रारम्भकविश्वकर्म्मत्वष्ट्राद्याजानदेवतामयत्वात् । (१)

(२) अथ शुक्राहुतेरूर्ध्वं द्वितीया महदाहुतिर्भवति । सोमरसोऽयं महानात्मा प्राणिनां स्थोऽवतिष्ठते । सूयते परस्मिन्नात्मनि संस्रवते सोऽर्थः सोमः । स संस्रवस्त्रिविधः—आत्मप्रसवलक्षणः, आत्मसहोलक्षणः, आत्मप्रसरणाभिव्याप्ति लक्षणश्च ।

संस्रवत्रयहेतु भूतानि चन्द्रमसि त्रीण्युक्थानि भवन्ति—रेतः, श्रद्धा, यशश्चेति ।

तत्र प्रसवलक्षण संस्रवो रेतो नाम। सहोलक्षणः संस्रवस्तु श्रद्धा नाम। अथात्मप्रसरणाभिव्याप्तिलक्षणः संस्रवो यशो नाम।

एषां मध्ये—गुणकीर्तनानुबन्धिन्या सौम्यया वाचा कश्चिदात्मा सर्वजनसाधारणहृदयेषु स्थानं लभते सोऽयं वाग्द्वारकात्मप्रसरणाभिव्याप्तिलक्षणः संस्रवो यशो नाम ॥३॥

अथैकस्यात्मनो धातुविशेषः प्रवृज्य परस्मिन्नात्मनि संस्रवते, स एष सुतः प्रजायते तस्मात् प्रसव लक्षणः संस्रवः। तथा च श्रूयते—

"विचक्षणाद् ऋतवो रेत आभृतं पञ्चदशात् प्रसूतात् पित्र्यवतः।
तन्मा पुंसि कर्तर्य्यैरयध्वं पुंसा कर्त्रा मातरि मा निषिञ्च ॥१॥
स जायमान उप जायमान द्वादश त्रयोदश उप मासः।
द्वादश त्रयोदशेन पित्रा सं तद्विदेहं प्रति तद्विदेहम्" ॥२॥

ऋतुरस्मि। आर्तवोऽस्मि। आकाशाद् योनेः संभूतो भार्य्यायै रेतः संवत्सरस्य तेजोभूतस्य भूतस्यात्मा। भूतस्य त्वमात्मासि। यस्त्वमसि सोऽहमस्मि"—इति। कौषी०। उपलक्षणमिदं सर्वेषां वृक्षादिबीजानाम्। यदेव यत्र प्रसवायोपयुज्यते तत् तत्र रेतः। यथोक्तमैतरेयश्रुतौ—

"अथातो रेतसः सृष्टिः। प्रजापते रेतो देवाः। देवानां रेतो वर्षम्। वर्षस्य रेत ओषधयः। ओषधीनां रेतो अन्नम्। अन्नस्य रेतो रेतः। रेतसो रेतः प्रजाः। प्रजानां रेतो हृदयम्। हृदयस्य रेतो मनः। मनसो रेतो वाक्। वाचो रेतः कर्म। तदिदं कर्म्मकृतमयं पुरुषो ब्रह्मणो लोकः। स इरामयः। यद्धिरामय एतस्माद्धिरण्मयः"—इति। ऐत०।

स एष आत्मनोऽन्यत्रात्मनि प्रसवलक्षणः संस्रवो रेतो नाम सोम आख्यायते ॥१॥

अथात्मसहोलक्षणः संस्रवो व्याख्यायते। तथा हि—"श्रद्धा वा आपः। आपो वै श्रद्धा"—(॥) यदात्माश्रयते यदाश्रित्यायमात्मा प्रतिष्ठति तत् सत्य श्रत। श्रतो धानं श्रद्धा। मैत्रात्मप्रतिष्ठाहेतोः सत्यस्य यत्र क्वचिदन्यस्मिन्नात्मनि प्रवाहमर्यादया परिस्थितिस्तत्रैव सत्यवशादयं मैत्रात्मा प्रेमबन्धनेन प्रतितिष्ठति। स तत्रात्मना श्रद्धत्ते। तस्मात्तत्रायमात्माऽनुरज्यते। अनुरञ्जनमद्भिः संपद्यते। तस्मादापः श्रद्धा।

अथवा—स्वस्यात्मानो योंऽशः परस्मिन्नात्मन्युसृप्य तमात्मानं श्रयते—(तत्रानुबद्धः प्रतितिष्ठति) सोंऽशः श्रित। तत् पारोक्ष्यतः श्रत। स यत्रात्मन्येतं श्रतं धत्ते, श्रत सूत्रेण गृहीतोऽयमात्मा तत्रात्मनिबद्ध इव तिष्ठति। अत एव चन्द्रमसि गतानां पितॄणमष्टाविंशतिसहस्रामेकः पिण्डः "सापिण्डयं साप्त पौरुषम्"—इति सिद्धान्तात् सप्तपीठेसु तनयपुरुषेषु प्रस्तारेण संतन्यते। तत्रैते पितरश्च संतानाश्चान्योऽन्यं श्रतो दधते तदिदं श्रद्धासूत्रं श्राद्धस्य

कर्म्मणो मूलम्॥ एष सहोलक्षणः संभवः। कितत् सहः ? इति जिज्ञासायामुच्यते—

चान्द्रो हि रस उदयास्तकालावच्छेदेन शुक्रे आहूयमान एकं सहो भवति। नाक्षत्र-मासान्ते नक्षत्रभेदादष्टाविंशतिसहसामेकः पिण्डः संपद्यते। प्रतिमासमन्योऽन्यः पिण्डः संभवन् मनस्विनां भावनाशीलानां स ऊर्ध्वस्रोताः, व्यायामपराणां श्रमिणां स तिर्य्यक्-स्रोताः, अथ स्त्रैणानां सन्तानिनां सोऽधः स्रोता भवन्नहरहर्व्येतीति स्थितिः। तत्राधः स्रोतसः सन्तानाय सुतः स पिण्डः सप्तधा विभज्यते।

(१) अष्टाविंशतिसहाः पिण्ड आवापः। तस्य निवापाद् द्वेधा विभागः—
सप्त सहांसि प्रथमो बीजो पुरुषः। एकविंशति सहांसि तनयः। स पुत्रः प्रथमः संतानः।

(२) एकविंशतिसहाः पिण्ड आवापः। तस्य निवापाद् द्वेधा विभागः—
षट् सहांसि द्वितीयः पुत्रपुरुषः। पञ्चदश सहांसि तनयः। स पौत्रो द्वितीयः संतानः।

(३) पञ्चदशसहाः पिण्ड आवापः। तस्य निवापाद् द्वेधा विभागः।
पञ्च सहांसि तृतीयः पौत्रपुरुषः। दश सहांसि तनयः। स प्रपौत्रः तृतीयः संतानः।

(४) दशसहाः पिण्ड आवापः। तस्य निवापाद् द्वेधा विभागः—
चत्वारि सहांसि प्रपौत्रपुरुषश्चतुर्थः। षट् सहांसि तनयः। स वृद्धप्रपौत्रश्चतुर्थः संतानः।

(५) षट्सहाः पिण्ड आवापः। तस्यनिवापाद् द्वेधा विभागः।
त्रीणि सहांसि वृद्धप्रपौत्रः पञ्चमः पुरुषः। त्रीणि सहांसि तनयः। सोऽतिवृद्धप्रपौत्रः पञ्चमः संतानः।

(६) त्रिसहाः पिण्ड आवापः। तस्य निवापाद् द्वेधा विभागः—
द्वे सहसी अतिवृद्धः प्रपौत्रः षष्ठः पुरुषः। एकं सहस्तनयः। स वृद्धातिवृद्धप्रपौत्रः षष्ठः संतानः

(७) एकसहाः पिण्ड आवापः। तस्य निवापे द्वेधा विभागो नास्ति।
एकं सहो वृद्धातिवृद्धप्रपौत्रः सप्तमः पुरुषः। तस्य सहसस्तनयः शून्यः।
तदित्थं सापिण्ड्यं साप्तपौरुषमुपपद्यते। सप्तानां पुरुषाणामेकपिण्डावयवारब्ध-शरीरत्वात्॥

४६

प्रतिपुरुष सप्तपितृणां सप्तधा विभक्ताः पिण्डावयवाः संहृत्य षट्पञ्चाशदनुषज्यन्ते, तेऽमी मनुष्यशरीरस्थाः सोमसहोमयाः पितृभागा भवन्ति। अष्टाविंशति (२८) सहांसि च पुनः स्वभागा भवन्ति। तदित्थं चतुरशीतिः (८४) योनयो महतो ब्रह्मणो भागाः प्रतिमनुष्यशरीरं श्रद्धासंज्ञिका आपो व्यवतिष्ठन्ते—इति विज्ञेयम्॥*

---

*प्रपञ्चितोऽयमर्थ आशौचपञ्जिकायामिति विशेष जिज्ञासुभिस्तत्रैव द्रष्टव्यः॥

२८

७ २१

६ १५

५ १०

४ ६

३ ३

२ १

१ ०

आवाप:	पितृभाग:	सूनुभाग:
२८	७	२१
२१	६	१५
१५	५	१०
१०	४	६
६	३	३
३	२	१
१	१	०
८४	२८	५६

तथा च पञ्चैते यज्ञा मर्त्यान् सूर्यादर्वाक्प्रदेशानाविष्टा: सन्तो ब्रह्मौदनप्रवर्ग्याभ्यां द्विधाकृत्वा सर्वा: सृष्टीः संजनयन्ति ।

चातु: प्राश्यब्रह्मौदनस्वरूपम् ।

तत्र तावत् पञ्चैते यज्ञाः स्वेतरेषां चतुर्णां ब्रह्मणामाधिदैविकानामन्नरूपेण तेषु प्रविशन्तस्तानाप्याययन्ति । अन्नं प्राप्नुवन्ति सन्ति तान्यचितानि भवन्ति । श्रूयते हि—

* "प्रजापतिरथर्वा देवस्तपस्तप्त्वा—एतच्चातु: प्राश्यं ब्रह्मौदनं निरमिमत

* चतुर्लोकं, चतुर्देवं, चतुर्वेदं, चतुर्होत्रमिति" ।

१ "चत्वारो वा इमे लोकाः—पृथिव्यन्तरिक्षं द्यौराप इति" ॥

२ "चत्वारो वा इमे देवाः—अग्निर्वायुरादित्यश्चन्द्रमा इति" ॥

३ "चत्वारो वा इमे वेदाः—ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदो ब्रह्मवेद इति" ॥

४ "चतस्रो वा इमा होत्राः—हौत्रमाध्वर्य्यवमौद्गात्रं ब्रह्मत्वमिति"।

षोडशैतानि ब्रह्माणि तदनुबन्धीनि च सर्वाणि धर्माणि स्वयंभ्वादिषु चतुर्षु ब्रह्मसु प्रत्येकमुपतिष्ठन्ति। ते चेतरेषां चतुर्णां महिमानो भवन्ति। स्वयंभुवः प्राणेभ्यो वेदाः। परमेष्ठिनः पुनरद्भ्यो लोकाः। सूर्य्यस्य वाग्भ्यो देवाः। पृथ्वीचन्द्रयोरन्नादान्नाभ्यां होत्रा उत्पद्यन्ते। मर्त्यत्वस्वाभाव्यादनवरतं विस्रंसमानान्येतान्येकान्तत एवोदसत्स्यन्, यदि पुनर्ब्रह्मौदनं नालप्स्यन्त।

ईश्वरोपकल्पितब्रह्मौदनवशात्त्वेषा ब्राह्मी स्थितिरनन्तकालमनुवर्तते—इति विज्ञेयम्।

ईश्वरयज्ञोच्छिष्टेभ्यो जीवयज्ञसिद्धिः।

अथैतेषां ब्रह्मौदनानां ब्रह्मभुक्तेभ्यो यावदुच्छिष्टं तत प्रवर्ग्यम्। तत् तेभ्यो ब्रह्मभ्यः प्रवृक्तं भूत्वा तत्र तत्र ब्रह्मपृष्ठे जीवात्मनामुदयायोपादानं भवति। अत एवाम्नायते—"उच्छिष्टात् सकलं जगत्" इति ॥

षड्ब्रह्मोच्छिष्टेभ्यो जीवात्मषट्तन्त्रायतनसिद्धिः।

तत्र तावदेतेभ्यः षड्भ्यो ब्रह्मोच्छिष्टेभ्यः पुनराध्यात्मिकषट्तन्त्रसम्पत्तये षडायतनानि जायन्ते—

(१) १—स्वयम्भुवस्तावदव्यक्तम्।
२—परमेष्ठिनश्चेतः।
३—सूर्य्याद्—बुद्धिः।
४—चन्द्रान्—मनः।
५—अमृतादग्नेः प्राणः—इन्द्रियग्रामः।
६—मर्त्यादग्नेः शरीरञ्चेति।

त एते षट् कोशा इष्यन्ते॥ ॥

पञ्चीकृतषड्ब्रह्मणां जीवात्मषट्तन्त्रसाधनत्वम्।

(२) अथैतेष्वायतनेषु आधिदैविकब्रह्मप्रवर्ग्यभूतानि षड् ब्रह्माणि षट्तन्त्रसाधनानि

क्रमशः प्रवर्त्तन्ते । पञ्चीकृतेन च तेन तेन ब्रह्मणा तत्तत् तन्त्रं संपद्यते । तत्र च —

१—अव्यक्ते—प्राणप्रधानेन ।

२—चेतसि—अपप्रधानेन ।

३—बुद्धौ—वाक्प्रधानेन ।

४—मनसि—अन्नप्रधानेन ।

५—प्राणे—चितेनिधेयान्नादाग्निप्रधानेन ।

६—शरीरे—चित्यान्नादाग्निप्रधानेन तत्तत् तन्त्रं प्रवर्तते—इति विशेषः ॥

जीवषडात्मनां तन्त्रायिणां तन्त्राणि ।

(३) अथ षडात्मानश्चैषां तन्त्राणां तन्त्रायिणो भवन्ति

१—याजुषब्रह्माग्निमयः—

१ शान्तात्मा, अव्यक्तात्मा, वेदलक्षण ऋग्यजुःसामभिस्त्रिपर्वा व्यक्त्यभिव्यक्तिमीष्टे

२—सुब्रह्मभृगुमयः—

२ महानात्मा, गुणात्मा, गुणलक्षण, सत्वरजस्तमोभिस्त्रिपर्वा योन्याकारमीष्टे ।

३—सुब्रह्माङ्गिरोमयः—

३ विज्ञानात्मा, क्षेत्रज्ञात्मा, विद्यालक्षणो विद्याविद्याभ्यां द्विपर्वा बन्धमुक्ती ईष्टे ।

४—भास्वरसोममयः—

४ प्रज्ञानात्मा, कामात्मा, इच्छालक्षण उक्थार्काशितिभिस्त्रिपर्वा प्रवृत्तिनिवृत्तिस्तम्भलक्षणावृत्तीरीष्टे ।

*

५—सोमवयारूढाग्नित्रयदेवमयः—

५ प्राणात्मा, कर्म्मात्मा, इन्द्रियलक्षणः प्रजा, प्राण, भूतमात्राभिस्त्रिपर्वा कर्म्माणीष्टे ।

६—कृष्णाजिनपुष्करपर्णमयः—

६ शरीरात्मा, पिण्डात्मा, आवरणलक्षणो भूतदेवबीजानां चितिभिस्त्रिपर्वा संसारयात्रामीष्टे ।

जीवषडात्मनामुपयोगाः ।

(४) १—तत्रैष शान्तात्मा त्रिविधतन्त्रं निर्वाहयन् अस्तिभातिप्रियनामरूपकर्म्मभिः पृथगर्थमभिव्यञ्जयति ।

२—अथ महानात्मा त्रैगुण्यतन्त्रं निर्वाहयन् गुणत्रयप्रपञ्चैरेकैकस्यामर्थजातो नानाविध्यं प्रवर्त्तयति । बीजग्रामात सत्त्वेनाहंकृतिम् । रजसा देवग्रामात प्रकृतिम् । तमसा भूतग्रामात् तु आकृतिं जनयति । योनीश्च नानाविधा मनुष्यपशुपक्षि कीटकृम्यादिरूपाः कल्पयति ।

३—अथ विज्ञानात्मा विद्याविद्याभ्यां बन्धमुक्तितन्त्रं निर्वाहयन् सर्वानेवैतान् जीवपुरुषान्—अविद्याभिर्बन्धेन विद्याभिर्मोक्षेण च यथायथमनुसंयोजयति ।

४—अथ प्रज्ञानात्मा ज्ञानक्रियार्थतन्त्रं निर्वाहयन् प्रवृत्तिनिवृत्तिस्तम्भैः सर्वाणीन्द्रियाण्यनुसंबध्नाति ।

५—अथ प्राणात्मा इन्द्रियतन्त्रं निर्वाहयन् प्रज्ञामात्रा-प्राणमात्रा-भूतमात्राभिः सर्वाणीन्द्रियाण्यनुसंबध्नाति ॥ ॥

६—अथ शरीरात्मा आत्मतन्त्रं निर्वाहयन् स्थूल-सूक्ष्म-कारणशरीरैरायतनानि प्रकल्प्य पञ्चाप्यात्मनोऽनुगृह्णाति ।

जीवषडात्मनां पौर्वापर्य्यम् ।

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः ।
मनसश्च परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान परः ॥१॥
महतः परमव्यक्तमव्यक्तात पुरुषः परः ।
पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गतिः ॥ २॥

श्रोत्रे..................		दिक्सोमः श्रोत्रम्
१ चक्षुषी.............. २ घ्राणौ............... ३ वाक्................		आदित्यः ३ वायुः २ अग्निः १
मनः..............	V	भास्वरसोमः मनः

जीवप्रज्ञात्मनामीश्वरषडात्मप्रवर्ग्यत्वम् ।

१—स्वयंभुवः प्रवर्ग्यमव्यक्तं त्रैविद्यम्, स प्राणमयः शान्तात्मा निष्पद्यते ॥१॥

२—परमेष्ठिनः प्रवर्ग्यं महत् त्रैगुण्यम्, स अम्मयो महानात्मा ॥२॥

३—हिरण्यगर्भस्य सूर्य्यस्य प्रवर्ग्यं बुद्धिर्विद्याविद्ये, वाङ्मये स विज्ञानात्मा ॥३॥

४—चन्द्रमसः प्रवर्ग्यं मनः, स सोममय ऐन्द्रियको मात्रात्रयीप्रत्ययः प्रज्ञानात्मा ॥४॥

५—पृथ्वीसंवत्सरस्य प्रवर्ग्यमग्निः, सोऽग्निमयो भूतात्मा ॥५॥

तत्रायमग्निस्त्रिविधः—पार्थिवः, वायव्यः, दिव्यश्चेति । तेनायं भूतात्मापि त्रिविधः—बाह्यात्माऽयं भूतमयः शरीरात्मा सोऽन्यः । अन्तरात्मायं वायुमयो दैविको हंसात्मा सोऽन्यः । अन्तरात्माऽयं दिव्यप्राणमयः कर्म्मात्मा सो ऽन्यः ।

(५) तत्रायं शरीरात्मा पृथिव्या पूर्णाकृष्टत्वान्न लोकान्तरमनुधावती, इहैव पृथिव्यां भूतपञ्चत्वगतिमायाति ।

(६) अथायं हंसात्मा पृथिव्या एमूषवराहाकृष्टत्वान्नैमूषवायोर्बहिर्भवति । पृथिव्या एवैमूषवायौ यतस्ततः संचरति । न लोकान्तरमनुधावति ।

(७) अथ यः कर्म्मात्मा नामान्तरात्माऽग्निः स कर्म्मवशभूतः कर्मणा तेनाकृष्टस्तं तं लोकं यथाकर्म्म यथाविधं परिभ्रमति स एष खल्वग्निः—वैश्वानर—तैजस—प्राज्ञ-भेदात् त्रिसंस्थाग्निरूप इन्द्रियप्राणात्माऽख्यायते । तस्यैतस्याग्नेः कर्म्मात्मत्वं श्रूयते—

"आसीदिव वा इदमग्रे नेवासीत् तद्ध तन्मन एवास । तन्मनो वाचमसृजत । सा वाक्प्राणमसृजत । स प्राणश्चक्षुरसृजत । तच्चक्षुः श्रोत्रमसृजत । तच्छ्रोत्रं कर्मासृजत । तत् प्राणानभि सममूर्च्छत् । अकृत्स्नं वै कर्म्म ऋते प्राणेभ्यः । अकृत्स्ना उ वै प्राणा ऋते कर्म्मणः । तत्कर्म्माग्निमसृजत । आविस्तराँ वा अग्निः कर्म्मणः । षट्त्रिंशत्सहस्राण्यग्नयोऽर्काः । एतावती वै मनसो विभूतिः । एतावन्मनः ॥१॥

एतावती वै वाचो विभूतिः । एतावती वाक् ॥२॥ एतावती वै प्राणस्य विभूतिः ।

एतावान् प्राणः ॥३॥ एतावती वै चक्षुषो विभूतिः। एतावच्चक्षुः ॥४॥ एतावती वै श्रोत्रस्य विभूतिः। एतावच्छ्रोत्रम् ॥५॥ एतावती वै कर्म्मणो विभूतिः। एतावत् कर्म्म ॥६॥ एतावती वा अग्नेर्विभूतिः। एतावानग्निः ॥७॥ ते हैते विद्याचित एव ॥ इति। श० १०।४।१-११

१	२	३	४	५	६	७
शान्तात्मा	महानात्मा	विज्ञानात्मा	प्रज्ञानात्मा	कर्म्मात्मा	हंसात्मा	शरीरात्मा
अव्यक्तम्	चित्तम्	बुद्धिः	मनः	प्राणो अमृताग्निः	वाय्वग्निः	चित्याग्निः

१ वैश्वानरोऽग्निः पार्थिवः

२ तैजसो वायुरान्तरीक्ष्यः

३ प्राज्ञ इन्द्रो दिव्यः

सप्तानामप्येषामात्मनामन्योन्यं हृद्ग्रन्थिबन्धः प्रकल्पते। तेनायमेक एवात्मा जीवात्मा नामोपपद्यते। स एष जीवात्मा तत्तदात्मावच्छेदेन विभज्य कर्म्माणि कुरुते।

(१) तथा हि शरीरात्मा तावत् सर्वेषामात्मनामधिष्ठानाय कर्म्मभोगायतनं भवति ॥७॥

(२) हंसात्मा तु न स्वपिति। सुप्तस्यापि जाग्रद्रूपः शरीरमन्वालम्बमानस्तिष्ठति। देशान्तरस्थस्य योगमर्य्यादया दूरदेशान्तरं परिधावन् योगसिद्धिं लभते, अन्यत्र सन्नन्यत्र प्रत्यक्षीभवति च। मृतस्यायं हंसात्मा कृतदाहस्य चन्द्रकक्षायां वायौ तिष्ठति। अकृतदाहस्य तु भूमिष्ठशरीरमालम्बते—इति भाव्यम् ॥६॥

(३) अथेन्द्रियाणि प्राणाः प्रज्ञानात्मनि मनसि चित्ते ओतप्रोतास्तिष्ठन्ति। "मनो वै प्राणानामधिपतिः"। मनसि हि सर्वे प्राणाः प्रतिष्ठिताः"। शत० १४।२।३। इति श्रुतेः। विज्ञानात्मना ज्योतिषा चायं संपरिष्वक्तः प्रज्ञानात्मा ज्योतिष्मान् प्रकाशः संपद्यते ॥ ॥

(४) प्रकाशितेन मनसैव चायं विज्ञानात्मा मनसि, जलकान्तर्वारी प्रतिबिम्बितसूर्य्यवत् प्रत्यक्षो भवति। तथा च श्रूयते।—

"एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यो यस्मिन् प्राणः पञ्चधा संविवेश॥
प्राणैश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानां यस्मिन् विशुद्धे विभवत्येष आत्मा ॥१॥

अणुरात्मा मनश्चेतसा—विज्ञानप्रकाशितसत्त्वमहता प्रकाशितो वेदितव्यः। विज्ञानगन्धमन्तरेण सत्त्वस्य मनसश्च सोम्यस्याप्रकाशत्वात्। प्रकाशिते चास्मिन् मनसि पञ्च प्राणाः श्रोत्रचक्षुर्घ्राणवाङ् मनांसि संविशन्ति। मनोद्वारा चेदं चित्तं सत्त्वबुद्धिरूपमोतं भवति। तेन यं भूतात्मा प्राणविषयैः पर्य्यावृतो योगमायासमावृतो न प्रकाशते, बद्धो भवति। प्राणविषयैस्तु विशुद्धे चित्ते स आत्मा निरावरणो विभवति, बन्धनान्मुच्यते—इत्यर्थः।

(५) तदित्थमन्योन्यसंभक्तेष्वेतेषु त्रिषु बुद्धिमनःप्राणेषु—एको गुणात्मायं महानात्मा पर्य्याप्नोति। अत एव रजोगुणसमुद्भवस्य कामस्यैतदेव त्रितयमधिष्ठानं संपद्यते। स्मर्य्यते हि—

"इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते॥
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम्॥" इति।

(६) विज्ञानात्मनि बुद्धौ, चायमक्षरश्चिदात्माऽव्ययमूर्तिरभेदेनोपतिष्ठते। विद्याकर्म्मणा, ज्योतिस्तमसी द्वे पर्वणी अव्ययस्य भवतः। तयोरभेदेन संयोगादियं बुद्धिर्द्विधा संपद्यते—विद्या चाविद्या चेति। विद्याभिश्चतसृभिरविद्याभिश्चतसृभिः सर्वानेवैतान् जीवपुरुषान् बन्धमुक्तिभ्यां यथायथमनु संयोजयति विज्ञानात्मा। तत्र द्विधया संबद्धं महदक्षरं सत्त्वं नामोपपद्यते। असंबद्धं तमः। सान्ध्यं रजः। इत्थं महतस्त्रैगुण्यं भवति। तत्रैतत् सत्त्वं सर्वे देवा उपतिष्ठन्ते। दैव्याश्च संपदः सर्वे धर्म्मास्तत्र प्रादुर्भवन्ति। अथ महति यत्तमस्तदसुरा उपतिष्ठन्ते। आसुर्य्याश्च संपदः सर्वे धर्म्मास्तत्र प्रादुर्भवन्ति। उभयी सेयमविद्या माया चिदात्मनोऽक्षरस्य विद्याभागमावृणुते। विद्यातिरोधानाद्धात्मधर्म्मैर्वाञ्छितः संमयमात्मा संक्रान्तजन्ममृत्युसुखदुःखाद्द्वन्द्वधर्म्मैः परवश्यमायाति। बद्धश्चैष दुःखाय कल्पते कर्म्मपरतन्त्रो लोकाल्लोकान्तरमनिच्छन् परिभ्रमति, संसारी भवति। स एष ईश्वरीययज्ञप्रवर्ग्यमूलकः सांसारिकजीवानामुत्पत्तिक्रमो द्रष्टव्यः॥

द्वन्द्वधर्म्माणाञ्चैषामामुक्तेः संसारोऽनुवर्त्तते। आत्मविद्यापर्वणि विद्याबुद्धियोगात्तु सर्वे त्रैगुण्यदोषा गुणकर्म्मविकारा एकान्ततो निवर्तन्ते। मेघापाये सूर्य्यवच्चायमात्मा निरावरणः प्रकाशते, निर्द्वन्द्वो भवति। स जीवो जीवत्वाद् विमुच्यमान ईश्वरज्योतिष्येकी भवति। तथा च श्रूयते—

"गताः कलाः पञ्चदश प्रतिष्ठा देवाश्च सर्वे प्रतिदेवतासु॥
कर्म्माणि विज्ञानमयश्च आत्मा परेऽव्यये सर्व एकी भवन्ति॥१॥
यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय॥
तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥२॥ मु० ३।८ इति।
तदित्थं सांसारिको जीवो व्याख्यातः।

आधिकारिको जीवः ।

अथातः परमाधिकारिको जीवो वक्तव्यः ।

मध्यम एवायमाधिकारिकेश्वरो विष्णुर्विशेषेणावतरन्नवतारी भवति । स एवायमाधिकारिको जीवः संपद्यते । स चायमवतारी पुरुषस्त्रिविधो विज्ञायते । १—देवकलामयोंऽशावतारः । २—असुरकलामयोंऽशावतारः । ३—पूर्णकलो भगवदवतारश्चेति । तथा हि—परमेष्ठिन एतस्य विष्णोः पारमेष्ठ्येऽस्मिन् मण्डले स्वयम्भूमण्डलस्थाद् ऋषिप्राणादुत्पन्नाः पितृप्राणाः प्राधान्येनापद्यन्ते । पितृभ्यश्चैतेभ्यो द्विविधाः प्राणाः प्रजायन्ते—देवाश्चासुराश्चेति । भृगुभ्यः पितृभ्योऽसुराः । ते त्रिविधाः—आप्याः, वायव्याः, सौम्याश्चेति ॥ अथाङ्गिरोभ्यः पितृभ्यो देवाः । ते च त्रिविधाः—आग्नेयाः, वायव्याः, ऐन्द्राश्च । पर्य्याप्तं हीदमेतेभ्यो देवासुरेभ्यः पारमेष्ठ्यं मण्डलं द्रष्टव्यम् । तत्र दिवेव ज्योतिष्मन्तः प्राणा देवाः । नक्तमिव तमिस्राः प्राणा असुराः । सत्यसंहिता देवाः । बलसंहिता असुराः । "बलं सत्यदोजीयः" । इति पश्यन्ति । असवो बलाधायका अस्तिहेतवः प्राणाः । तद्वन्तोऽसुरा इति मत्वर्थे रः । "ऋजु वै सत्यम् ।" स च परमेष्ठी भगवानवतरन्नेषामेव देवानामसुराणां वा पार्थक्येन स्तोमानादायावतरति । न तूभयेषां संमिश्रणेन । अब्वायुवदुभयेषां परस्परविरुद्धःत्वात् । अहोरात्रयोस्तमः प्रकाशोपपत्तितारतम्यवदेषां देवासुराणामवतारतारतम्यवशादस्यां पृथिव्यां भोगतारतम्यमुपपद्यते । भूयसा देवावतारयुगेऽल्पाल्पसंहितः क्वाचित्कोऽसुरभोग असुरावतारयुगेऽल्पाल्पसंहितः क्वाचित्को देवभोगः । देवानामाग्नेयत्वाल्लघुत्वमूर्ध्वगामित्वं, स्वर्गाभिलाषित्वं वेदप्रवणत्वं ब्राह्मणप्रियत्वं च प्राणिभ्यं चित्तेभ्यो रोचते । तत्र स्फुर्तिमन्तो बुद्धिमन्तो व्यवसायिनश्च प्राणिनो जायन्ते. पृथिव्यां तेजः प्राचुर्य्यात् । अथासुराणामाप्यत्वाद् गुरुत्वमलसत्त्वं पार्थिवैश्वर्य्य भिलाषित्वं वेदविद्वेषित्वं शूद्राचारत्वं च प्राणिनां चित्तेभ्यो रोचते । तत्र पृथ्वी भारायमाणा भवति । आप्यानां प्राणानां पृथिव्यामतिपातेन भारप्रकर्षात् । तासां चैतासां दैवीनामासुरीणां च संपदां लक्षणानि गीतायां भगवतैव प्रदर्शितानि ॥

'द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन् दैव आसुर एव च ।"
"दैवी संपद् विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता"
"अभयं सत्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः ।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम् ।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥

तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता ।
भवन्ति संपदं दैवीमभीजातस्य भारत ॥
दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च ।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ संपदमासुरीम् ॥"
"प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः ।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते ॥
असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम् ।
अपरस्परसंभूतं किमन्यत् कामहैतुकम् ॥
एतां दृष्टि मवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः ।
प्रभवन्त्युग्रकर्म्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः ॥
काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः ।
मोहाद् गृहीत्वाऽसद्ग्राहान् प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः ॥
चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः ।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः ॥
आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः ।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसंचयान् ॥
इदमद्य मयालब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम् ।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्द्धनम् ॥
असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि ।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान् सुखी ॥
आढ्योऽभिजवानस्मि कोऽन्योस्ति सदृशो मया ।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्ये इत्यज्ञानविमोहिताः ॥
अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः ।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरके ऽशुचौ ॥
आत्मसंभाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः ।
यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम् ॥
अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः ।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः ॥
तानहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान् ।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ॥

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि ।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम् ॥
त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः ।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत् त्रयं त्यजेत् ॥
एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः ।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम् ॥
यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः ।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥ इति ॥

अथ सृष्टिक्रमवैचित्र्यात् प्रवृषेण्य निशीथे ऽन्धकारातिशयवत् कदाचिदासुरप्राणावतरणभूयस्त्वे परपीडाप्रचारकस्वार्थपरायणघोरप्राणभारायमाणायां सर्वतो दुःखंदुःखमवगाह्यमानायां पृथिव्यां देवताभोगन्यूनतया सर्वतोऽसुरप्राणपरिक्लिष्टो दैवतप्राणो विक्षुभ्नाति ॥ "बलं सत्या दोजीयः ।" इति सिद्धान्तान्नैष सत्यप्राणो बलप्राणान् पराभावयति, भोगस्थाननिरोधाच्चैष स्थातुमसमर्थो विक्षोभमायाति । संहतैस्तु देवप्राणैः प्रणोदितः परमेष्ठी पुनरनयोर्देवासुरयोः पृथिव्यां साम्यं प्रवर्तयितुमिव सदेवप्राणघनः सन्नकस्मादस्यां पृथिव्यां बलादिवावतरति । परस्परविद्रोहप्रधानां स्वार्थपरायणताबुद्धिमासुरीं संपदमेकान्ततो विनाशयति । परमार्थपरायणतालक्षणां दैवीं संपदं भूयसा प्रचारयति । तेनोभयोः साम्यातत् समत्वलक्षणं सुखं सर्वेषूपजायते—इत्यवतरणहेतुः स्वत एवामूत्र पपद्यते । स एष पूर्णकलो भगवदवतार आख्यायते । केचित् संसारेऽवतरणात् तमेतमाधिकारिकं जीवमाहुः । परे तु अंशावतारान् जीवत्वेन व्यपदिशन्तोऽपि पूर्णावतारमीश्वरमेवाहुः ।

यथा विश्वाधिकारिणः कतिपये विद्वांसो देवाः—विद्यायोगात् कर्मणामबन्धकतया स्वकृतकर्मपारतन्त्र्यमनापन्ना अपीश्वरेच्छाया वशवर्तिनो विश्वकर्मनिर्वहणाय काले काले यथोपयोगं स्वेच्छया शरीरमुपकल्पयन्ति, अपेक्षितविश्वकर्मसाधनोत्तरं च ते पुनर्यथेच्छं निवर्तन्ते ।

तेऽमी अक्रमिकत्वादपूर्वानपरा आधिकारिकसत्त्वा अवतार नामोच्यन्ते । आधिकारिकत्वं चैतदुक्तं वेदव्यासेन शारीरकसूत्रे—

"यावदाधिकारमवस्थितिराधिकारिकाणाम्"—इति । ३ । ३ । ३२ ।

यथाऽसौ भगवान् सविता सहस्रयुगपर्यन्तं जगतोऽधिकारं चरित्वा पश्चादुदयास्तवर्जितं कैवल्यमनुभवति, एवमेतेऽपीश्वरपुरुषा ईश्वरेच्छया तेषु तेष्वधिकारेषु नियुक्ताः सन्तो यावदधिकारमिहावतिष्ठन्ते । जन्ममृत्युसुखदुःखप्रत्ययादिशरीरधर्मसाम्येऽपि कृतक-

र्म्मभ्यो बन्धनात्मकसंस्कारानुदयात् कर्म्माधीनजन्मान्तराभावः, स्वर्गनरकादिकर्म्मभोगाभावश्चेत्यविलक्षणज्ञानवैशिष्ट्याज्जातिस्मरत्वम् जगद्गुरुतया नवीनमार्गप्रवर्तकत्वम्, अलौकिकप्रभावशालितयाऽनन्तमनुष्येष्वप्रतिहताज्ञत्वमित्यादयः कतिचिद्धर्माः सांस्कारिकसंसारिसर्वसाधारणसत्त्वापेक्षयाऽमुष्मिन्नाधिकारिके सत्त्वे विशेषाः । सन्ति हीमे नानाविधा ईश्वरपुरुषास्तेतत्तत् कालोपपन्नं भिन्नं भिन्नं कर्म्मोपलक्ष्य काले काले पृथिव्यामवतीर्णाः पुनः स्वं स्वं लोकं प्रत्यावर्तन्ते । तथैवैष नरनारायणो विष्णुरम्मयगोलोकाधिष्ठाता गोविन्दो भगवान् पारमेष्ठ्यमण्डलपरिश्रिद्रूपमहासमुद्रनिकेतनः पृथिव्यामासुरसर्गाधिक्येनाग्नेयदेवधर्म्मग्लानिवशाद् देवासुरवैषम्यप्रभावादशान्तिसमुद्रेकं दृष्ट्वा शान्तिहेतवे साम्याया-सुरधर्मोद्रेकं निवर्तयितुं दैवसर्गधर्म्मं च तत् साम्येन प्रवर्तयितुमत्र काले कालेऽवतरतीति विश्वनियमो भवति । वस्त्रमालिन्यस्य गृहावकरस्य च परिमार्जितसंस्कारवदस्यां पृथ्व्यामासुरधर्म्मस्य नैसर्गिकत्वेन तद्वृद्धेः प्रयत्नानपेक्षितत्वेऽपि दैवधर्म्मस्य सांस्कारिकतया तद्वृद्धेः प्रयत्नसापेक्षत्वात् तत् सिद्ध्यर्थं काले काले पुरुषविशेषप्रयत्नापेक्षणात् ।

अत एवेह अपूर्वलोकमर्य्यादाप्रवर्तकाः केचिद् विशिष्टपुरुषा ईश्वरेच्छयैवेश्वरांशं प्रवर्ग्यभूतमुपादाय काले काले यत्र तत्रावतरन्तो लोके दृश्यन्ते । एतन्नियमानुसारेणैवायं वैश्वाधिकारिको जगद्गुरुर्भगवान् गोविन्दो नारायणोऽपि केषांचिदसुराणां लोकोपद्रावकाणामशान्तिकारिणां बलं निवर्तयितुमसुरप्राणस्य पृथ्वीकेन्द्राभिगामितया भारायमाणत्वात् पृथ्वीभारं दूरीकर्तुं वैज्ञानिकं च सर्वलोकशान्तिसुखप्रदमाग्नेयं सूर्य्यबिम्बाभिगामितया पारत्रिकं वैदिकं देवताधर्म्मं विशिष्यैतस्यां पृथिव्यां प्रचारयितुं सर्वाश्चैताः प्रजाः साम्येन स्वे स्वे धर्म्मे प्रवर्तयितुं पृथिव्यामवततार । चिराय च विश्वस्य संप्रवृत्तत्वादेष नारायणो भगवान् अनेकवारं प्रागपि यथेच्छं गृहीतजन्मासीत् ।

स एष भूयोऽपीदानीं कंस, जरासन्ध, शकुनि, शिशुपाल, दुर्योधनाद्यासुर भारनिवर्तनाद्युपलक्ष्येण वसुदेवगृहे जन्म जग्राहेति भूयसानुभाविनां प्राचां वैज्ञानिकानां विदुषां परामर्शः ॥

अत एव च मानुषयोनौ गृहीतजन्माप्येष भगवान् कृष्णस्तापनीयादिश्रुतिपुराणेषु सत्यपरमेष्ठिगोविन्दकृष्णावतारत्वादुभयाभिमानाद् द्विधाभिष्टूयते —मनुष्यत्वेन, चेश्वरत्वेन चेति । यथाह नारायणाथर्वशिरसि—

> "ब्रह्मण्यो देवकीपुत्रो ब्रह्मण्यो मधुसूदनः ।
> ब्रह्मण्यः पुण्डरीकाक्षो ब्रह्मण्यो विष्णुरच्युतः ॥"

सर्वभूतस्थमेकं वै नारायणं कारणपुरुषमकारणं परं ब्रह्म—"ओमिति" । अत्र देवकीपुत्रत्वं–पुण्डरीकाक्षत्वं चेति शरीरोपाधिकजीवप्रजापतिधर्म्मः । परं ब्रह्म "ओम्"—अकार-

णमिति निरुपाधिकसर्वसाधारणान्वयात्तरपुरुषधर्म्मः । मनुष्यत्वापेक्षं हि—वासुदेव-देवकी-नन्दन-शौरि-दामोदर-नन्दनन्दन-यशोदानन्दनादयः शब्दाः, व्रजाधिष्ठानानि च पूतनानिबर्हादीनि बाललीलाचारित्र्याण्यपेक्ष्यन्ते । ईश्वरापेक्षं त्वत्र नारायणाधोक्षजबलिध्वंस्यादयः शब्दाः सांख्येन प्रवर्तन्ते । युक्तं चैतत्—उपपद्यते हि ईश्वरस्य सर्वज्ञस्य सर्वशक्तिमतः सर्वधर्म्मोपपन्नस्य स्वेच्छया धृतविग्रहस्य गोलोकवासिनो दिव्यकृष्णस्य गोकुलवासिन्यस्मिन् मानुषावतारेपि श्रीकृष्णे नवधा धर्म्मैः सौसादृश्यम् । तन्निबन्धनं चैतस्मिन् वासुदेवकृष्णे मनुष्यत्वेश्वरत्वाभ्यां द्वेधा व्यपदेशमिच्छन्ति । स्थूलदृष्ट्या मानुषत्वम्, विज्ञानदृष्ट्या त्वीश्वरत्वमिति । ता एता नव भक्तयो यथा—

१—समाननामत्वम् ।

२—कृष्णवर्णत्वपीताम्बरत्वाभ्यां समानरूपत्वम् ।

३—सोमवंश्यत्वम् ।

४—व्रजनिकेतनत्वम् ।

५—छादशलक्षणत्वम् ।

६—लोकचतुष्टयसंचारित्वम् ।

७—गोब्राह्मणमहिमोद्भावकत्वम् ।

८—वेदोपगीतलीलाचारित्र्यम् ।

९—षोडशकलापूर्णावतारत्वं चेति ।

ता एता दिव्यकृष्णमानुषकृष्णयोः सौसादृश्यप्रयोजिका नव भक्तीरुपपादयितुमयमुत्तरः संदर्भः प्रवर्तयिष्यते

तस्य चैतस्याधिकारिकपुरुषस्य भगवतः श्रीकृष्णस्य कर्म्मजनितसंस्कारपारम्पर्य्यपारतन्त्र्यमनपेक्ष्यैव स्वेच्छया शरीरधारणं गीतायामेकयोपनिषदा पञ्चोपदेशशालिन्याऽऽख्यायते ।

"बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन ।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परन्तप ।४।५।
अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन् ।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया ।४।६।
यदा यदा हि धर्म्मस्य ग्लानिर्भवतिभारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ।४।७।
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्म्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ।।४।८।

जन्म कर्म्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥४। ६।"

अत्र श्रीकृष्णशरीराभिमानिनोऽव्ययपुरुषस्य प्रथमेन श्लोकेन नानाविधजन्मवत स्वस्य जातिस्मरत्वम्, द्वितीयेन विशेषात् सांस्कारिकसंसारिजीवविलक्षणविधया जन्मग्रहित्वम्, तृतीयचतुर्थाभ्यामाधिकारिकावतारित्वम्, पञ्चमेन तु सांस्कारिकाधिकारिकोभयःविधाव्ययज्ञानस्य निस्तारकत्वमुपदिश्यते।

"यो यज्ञो दिवि परमेष्ठिगोसवात्मा विज्ञानं समुपदिदेश गीतया यः।
आनन्दं जनयतु विश्वतो ममायं गोविन्दः स हि मयि संनिधानमेतु।"॥

॥ इति आधिकारिकपुरुषत्वम् ॥

—:*:—

लोकातीतपरमाश्चर्यगुणवैशिष्ट्यलक्षणानि सप्तविधानि—

१ सर्वप्रमुखत्वम्

२ व्यक्ताव्यक्तसर्वाव्ययपुरुषत्वम्

३ धान्याश्चर्यपरिनिष्ठापरिष्टुतं यज्ञपुरुषत्वम्

४ चतुर्व्यूहनारायणपुरुषत्वम्

५ ब्राह्मणपरित्राणपरिष्टुतं विलक्षणयोगीश्वरत्वम्

६ त्रिविक्रमविष्णुत्वम्

७ सर्वभूतान्तरात्मत्वम्

मानुषकृष्णस्य परमाश्वर्यगुणवैशिष्ट्यलक्षणं पुराणपुरुषत्वं सप्तधा—

१ अमृताक्षरपुरुषत्वरूपं "सर्वप्रमुखत्वम्"

२ ब्रह्माग्निपुरुषत्वरूपं "व्यक्ताव्यक्तसर्वाव्ययपुरुषत्वम्"

३ धन्याश्चयपरिनिष्ठापरिष्टुतं ब्रह्मणस्पतिसोमलक्षणं 'यज्ञपुरुषत्वम्"

४ वागग्निपुरुषत्वरूपं "चतुर्व्यूहनारायणपुरुषत्वम्"

५ ब्राह्मणपरित्राणपरिष्टुतं "चन्द्रसोमलक्षणम् योगीश्वरमहात्म्यम्"

६ आनन्दाग्निपुरुषत्वरूपं "त्रिविक्रमविष्णुत्वम्"

७ त्रैलोक्याग्निसोमलक्षणं "सर्वभूतान्तरात्मत्वम् ॥ इति ॥

—-:*:—

१—सर्वप्रमुखत्वम् ।

तदित्थं पुराणेषु सप्तधाभिष्टुतत्वं परमाश्चर्यगुणविशिष्टलक्षणत्वम् । तत्र तावदधिदैवतमीश्वराव्ययस्य द्वादशलक्षणत्वं स्मर्य्यते—

"गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत् ।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम् ॥ इति ॥

अध्यात्मं तु जीवाव्ययस्य षड् लक्षणत्वमुपदर्शियते—

उपद्रष्टाऽनुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः ।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन् पुरुषः परः ॥ इति ॥

अथैतस्य पुनः श्रीकृष्णाव्ययस्य जीवाव्ययत्वेऽपीश्वराव्ययस्यैव द्वादशलक्षणत्वदर्शनात् सहजैश्वर्य्यविशेषोदयप्रतिपत्या तदीश्वरत्वसहकृतजीवत्वात् सर्वजीवप्रमुखत्वमाचक्षते ।

तथा हि महाभारते सभापर्वणि अर्घ्याभिहरणप्रसङ्गे भीष्म उवाच—

दानं दाक्ष्यं श्रुतं शौर्य्यं ह्रीः कीर्तिर्बुद्धिरुत्तमा ।
सन्नतिः श्रीर्धृतिस्तुष्टिः पुष्टिश्च नियताऽच्युते ॥२।३८।२०

(१) कृष्ण एव हि लोकानामुत्पत्तिरपि चाप्ययः ।
कृष्णस्य हि कृते विश्वमिदं भूतं चराचरम् ॥२।३८।२३
एष प्रकृतिरव्यक्ता कर्ता चैव सनातनः ।
परश्च सर्वभूतेभ्यस्तस्मात्पूज्यतमोऽच्युतः ॥२।३८।२४

(२) बुद्धिर्मनो महद्वायुस्तेजोऽम्भः खं मही च या ।
चतुर्विधं च यद्भूतं सर्वं कृष्णे प्रतिष्ठितम् ॥२।३८।२५
आदित्यश्चन्द्रमाश्चैव नक्षत्राणि ग्रहाश्च ये ।
दिशश्च विदिशश्चैव सर्वं कृष्णे प्रतिष्ठितम् ॥

(३) अग्निहोत्रमुखा वेदा गायत्री छन्दसां मुखम् ।
राजा मुखं मनुष्याणां नदीनां सागरो मुखम् ॥२।३८।२६
नक्षत्राणां मुखं चन्द्र आदित्यस्तेजसां मुखम् ।

पर्वतानां मुखं मेरुर्गरुडः पततां मुखम् ॥२।३८।२७
ऊर्ध्वं तिर्य्यगधश्चैव यावती जगतो गतिः ।
सदेवकेषु लोकेषु भगवान् केशवो मुखम् ॥२।३८।२८

(४) अयंतु पुरुषो बालः शिशुपालो न बुध्यते ।
सर्वत्र सर्वदा कृष्णं तस्मादेवं प्रभाषते ॥२।३८।२६
वेदवेदाङ्गविज्ञानं बलं चाप्यधिकं तथा ।
नृणां लोके हि कोऽन्योऽस्ति विशिष्टः केशवादृते । २।३८।१६

(महाभारते सभापर्वणि ३= अध्याये १६-३८ श्लो०)

इति श्रीकृष्णस्य सर्वप्रमुखत्वानिर्वचनम् ।

——:o:——

९-व्यक्ताव्यक्ताव्ययपुरुषत्वलक्षणं पुराणपुरुषत्वम् ।

व्यास उवाच

पारं परं विष्णुरपारपारः परः परेभ्यः परमात्मरूपः ।
स ब्रह्मपारः परपारभूतः परः पराणामपि पारपारः ॥६६।११५॥
स कारणं कारणसंश्रितोऽपि तस्यापि हेतुःपरहेतुहेतुः ।
कार्येषु चैवं सहकर्मकर्तृरूपैरनेकैरवतीह सर्वम् ॥६६।११६॥
ब्रह्म प्रभुर्ब्रह्म स सर्वभूतो ब्रह्म प्रजानां पतिरच्युतोऽसौ ।
ब्रह्माव्ययं नित्यमजं स विष्णुरपक्षयाद्यैरखिलैरसंगः ॥६६।११७॥
नारायण हरे कृष्ण श्रीवत्साङ्क जगत्पते ।
जगद्बीज जगद्धाम जगत् साक्षिन्नमोऽस्तु ते ॥६६।१२८॥
अव्यक्त जिष्णो प्रभव प्रधान पुरुषोत्तम ।
पुण्डरीकाक्ष गोविन्द लोकनाथ नमोऽस्तु ते ॥६६।१२९॥
हिरण्यगर्भ श्रीधाम पद्मनाभ सनातन ।
भूगर्भ ध्रुवईशान हृषीकेश नमोऽस्तु ते ॥६६।१३०॥
अनाद्यनन्तामृताजेय जयत्वं जयतां वर ।
अजिताखण्डल कृष्ण श्रीनिवास नमोऽस्तु ते ॥६६।१३१॥
योगात्मन्नप्रमेयात्मल्लोकात्मंस्त्वं सनातनः ।
कूटस्थाचल दुर्ज्ञेय कुशेशाय नमोऽस्तु ते ॥६६।१३२॥
वरेण्य वरदानन्त ब्रह्मयोने गुणाकर ।
प्रलयोत्पत्ति योगेश वासुदेव नमोऽस्तु ते ॥६६।१३३॥
पर्जन्य धर्म्मकर्ता च दुष्पार दुरधिष्ठित ।
दुःखार्तिनाशन हरे जलशायिन्नमोऽस्तु ते ॥६६।१३४॥
भूतपाव्यक्त भूतेश भूततत्त्वैरनाकुल ।
भूताधिवास भूतात्मन् भूतगर्भ नमोऽस्तु ते ॥६६।१३५॥
यज्ञयज्वन् यज्ञधर यज्ञधाताऽभयःप्रद ।
यज्ञगर्भ हिरण्याङ्ग पृश्निगर्भ नमोऽस्तु ते ॥६६।१३६॥
क्षेत्रज्ञः क्षेत्रभृत् क्षेत्री क्षेत्रहा क्षेत्रकृद् वशी ।
क्षेत्रात्मन् क्षेत्ररहित क्षेत्रस्रष्टे नमोऽस्तु ते ॥६६।१३७॥

गुणालय गुणावास गुणाश्रय गुणावह ।
गुणभोक्तृ गुणाराम गुणत्यागिन्नमोऽस्तु ते ॥६६।१३८॥
त्वं विष्णुस्त्वं हरिश्चक्री त्वं जिष्णुस्त्वं जनार्दनः ।
त्वं भूतस्त्वं वषट्कारस्त्वं भवत् प्रभुः ॥६६।१३६॥
त्वं भूतकृत् त्वमव्यक्तस्त्वं प्राणो भूतभृद् भवान् ।
त्वं भूतभावनो देवस्त्वामाहुरजमीश्वरम् ॥६६।१४०॥
त्वमनन्तः कृतज्ञस्त्वं प्रकृतिस्त्वं वृषाकपिः ॥
त्वं रुद्रस्त्वं दुराधर्षस्त्वममोघस्त्वमीश्वरः ॥६६।१४१॥
त्वं विश्वकर्म्मा जिष्णुस्त्वं त्वं शम्भुस्त्वं वृषाकृतिः ।
त्वं शङ्करस्त्वमुशनास्त्वं सत्यं त्वं तपो जनाः ॥६६।१४२॥
नमो महावराहाय पृथिव्युद्धारकारिणे ।
नमस्त्वादिवराहाय विश्वरूपाय वेधसे ॥६६।१५५॥
नमोऽनन्ताय सूक्ष्माय मुख्याय च वराय च ।
परमाणुस्वरूपाय योगिगम्याय ते नमः ॥६६।१५८॥
त्वं ज्येष्ठस्त्वं वरिष्ठस्त्वं त्वं सहिष्णुश्चमाधवः ।
सहस्रशीर्षा त्वं देवस्त्वमव्यक्तः सहस्रदृक् ॥६६।१५७॥
सहस्रपादस्त्वं देवस्त्वं विराट् त्वं सुरप्रभुः ।
त्वमेव तिष्ठसे भूयो देवदेव दशाङ्गुलः ॥६६।१५८॥
यद्भूतं तत्त्वमेवोक्तः पुरुषः शक्र उत्तमः ।
यद् भाव्यं तत् त्वमीशानस्त्वममृतस्त्वं तथामृतः ॥६६।१५६॥
त्वत्तो रोहत्ययं लोको महीयांस्त्वमनुत्तमः ।
त्वं ज्यायान् पुरुषस्त्वं च त्वं देव दशधा स्थितः ॥६६।१६०॥
*विश्वभूतश्चतुर्भागो नवभागोऽमृतो दिवि ।
नवभागोऽन्तरिक्षस्थः पौरुषेयः सनातनः ॥६६।१६१॥

*पृथिव्यन्तरिक्षं द्यौरापश्चेति चत्वारो लोका विश्वम् ।
१—तत्र पृथिव्यां भागत्रयम् । चित्याग्निरूपम् । सैष मर्त्याग्निः ।३।
२—नवभागस्त्वन्तरिक्षस्थः । चितेनिधेयाग्निरूपः । प्राणाग्निरेषः ।६।
३—नवभागो दिवि । चितेनिधेयाग्निरूपोऽमृताग्निः ।६।
४—चतुर्भागस्त्वपांलोकस्थः । सोमः सः । ।४।
३४

इत्थं चतुर्षु स्थानेषु—"अग्निर्वै पुरुषः गायत्र छन्दोऽग्निः, चतुर्विंशतिरक्षरा गायत्री"—इत्युक्तया चतुर्विंश अक्षरात्मकोऽयं गायत्राग्निरूपः पौरुषेयः सनातनो भागोऽत्र विवक्षितः ॥इति बोध्यम् ।

भागद्वयं च भूसंस्थं चतुर्भागोऽप्यभूदिह।
त्वत्तो यज्ञाः संभवन्ति जगतो वृष्टिकारणम् ॥६६।१६२॥
त्वत्तो विराट् समुत्पन्नो जगतो हृदि यः पुमान्।
सोऽतिरिच्यत भूतेभ्यस्तेजसा यशसा श्रिया ॥६६।१६३॥
त्वत्तः सुराणामाहारः पृषदाज्यमजायत।
ग्राम्यारण्याश्चौषधयः त्वत्तः पशुमृगादयः ॥६६।१६४॥
त्वं कालस्त्वं कला काष्ठा त्वं मुहूर्तः क्षणा लवाः।
त्वं बालस्त्वं तथा वृद्धस्त्वं पुमान् स्त्री नपुंसकः ॥६६।१४८॥
त्वं विश्वयोनिस्त्वं चक्षुस्त्वं स्थाणुस्त्वं शुचिश्रवाः।
त्वं शाश्वतस्त्वमजितस्त्वमुपेन्द्रस्त्वमुत्तमः ॥६६।१४६॥
त्वं सर्वविश्वसुखदस्त्वं वेदाङ्गस्त्वमव्ययः ॥
त्वं वेदवेद्यस्त्वं धाता विधाता त्वं समाहितः ॥६६।१५०॥
जगद्योनिरमूलस्त्वं धाता त्वं च पुनर्वसुः।
त्वं वैद्यस्त्वं धृतात्मा च त्वमतीन्द्रियगोचरः ॥६६।१५१॥
त्वं यमस्त्वं च नियमस्त्वं प्रांशुस्त्वं चतुर्भुजः।
त्वमेवात्रान्तरात्मा त्वं परमात्मा त्वमुच्यसे ॥६६।१५३॥
तस्मै नमः परमकारणकारणाय योगीन्द्रवृत्तनिलयाय सुदुर्विदाय।
क्षीरार्णवाश्रितमहाहिसुतल्पगाय तुभ्यं नमः कनकरत्नसुकुण्डलाय ॥६६।१७६॥

ब्रह्म० पु० ६६ अध्यायः

इति व्यक्ताव्यक्ताव्ययपुरुषत्वलक्षणं—पुराणपुरुषत्वम् ॥ २ ॥

अथ धन्याश्चर्यपरिनिष्ठोपाख्याने

३—यज्ञपुरुषत्वम्

(श्रीकृष्णस्य यज्ञपुरुषत्वनिर्वचनम्)

अथैतस्य लीलाविग्रहधारिणो भगवतः श्रीकृष्णस्य जीवनचरित्रानुदर्शने कतिपयान्यन्यान्यपि बहून्यत्यद्भुतान्यमानुषाणि कर्म्माण्यैतिहासिकाः प्रदर्शयन्ति । तावताऽस्य कृष्णस्य जीवात्मायमव्ययः पुरुषो वशीकृतजीवोपाधिगतनिःशेषदोषो निराकृतपरमाव्ययावरणः सन्नीश्वरेणाभिन्नोऽध्यवसीयते । तथा चैतं कृष्णं वेदोक्तयज्ञपुरुषात्मकविष्णुत्वेन प्रतिपद्यमानो नारदः पुरा धन्याश्चर्यपरिनिष्ठोपाख्यानमाख्यापयामास । यथोक्तं हरिवंशे (वि० प० ११०)

१ कस्यचित्त्वथ कालस्य पृथिव्यां सर्वपार्थिवाः ।
श्रियं द्रष्टुं हृषीकेशमाजग्मुः कृष्णमन्दिरम् ॥ १ ॥
दुर्योधनमुखाः सर्वे धृतराष्ट्रवशानुगाः ।
पाण्डवप्रमुखाश्चैव धृष्टद्युम्नादयो नृपाः ॥ २ ॥
पाण्ड्याश्चोलकलिङ्गेशा बाह्लीका द्राविडाः खशाः ।
अक्षौहिणीः प्रकर्षन्तो दश चाष्टौ च भूमिपाः ॥ ३ ॥
ते पर्वतं रैवतकं परिवार्य्यावनीश्वराः ।
विविशुर्योजनाख्यासु* स्वासु स्वासु च भूमिषु ॥ ४ ॥
ततः श्रीमान् हृषीकेशः सहयादवपुङ्गवैः ।
समीपं मानवेन्द्राणां निर्य्ययौ कमलेक्षणः ॥ ५ ॥
स तेषां नरदेवानां मध्यस्थो मधुसूदनः ।
व्यराजत यदुश्रेष्ठः शरदीव दिवाकरः ॥ ६ ॥
स तत्र समुदाचारं यथास्थानं यथावयः ।
कृत्वा सिंहासने कृष्णः काञ्चने निषसाद ह ॥ ७ ॥
राजानोऽपि यथास्थानं निषेदुर्विविधेष्वथ ।
सिंहासनेषु चित्रेषु पीठेषु च नराधिपाः ॥ ८ ॥
तेषां चित्राः कथास्तत्र प्रवृत्तास्तत्समागमे ।

---

*योजन=कैम्प=हदबन्दी, (हद) निधारितविभागः ।

यदूनां पार्थिवानां च केशवस्योपशृण्वतः ॥ ९ ॥
एतस्मिन्नन्तरे वायुर्ववौ मेघरवोपमः ।
तुमुलं दुर्दिनं चासीत् सविद्युत्स्तनयित्नुमत् ॥ १० ॥
तद्दुर्दिनं तलं भित्वा नारदः प्रत्यदृश्यते ।
संवेष्टितजटाभारो वीणासक्तेन बाहुना ॥ ११ ॥
स पपात नरेन्द्राणां मध्ये सागरसन्निभः ।
नारदोऽग्निशिखाकारः श्रीमान् शक्रसखो मुनिः ॥ १२ ॥
तस्मिन्निपतिते भूमौ नारदे मुनिपुङ्गवे ।
तदद्भुतं महामेघं व्यपाकृष्यत दुर्दिनम् ॥ १३ ॥
सोऽवगाह्य नरेन्द्राणां मध्ये सागरसन्निभः ।
आसनस्थं यदुश्रेष्ठमुवाच मुनिरव्ययम् ॥ १४ ॥
आश्चर्यं खलु देवानामेकस्त्वं पुरुषोत्तम ।
धन्यश्चासि महाबाहो लोके नान्योऽस्ति कश्चन ॥ १५ ॥
एवमुक्तः स्मितं कृत्वा प्रत्युवाच मुनिं प्रभुः ।
आश्चर्योऽस्मि च धन्योऽस्मि दक्षिणाभिः सहेत्यहम् ॥ १६ ॥
एवमुक्तो मुनिश्रेष्ठः प्राह मध्ये महीभृताम् ।
कृष्ण पर्याप्तवाक्योऽस्मि गमिष्यामि यथागतम् ॥ १७ ॥
तं प्रस्थितमभिप्रेक्ष्य पार्थिवाः प्राहुरीश्वरम् ।
गुह्यं मन्त्रमजानन्तो वचनं नारदेरितम् ॥ १८ ॥
आश्चर्यमित्यभिहितं धन्योऽसीति च माधवः ।
दक्षिणाभिः सहेत्येवं प्रत्युक्तोऽपि च नारदे ॥ १९ ॥
किमेतन्नाभिजानीमो दिव्यं मन्त्रपदं महत् ।
यदि श्राव्यमिदं कृष्ण श्रोतुमिच्छाम तत्वतः ॥ २० ॥
तानुवाच ततः कृष्णः सर्वान्पार्थिवपुङ्गवान् ।
श्रोतव्यं नारदस्त्वेष द्विजो वः कथयिष्यति ॥ २१ ॥
ब्रूहि नारद तत्वार्थं श्रोतुकामा महीभुजः ।
यस्त्वयाभिहितं वाक्यं मयानुप्रतिभाषितम् ॥ २२ ॥
स पीठे काञ्चने शुभ्रे सूपविष्ठस्त्वलंकृतः ।
प्रभावं तस्य वन्द्यस्य प्रवक्तुमुपचक्रमे ॥ २३ ॥
श्रूयतां भो नृपश्रेष्ठा यावन्तः स्थ समागताः ।
अस्य कृष्णस्य महतो यथापारमहंगतः ॥ २४ ॥
अहं कदाचिद्गङ्गायास्तीरे त्रिषवणातिथिः ।

चरिष्येकः तपःपार्श्वे दृश्यमाने दिवाकरे ॥ २५ ॥
अपश्यं गिरिकूटाभं कपालद्वयदेहिनम् ।
क्रोशमण्डलविस्तारं तावद् द्विगुणमायतम् ॥ २६ ॥
चतुश्चरणसुश्लिष्टं क्लिन्नं चैव सपङ्किलम् ।
मम वीणाकृतिं कूर्मं गजचर्मोच्चयोपमम् ॥ २७ ॥
सोऽहं तं पाणिना स्पृष्ट्वा प्रोक्तवान् जलचारिणम् ।
त्वमाश्चर्य्यशरीरोऽसि कूर्म्म धन्योऽसि मे मतः ॥ २८ ॥
यस्त्वमेवमभेद्याभ्यां कपालाभ्यां समावृतः ।
तोये चरसि निःशङ्कः किञ्चिदन्यदचिन्तयन् ॥ २९ ॥
स मामुवाचाम्बुरः कूर्म्मो मानुषवत्स्वयम् ।
किमाश्चर्यं मयि मुने धन्यश्चाहं कथं विभो ॥ ३० ॥
गङ्गेयं निम्नगा धन्या किमाश्चर्यमतः परम् ।
यत्राहमिव सत्वानि चरन्त्ययुतशो द्विज ॥ ३१ ॥
सोऽहं कुतूहलाविष्टो नदीं गङ्गामुपस्थितः ।
धन्याऽसि त्वं सरिच्छ्रेष्ठे नित्यमाश्चर्यभूषिता ॥ ३२ ॥
या त्वमेवं महादेहैः श्वापदैरुपशोभिता ।
ह्रदिनी सागरं यासि रक्षन्ती तापसालयान् ॥ ३३ ॥
एवमुक्ता ततो गङ्गा रूपिणी प्रत्यभाषत ।
नाहं धन्या द्विजश्रेष्ठ नैवाश्चार्य्योपशोभिता ॥ ३४ ॥
तव सत्ये निविष्टस्य वाक्यं मां प्रतिबाधते ।
सर्वाश्चर्य्यकरो लोके धन्यश्चैवार्णवो द्विज ॥ ३५ ॥
यत्राहमिव विस्तीर्णाः शतशो यान्ति निम्नगाः ।
सोऽहं त्रिपथगावाक्यं श्रुत्वार्णवमुपास्थितः ॥ ३६ ॥
आश्चर्यं खलु लोकानां धन्यश्चासि महार्णव ।
येन खल्वसि योनिस्त्वमम्भसां सलिलेश्वर ॥ ३७ ॥
स्थाने त्वां वारिवाहिन्यः सरितो लोकपावनाः ।
इमाः समभिगच्छन्ति पत्न्यो लोकनमस्कृताः ॥ ३८ ॥
समुद्रस्त्वेवमुक्तस्तु ततो मामवदज्जः ।
स्वं जलौघतलं भित्वा व्युत्थितः श्रवणेरितः ॥ ३९ ॥
मामैवं देवगन्धर्व नास्म्याश्चर्य्यो द्विजर्षभ ।
वसुधेयं मुने धन्या यत्राहमुपरि स्थितः ॥ ४० ॥

ऋते तु पृथिवीं लोके किमाश्चर्य्यमतः परम् ।
सोऽहं सागरवाक्येन कौतुकाद्गितिमब्रवम् ॥ ४१ ॥
धरत्री देहिनां योने धन्या खल्वसि शोभने ।
आश्चर्य्यं चापि भूतेषु महत्या क्षमया युते ॥ ४२ ॥
ततो भूः स्तुतिवाक्येन सा मयोक्तेन तेजिता ।
विहाय सहजं धैर्यं प्रत्यक्षा मामभाषत ॥ ४३ ॥
नास्मि धन्या न चाश्चर्य्यं पारक्येयं धृतिर्मम ।
एते धन्या द्विजश्रेष्ठ पर्वता धारयन्ति माम् ॥ ४४ ॥
आश्चर्य्याणि च दृश्यन्ते एते लोकस्य हेतवः ।
सोऽहं धरणिवाक्येन पर्वतान समुपस्थितः ॥ ४५ ॥
धन्या भवन्तोदृश्यन्ते बह्वाश्चर्य्याश्च भूधराः ।
काञ्चनस्याग्ररत्नस्य धातूनां च विशेषतः ॥ ४६ ॥
ते ममैतद्वचः श्रुत्वा पर्वतास्तस्थुषां वराः ।
उचुर्मां सान्त्वयुक्तानि वचांसि वनशोभिताः ॥ ४७ ॥
ब्रह्मर्षे न वयं धन्या नाप्याश्चर्य्याणि सन्ति नः ।
ब्रह्मा प्रजापतिर्धन्यः सर्वाश्चर्य्यः सुरेष्वपि ॥ ४८ ॥
सोऽहं प्रजापतिं गत्वा सर्वप्रभवमव्ययम् ।
तस्य वाक्यस्य पर्य्यायं पर्याप्तमिव लक्षये ॥ ४९ ॥
सोऽहं पितामहं देवं लोकयोनि चतुर्मुखम् ।
स्तोतुं पश्चादुपगतः प्रणतोऽवनताननः ॥ ५० ॥
सोऽहं वाक्यसमाप्त्यर्थं श्रावये पद्मयोनिजम् ।
आश्चर्य्यं भगवानेको धन्योऽसि जगतो गुरुः ॥ ५१ ॥
न किञ्चिदन्यत्पश्यामि भूतं यद् भवता समम् ।
त्वत्तः सर्वमिदं जातं जगत्स्थावरजङ्गमम ॥ ५२ ॥
सदेवदानवामर्त्या लोकभूतेन्द्रियात्मकाः ।
भवन्ति सर्वे देवेश दृष्ट्वा सर्वमिदं जगत ॥ ५३ ॥
तेन खल्वसि देवानां देवदेवः सनातनः ।
तेषामेकोऽसि यत्स्रष्टा लोकानामादिसम्भवः ॥ ५४ ॥
ततोमां प्राह भगवान् ब्रह्मा लोकपितामहः ।
धन्याश्चर्य्याश्रितैर्वाक्यैः किं मां नारद भाषसे ॥ ५५ ॥
आश्चर्यं परमं वेदा धन्या वेदाश्च नारद ।

ये लोकान् धारयन्ति स्म वेदास्तत्त्वार्थदर्शिनः ॥ ५६ ॥
ऋक्सामयजुषां सत्यमथर्वाणि च यन्मतम् ।
तन्मयं विद्धि मां विप्र धृतोऽहं तैर्मया च ते ॥ ५७ ॥
पारमेष्ठ्येन वाक्येन नोदितोऽहं स्वयम्भुवा ।
वेदोपस्थानिकं चक्रे मतिं संस्थानविस्तरात् ॥ ५८ ॥
सोऽहं स्वयम्भूवचनाद्वेदान्वै समुपस्थितः ।
उवाच चैतांश्चतुरो मन्त्रप्रवचनान्वितान् ॥ ५६ ॥
धन्या भवन्तः पुण्याश्च नित्यमाश्चर्य्यभूषिताः ।
आधाराश्चैव विप्राणामेवमाह प्रजापतिः ॥ ६० ॥
स्वयम्भुवोऽपीह परं भवत्सु प्रश्नमागतम् ।
युष्मत्परतरं नास्ति श्रुत्या वा तपसापि वा ॥ ६१ ॥
प्रत्यूचुस्ते ततो वाक्यं वेदा काममितः स्थिताः ।
आश्चर्य्याश्चैव धन्याश्च यज्ञाश्चात्मपरायणाः ॥ ६२ ॥
यज्ञार्थे च वयं सृष्टा धात्रा येन स्म नारद ।
तदस्माकं परो यज्ञो न वयं स्ववशे स्थिताः ॥ ६३ ॥
स्वयम्भुवः परं वेदा वेदानां ऋतवः पराः ।
ततोऽहमब्रुवं यज्ञान्वृहद्वाग्निपुरस्कृतान् ॥ ६४ ॥
भो यज्ञाः परमं तेजो युस्मासु खलु लक्ष्यते ।
ब्रह्मणाभिहितं वाक्यं यच्च वेदैरुदीरितम् ॥ ६५ ॥
आश्चर्यमन्यल्लोकेस्मिन् भवद्भ्यो नाभिगम्यते ।
धन्याः खलु भवन्तो ये द्विजातीनां स्ववंशजाः ॥ ६६ ॥
तेऽपि खल्वग्नयस्तृप्तिं युष्माभिर्यान्ति तर्पिताः ।
भागैश्च त्रिदशाः सर्वे मन्त्रैश्चैव महर्षयः ॥ ६७ ॥
अग्निष्टोमादयो यज्ञा मम वाक्यादनन्तरम् ।
प्रत्यूचुर्मां ततो वाक्यं सर्वे यूपध्वजाः स्थिताः ॥ ६८ ॥
आश्चर्य्यशब्दो नास्मासु धन्यशब्दोऽपि वा मुने ।
आश्चर्य्यं परमं विष्णुः स ह्यस्माकं परागतिः ॥ ६६ ॥
यदाज्यं वयमश्नीमो, हुतमग्निषु पावनम् ।
तत्सर्वं पुण्डरीकाक्षो लोकमूर्तिः प्रयच्छति ॥ ७० ॥
सोऽहं विष्णोर्गतिप्रेप्सुरिह सम्पतितो भुवि ।
दृष्टश्चायं मया कृष्णो भवद्भिरिह संवृतः ॥ ७१ ॥
यन्मयाभिहितो ह्येषु त्वमाश्चर्यं जनार्दन ।

धन्यश्चासीति भवतां मध्यस्थो ह्यत्र पार्थिवाः ॥ ७२ ॥
प्रत्युक्तोऽहमनेनाद्य वाक्यस्यास्य यदुत्तरम् ।
दक्षिणाभिः सहेत्येवं पर्याप्तं वचनं मम ॥ ७३ ॥
यज्ञानां हि गतिर्विष्णुः सर्वेषां सहदक्षिणः ।
दक्षिणाभिः सहेत्येवं प्रश्नो मम समाप्तवान् ॥ ७४ ॥
कूर्मेणाभिहितं पूर्वं पारंपर्यादिहागतम् ।
सदक्षिणेऽस्मिन्पुरुषे तद्वाक्यं प्रतिपादितम् ॥ ७५ ॥
दक्षिणाभिः सहेत्येवं पर्याप्तं वचनं मम ।
यज्ञानां च गतिर्विष्णुः सर्वेषां च सदक्षिणः ॥ ७६ ॥
यन्मां भवन्तः पृच्छन्ति वाक्यस्यास्य विनिर्णयम् ।
तदेतत्सर्वमाख्यातं साधु यामि यथागतम् ॥ ७७ ॥
नारदे तु गते स्वर्ग सर्वे ते पृथ्वीभुजः ।
विस्मिताः स्वानि राष्ट्राणि जग्मुः सबलवाहनाः ॥ ७८ ॥
जनार्दनोऽपि सहितो यदुभिः पावकोपमैः ।
स्वमेव भवनं वीरो विवेश यदुनन्दनः ॥ ७९ ॥

इति—भगवतः श्रीकृष्णस्य यज्ञपुरुषत्वनिर्वचनम् ॥

४--अथ चतुर्व्यूहनारायणपुरुषत्वम् ।

भारते बहुधाऽस्य मानुषस्य भगवतः श्रीकृष्णस्य महापुरुषत्वमाख्यायते । तत्र ताव-दस्मिन् सूर्य्ये हिरण्यमण्डले योऽन्तः कृष्णमूर्तिरव्ययः, तदभेदेनास्य मानुषकृष्णस्यात्मान-मव्ययं पश्यन् भीष्म उवाच—

अहं ह्येनं वेद्मि तत्वेन कृष्णं योऽयं हि यच्चास्य बलं पुराणम् ।
कृष्णः पृथ्वीमसृजत्खं[1] दिवं च कृष्णस्य देहान्मेदिनी[2] संबभूव ॥ १ ॥
वराहोऽयं[3] भीमबलः पुराणः स पर्वतान्[4] व्यसृजद्[5] दिशश्च ।
अस्य चाधोऽथान्तरिक्षं[6] दिवं च दिशश्चतस्रो विदिशश्चतस्रः ॥ २ ॥
सृष्टिस्तथैवेयमनुप्रसूता[7] स निर्म्ममे विश्वमिदं[8] पुराणम् ।
स भूतानां[9] भावनो भूतभव्यः स विश्वस्यास्य जगतश्चाभिगोप्ता ॥ ३ ॥
अस्य नाभ्यां पुष्करं[10] संप्रसूतं यत्रोत्पन्न स्वयमेवामितौजाः[11] ।
ये नाच्छिन्नं ततमः पार्थ घोरं यत्तत्तिष्ठत्यर्णवं[12] तर्जयानम् ॥ ४ ॥
यदा धर्म्मो ग्लाति वंशेऽसुराणां तदा कृष्णो जायते[13] मानुषेषु ।
धर्म्मे स्थित्वा स तु वै भावितात्मा परांश्च लोकानपरांश्च याति ॥ ५ ॥
स विश्वकर्म्मा[14] स हि विश्वरूपः[15] स विश्वभुग्[16]विश्वसृग्[17]विश्वचिकृ[18]च्च ।
स शूलभृ[19]च्छोणितभृ[20]त्करालस्[21]तं कर्म्मभिर्विदितं[22] वै स्तुवन्ति ॥ ६ ॥
तमध्वरे शंसितारः[23] स्तुवन्ति रथन्तरे सामगाश्च[24] स्तुवन्ति ।
तं ब्राह्मणा[25] ब्रह्ममन्त्रैः स्तुवन्ति तस्मै हविरध्वर्य्यवः[26] कल्पयन्ति ॥ ७ ॥
स पौराणीं ब्रह्मगुहां[27] प्रविष्टो महीसत्रं[28] भारताग्रे ददर्श ।

---

१ प्राणमयी राथन्तरी, २ भूतमयी पिण्डभूता, ३ एमूषः, ४ महीधरान्, ५ प्रन्तान्, ६ काश्यपत्रैलोक्यम्, ७ नवसर्गरूपा, ८ पृथ्वीपिण्डमनु दृश्यं पुराणाकाशम्, ९ भूतभावन आत्मा प्रञ्चजनः परोवरीणो यज्ञः, १० आपोमयाण्डं पद्मम्, ११ ह्यो 'ब्रह्मा' सूर्यो हिरण्यगर्भः १२ अवर्तर्णः, १४ कर्त्ता, १५ कार्य्यः, १६ भोक्ता, १७ स्रष्टा, १८ वशाकृत, १९ विध्वंसनः, २० थिध्वस्तग्राही, २१ क्रूरः, २२ अप्रत्यक्षम्, २३ होतारः ऋग्वेदिनः, २४ उद्गातारः सामवेदिनः, २५ संस्कर्तारो ब्रह्माण अथर्ववेदिनः, २६ यजुर्वेदिनः, २७ वराहप्रजापतिरप्सु, २८ पृथिवीयज्ञं पुष्करप्रादुर्भावम् ।

सचैव गामुद्धाराग्र्यकर्म्मा[29] विक्षोभ्य दैत्यानुरगांश्च[30] दानवान् ॥ ८ ॥
तस्यान्तरिक्षं पृथिवीं दिवं च सर्वं वशे तिष्ठति शाश्वतस्य ।
तेनासुरा निर्जिताः सर्व एव तद्विक्रान्तै[31] र्विजितानीह त्रीणि[3][32] ॥ ९ ॥
स[33] देवानां[34] मानुषाणां[35] पितॄणां[36] तमेवाहुर्यज्ञविदां वितानम्[37] ।
स[38] एव कालं विभजन्नुदेति तस्योत्तरं दक्षिणं चाऽयने द्वे ॥ १० ॥
तस्यैवोर्ध्वं[4] तिर्य्यगधश्चरन्ति गभस्तयो मेदिनीं भासयन्तः ।
तं[39] ब्राह्मणा वेदविदो जुषन्ति[5] तस्यादित्यो भामुपयुज्य[40] भाति[41] ॥ ११ ॥
स एवोक्तश्चक्रमिदं त्रिनाभिः सप्ताश्वयुक्तं[42] वहते वै त्रिधाम[7] ।
महातेजाः सर्वगः सर्वसिंहः कृष्णो लोकान् धारयते यथैकः ॥ १२ ॥
त्रि[8]बन्धुरस्तस्य रथस्त्रिचक्र[9]स्त्रिवृच्छिराश्चतुर[10]श्वस्त्रि[11]नाभिः[12] ।
स विहायो व्यदधात्पञ्च[13]नाभिः स निर्म्ममे गां दिवमन्तरिक्षम् ॥ १३ ॥
स महेन्द्रः स्तूयते वै महाध्वरे विप्रै रेक ऋक्सहस्रैः पुराणैः ।
तमेवाहुर्ऋषिमेकं पुराणं स विश्वकृद्विदधात्यभावान् ॥ १४ ॥
वेदांश्च यो वेदयतेऽधिदेवो विधींश्च यश्चाश्रयते पुराणान् ।
काम्ये वेदे लौकिके यत्फलं च विष्वक्सेनः सर्वमेतत्प्रतीहि ॥ १५ ॥
ज्योतींषि शुक्लानि हि सर्वलोके त्रयो लोका लोकपालास्त्रयश्च ।
त्रयोऽग्नयो व्याहृतयश्च तिस्रः सर्वे देवा देवकीपुत्र एव ॥ १६ ॥

---

२९ पृथिवीम्, ३० हिरण्याक्षादीन् वसुक्यादीन्, ३१ त्रिविक्रमैस्त्रिवृत्पञ्चदशैकविंशैः, ३२ भुवनानि यज्ञान्तभुक्तानि, ३३ दिव्यो यज्ञः, ३४ देवमयः सूर्ये, ३५ मनुष्यमयः पृथिव्यां, ३६ पितृमयः पारमेष्ठ्ये, ३७ विधेययज्ञं मानुषकृतम् । ३८ सूर्यः ।

---

१ शोणितभृच्छरीरेत्येके ।

२ सत्रं पृथ्वीच्छादनं मज्जनम् । सत्रं यज्ञे महादानाच्छादनारण्यकैतवे–इति मेदिनीत्येके ।

३ त्रीणि भुवनानि ।

४ शक्ति विशेषः । आत्मेति शेषः ।

संवत्सरः स ऋतुः सोऽर्द्धमासः सोऽहोरात्रं स कला वै स काष्ठाः ।
मात्रा मुहूर्त्ताश्च लवाश्च काष्ठा विष्वक्सेनः सर्वमेतत्प्रतीहि ॥ १७ ॥
चन्द्रादित्यौ ग्रह-नक्षत्रताराः सर्वाणि दर्शान्यथ पौर्णमासम् ।
नक्षत्रयोगा ऋतवश्च पार्थ विष्वक्सेनात्सर्वमेतत्प्रसूतम् ॥ १८ ॥
रुद्रादित्या वसवोऽथाश्विनौ च साध्याश्च विश्वे मरुतां गणाश्च ।
प्रजापतिर्देवमाताऽदितिश्च सर्वे कृष्णादृषयश्च सप्त ॥ १९ ॥ १६ ॥
वायुर्भूत्वा विक्षिपते च विश्वमग्निर्भूत्वा दहते विश्वरूपः ।
आपो भूत्वा मज्जयते च सर्वं ब्रह्मा भूत्वा सृजते विश्वसंघान् ॥ २० ॥
ज्योतिर्भूतः परमोऽसौ पुरस्तात् प्रकाशयते यत्प्रभया विश्वरूपः ।
अपः सृष्ट्वा सर्वभूतात्मयोनिः पुराकरोत्सर्वमेवाथ विश्वम् ॥ २१ ॥
ऋतूनुत्पातान्विविधान्यद्भुतानि मेघान्विद्युत्सर्वमैरावतं च ।
सर्वं कृष्णात्स्थावरं जङ्गमं च विश्वात्मानं विष्णुमेनं प्रतीहि ॥ २२ ॥
विश्वावासं निर्गुणं वासुदेवं संकर्षणं जीवभूतं वदन्ति ।
ततः प्रद्युम्नमनिरुद्धं चतुर्थमाज्ञापयत्यात्मयोनिर्महात्मा ॥ २३ ॥
स पञ्चधा पञ्चजनोपपन्नं संचोदयन् विश्वमिदं सिसृक्षुः ।
ततश्चकारावनि-मारुतौ च खं ज्योतिरम्भश्च तथैव पार्थ ॥ २४ ॥
स स्थावरं जङ्गमं चैवमेतच्चतुर्विधं लोकमिमं च कृत्वा ।
ततो भूमिं व्यदधात्पञ्चबीजां द्यौः पृथिव्यां धास्यति भूरि वारि ॥ २५ ॥
शुभाशुभं स्थावरं जङ्गमं च विष्वक्सेनात्सर्वमेतत्प्रतीहि ।
यद्वर्तते यच्च भविष्यतीह सर्वं ह्येतत्केशवं त्वं प्रतीहि ॥ २६ ॥
मृत्युश्चैव प्राणिनामन्तकाले साक्षात्कृष्णः शाश्वतो धर्मवाहः ।
भूतं च यच्चेह न विद्म किञ्चिद्विष्वक्सेनात्सर्वमेतत्प्रतीहि । २७ ॥
यत्प्रशस्तं च लोकेषु पुण्यं यच्च शुभाशुभम् ।

३९ चिदात्मानम्, ४० विज्ञानसत्ताम्, ४१ भूतज्योतिरूपेण, ४२ सप्ताहोरात्रछन्दोवृत्तयुक्तम् ।

५ सेवन्ते । ६ शीतोष्णवृष्टिकालगर्भम् । चक्रं संवत्सरम् । ७ वर्षवातोष्णप्रकारम् । ८ बन्धुरः ससारथ्योक्ता । ९ सत्त्व-रजस्तमोमयः । १० ऊर्ध्वमध्याधोगतिफलः । ११ कालः, अदृष्टम्, ईश्वरेच्छा, स्वसंकल्प इति चत्वारोऽश्वाः । १२ शुक्लं, कृष्णं शुक्लकृष्णम् इति त्रिधा कर्म । १३ पञ्च भूताश्रयः ।

तत्सर्वं केशवोऽचिन्त्यो विपरीतमतः परम् ॥ २८ ॥
एतादृशः केशवोऽतश्च भूमो नारायणः परमश्चाव्ययश्च ।
मध्याद्यन्तश्च जगतस्तस्थुषश्च बुभूषतां प्रभवश्चाप्ययश्च ॥ २६ ॥

एतेन कृष्णस्य चतुर्व्यूहनारायणपुरुषावतारत्वमाख्यातं भवति ।
ते चैते चत्वारो व्यूहा एकस्यैवामुष्य महापुरुषस्याव्ययस्य द्रष्टव्याः—ते यथा ।

१ वासुदेवः—षट्त्रिंशस्तोमादारभ्य द्वाविंशस्तोमान्तः स्वाराज्ययज्ञापरनामा गोसवयज्ञः पञ्चदशाह यज्ञ एकः ।

२ संकर्षणः—त्रयस्त्रिंशस्तोमादारभ्य द्वाविंशस्तोमान्तः परमेष्ठिविष्णुलक्षणो द्वादशाहयज्ञो द्वितीयः ।

३ प्रद्युम्नः—पञ्चविंशस्तोमादारभ्य सप्तदशस्तोमान्तः सत्यनारायणश्वेतविष्णुलक्षणो नवाहयज्ञस्तृतीयः ।

४ अनिरुः—एकविंशस्तोमादारभ्य पृथ्वीपर्यन्तः त्रिविक्रमविष्णुलक्षणो ज्योतिष्टोमश्चतुष्टोमयज्ञश्चतुर्थः ।

अन्ये चान्ये चास्य भगवतोऽव्ययपुरुषस्य चत्वारो व्यूहा अन्यत्रान्यत्र द्रष्टव्याः ।

इति चतुर्व्यूहनारायणपुरुषत्वम् ।

निर्गुणनिर्विशेषपरब्रह्मणश्चत्वारो व्यूहाः—
१ वासुदेवः—कालपुरुषः—महानात्माऽक्षरः—अधियज्ञम्—परमाकाशः
२ सङ्कर्षणः—यज्ञपुरुषः—विज्ञानात्मा, बुद्धिः—अधिदैवतम्—पुराणाकाशः
३ प्रद्युम्नः—प्रधानम्—प्रज्ञानात्मा, मनः—अध्यात्मम्—शरीराकाशः
४ अनिरुद्धः—व्यक्तभूतम्—भूतात्मा, अग्निः—अधिभूतम्—दहराकाशः

६-श्रीकृष्णस्य योगीश्वरत्वनिर्वचनम् ।

(ब्राह्मणपरित्राणोपाख्याने योगीश्वरमाहात्म्यम्)

शरतल्पे शयानेन भीष्मेण परिणोदितः ।
युधिष्ठिरं गुडाकेशः कृष्णमाहात्म्यमब्रवीत् ॥ १ ॥

अर्जुन उवाच

पुराहं द्वारकां यातः सम्बन्धी नवलोककः ।
न्यवसं पूजितस्तत्र भोजवृष्ण्यन्धकोत्तमैः ॥ २ ॥
ततः कदाचित्तत्रासीद्दीक्षितो मधुसूदनः ।
एकाहेन महाबाहुः शास्त्रदृष्टेन कर्म्मणा ॥ ३ ॥
ततो दीक्षितमासीनमभिगम्य द्विजोत्तमः ।
कृष्णं विज्ञापयामास त्राहि त्राहीति चाब्रवीत् ॥ ४ ॥
रक्षाधिकारो भवतः परित्रायस्व मां विभो ।
चतुर्थांशं हि धर्म्मस्य रक्षिता लभते फलम् ॥ ५ ॥
जातो जातो महाबाहो पुत्रो मे ह्रियतेऽनघ ।
त्रयो हृताश्चतुर्थं त्वं कृष्ण रक्षितुमर्हसि ॥ ६ ॥
ब्राह्मण्याः सूतिकालोऽद्य तत्र रक्षा विधीयताम् ।
यथा ध्रियेदपत्यं मे तथा कुरु जनार्दन ॥ ७ ॥
ततो मामह गोविन्दो दीक्षितोऽहं क्रताविति ।
रक्षा च ब्राह्मणे कार्य्या सर्वावस्थां गतैरपि ॥ ८ ॥
श्रुत्वाहमेवं कृष्णस्य वचोऽवोचं नराधिप ।
मां नियोजय गोविन्द रक्षिष्येहं द्विजं भयात् ॥ ९ ॥
इत्युक्तः सस्मितं कृत्वा मामुवाच जनार्दनः ।
किं शक्ष्यसीत्येवमुक्तो व्रीडितोऽस्मि नराधिप ॥ १० ॥
ततो मां व्रीडितं मत्वा पुनराह जनार्दनः ।
गम्यतां कौरवश्रेष्ठ शक्यते यदि रक्षितुम् ॥ ११ ॥
त्वत्पुरोगाश्च रक्षन्तु वृष्ण्यन्धकमहारथाः ॥
ऋते रामं महाबाहुं प्रद्युम्नं च महाबलम् ॥ १२ ॥
ततोऽहं वृष्णिसैन्येन महता परिवारितः ।
तमग्रतो द्विजं कृत्वा प्रयातः सह सेनया ॥ १३ ॥

मुहूर्तेन वयं ग्रामं तं प्राप्य भरतर्षभ।
विश्रान्तवाहनाः सर्वे निवासायोपसंस्थिताः ॥ १४ ॥
ततःशकुनयो दीप्ता, मृगाश्च क्रूरभाषिणः।
दीप्तायां दिशि वाशन्तो, भयमावेदायन्ति मे ॥ १५ ॥
सन्ध्यारागो जपावर्णो भानुमांश्चैव निष्प्रभः।
पपात महती चोल्का पृथिवी चाप्यकम्पत ॥ १६ ॥
तान्समीक्ष्य महोत्पातान् दारुणान्लोमहर्षणान्।
योगमाज्ञापयं तत्र जनस्योत्सुकचेतसः ॥ १७ ॥
युयुधानपुरोगाश्च वृष्ण्यन्धकमहारथाः।
सर्वे युक्तरथाः सज्जाः स्वयं चाहं तथाभवम् ॥ १८ ॥
गतेऽर्द्धरात्रिसमये ब्राह्मणो भयविक्लवः।
उपागम्य भयादस्मानिदं वचनमब्रवीत् ॥ १९ ॥
कालोऽयं समनुप्राप्तो ब्राह्मण्याः प्रसवस्यमे।
तथा भवन्तस्तिष्ठन्तु न भवेद् वञ्चनं यथा ॥ २० ॥
मुहूर्तादेव चाश्रौषं कृपणं रुदितस्वनम्।
तस्य विप्रस्य भवने ह्रियते ह्रियतेति च ॥ २१ ॥
अथाकाशे पुनर्वाचमाश्रौषं बालकस्य वै।
उहेति ह्रियमाणस्य न च पश्यामि राक्षसम् ॥ २२ ॥
ततोऽस्माभिस्तदा तात शरवर्षैः समन्ततः।
विष्टम्भिताः दिशः सर्वा हृत एव स बालकः ॥ २३ ॥
विप्र आर्तस्वरं कृत्वा हृते तस्मिन् कुमारके।
वाचः सपरुषास्तीव्राः श्रवयामास मां तदा ॥ २४ ॥
वृष्णयो हृतसङ्कल्पास्तथाहं नष्टचेतनः।
मामेवं हि विशेषेण ब्राह्मणः प्रत्यभाषत ॥ २५ ॥
रक्षिष्यामीति चोक्तं ते न च रक्षितवानसि।
शृणु वाक्यमिदं शेषं यत्त्वमर्हसि दुर्मते ॥ २६ ॥
यथा त्वं स्पर्द्धसे नित्यं कृष्णेनामितबुद्धिना।
यदि स्यादिह गोबिन्दो नैतदत्याहितं भवेत् ॥ २७ ॥
यथा चतुर्थं धर्म्मस्य रक्षिता लभते फलम्।
पस्यापि तथा मूढ भागं प्राप्नोत्यरक्षिता ॥ २८ ॥
रक्षिष्यामीति चोक्तं ते न च शक्तोऽसि रक्षितुम्।

मोघं गाण्डीवमेतत्ते मोघं वीर्य्यं यशश्च ते ॥ २९ ॥
अकिञ्चिदुक्त्वा विप्रं तं ततोऽहं प्रस्थितस्तदा ।
सह वृष्ण्यन्धकसुतैर्यत्र कृष्णो महाद्युतिः ॥ ३० ॥
ततो द्वारवतीं गत्वाऽद्राक्षं मधुनिघातिनम् ।
व्रीडितः शोकसन्तप्तो गोविन्देनोपलक्षितः ॥ ३१ ॥
विप्रो मां व्रीडितं दृष्ट्वा न्यनिन्दत्कृष्णसन्निधौ ।
स द्रूयं पश्यत मे योऽहं श्रद्दधे क्लीबकत्थनम् ॥ ३२ ॥
न प्रद्युम्नो नानिरुद्धो न रामो न च केशवः ।
यत्र शक्ताः परित्रातुं कोऽन्यस्तदवने प्रभुः ॥ ३३ ॥
धिगर्जुनं वृथावादं धिगात्मश्लाघिनो धनुः ।
दैवापसृष्टो यो मौर्ख्यादागच्छति च दुर्मतिः ॥ ३४ ॥
एवं शपति विप्रर्षौ विद्यामास्थाय वैष्णवीम् ।
ययौ संयमनीं वीरो यत्रास्ते भगवान् यमः ॥ ३५ ॥
विप्रापत्यमचक्षाणस्तत ऐन्द्रीमगात्पुरीम् ।
आग्नेयीं नैर्ऋतीं सौम्यामुदीचीं वारुणीं तथा ॥ ३६ ॥
रसातलं नाकपृष्ठं धिष्ण्यान्यन्यान्युदायुधः ।
ततोऽलब्ध्वा द्विजसुतमनिस्तीर्णप्रतिश्रवः ॥ ३७ ॥
अग्निं विविक्षुः कृष्णेन प्रद्युम्नेन निषेधितः ।
दर्शये द्विजसूनुं ते मावज्ञात्मानमात्मना ॥ ३८ ॥
इति संभाष्य मां स्नेहात्समाश्वास्य च माधवः ।
सांत्वयित्वा तु तं विप्रमिदं वचनमब्रवीत् ॥ ३९ ॥
क्षिप्रं च शैब्यं सुग्रीवं मेघपुष्पबलाहकौ ।
योजयाश्वानिति तदा दारुकं प्रत्यभाषत ॥ ४० ॥
आरोप्य ब्राह्मणं कृष्णो ह्यवरोप्य च दारुकम् ।
मानुवाच ततः शौरिः सारथ्यं क्रियतामिति ॥ ४१ ॥
ततः समास्थाय रथं कृष्णोऽहं ब्राह्मणः स च ।
प्रयताः स्म दिशं सौम्यामुदीचीं कौरवर्षभ ॥ ४२ ॥
ततः पर्वतजालानि सरितश्च वनानि च ।
अपश्यं समतिक्रम्य सागरं वरुणालयम् ॥ ४३ ॥
ततोऽर्घमुदधिः साक्षादुपनीय जनार्दनम् ।

स प्राञ्जलिः समुत्थाय किं करोमिति चाब्रवीत् ॥ ४४ ॥
प्रतिगृह्य स तां पूजां तमुवाच जनार्दनः।
रथपन्थानमिच्छामि त्वयादत्तं न दीयते ॥ ४५ ॥
अथाब्रवीत्समुद्रस्तु पुनरेव जनार्दनम्।
प्रसीद भगवन्नैव स योऽप्येवं गमिष्यति ॥ ४६ ॥
त्वयैव स्थापितः पूर्वमगाधोऽस्मि जनार्दन।
त्वया प्रवर्तिते मार्गे यास्यामि गमनीयताम् ॥ ४७ ॥
अन्येऽप्येवं गमिष्यन्ति राजानो दर्पमोहिताः।
एवं संचिन्त्य गोविन्द यत्क्षमं तत्समाचर ॥ ४८ ॥
कृष्ण ऊचे ब्राह्मणार्थं मदर्थं कुरु मद्वचः।
मदृते न पुमान्कश्चिदन्यस्त्वां धर्षयिष्यति ॥ ४९ ॥
अथाब्रवीत्समुद्रस्तु प्राञ्जलिर्गरुडध्वजम्।
अभिशापभयाद्भीतो बाढमेवं भविष्यति ॥ ५० ॥
शोषयाम्येष मार्गं तं येन त्वं कृष्ण यास्यसि।
रथेन सह सूतेन सध्वजेन तु केशव ॥ ५१ ॥
मया दत्तो वरः पूर्वं न शोषं यास्यसीति ह।
मानुषास्तेन जानीयुर्विविधान्रत्नसञ्चयान् ॥ ५२ ॥
जलं स्तम्भय साधो त्वं ततो यास्याम्यहं रथी।
न च कश्चित्प्रमाणं ते रत्नं त्वां वेत्स्यते नरः ॥ ५३ ॥
सागरेण तथेत्युक्ते प्रस्थिताः स्मो जलेन वै।
स्तम्भितेन यथा भूमौ मणिवर्णेन भास्वता ॥ ५४ ॥
ततोऽर्णवं समुत्तीर्य कुरूनप्युत्तरान्वयम्।
क्षणेन समतिक्रान्ता गन्धमादनमेव च ॥ ५५ ॥
ततस्तु पर्वताः सप्त केशवं समुपस्थिताः।
जयन्तो वैजयन्तश्च नीलो रजतपर्वतः ॥ ५६ ॥
महामेरुः स कैलास इन्द्रकूटश्च नामतः।
बिभ्राणा वर्णरूपाणि विविधान्यद्भुतानि च ॥ ५७ ॥
उपस्थाय च गोविन्दं किं कुर्मेत्यब्रुवंस्तदा।
तां श्चैव प्रतिजग्राह विधिवन्मधुसूदनः ॥ ५८ ॥
तानुवाच हृषीकेशः प्रणामावनतान्स्थितान्।

विवरं गच्छतो मे ऽद्य रथमार्गः प्रदीयताम् ॥ ५९ ॥
ते कृष्णस्य वचः श्रुत्वा प्रतिगृह्य च पर्वताः ।
प्रददुः कामतो मार्गं गच्छतो भरतर्षभ ॥ ६० ॥
तत्रैवान्तर्हिताः सर्वे तदाश्चर्य्यतरे मम ।
असक्तं च रथो याति मेघजालेष्विवांशुमान् ॥ ६१ ॥
सप्त द्वीपान् ससिन्धूंश्च सप्त सप्तगिरीनथ ।
लोकालोकं तथातीत्य विवेश सुमहत्तमः ॥ ६२ ॥
ततः कदाचिद्दुःखेन रथमूहुस्तुरङ्गमाः ।
पङ्कभूतं हि तिमिरं स्पर्शाद्विज्ञायते नृप ॥ ६३ ॥
अथ पर्वतभूतं तं तिमिरं समपद्यत ।
तदासाद्य महाराज निष्प्रयत्ना हयाः स्थिताः ॥ ६४ ॥
ततश्चक्रेण गोविन्दः पाटयित्वा तमस्तदा ।
आकाशं दर्शयामास रथपन्थानमुत्तमम् ॥ ६५ ॥
निष्क्रम्य तमसस्तस्मादाकाशे दर्शिते तदा ।
भविष्यामीति संज्ञा मे भयं च विगतं मम ॥ ६६ ॥
ततस्तेजः प्रज्वलितमपश्यत तदाम्बरे ।
सर्वलोकं समाविश्य स्थितं पुरुषविग्रहम् ॥ ६७ ॥
तं प्रविष्टो हृषीकेशो दीप्तं तेजोनिधिं तदा ।
रथ एव स्थितश्चाहं स च ब्राह्मणसत्तमः ॥ ६८ ॥
समूहुर्तात्ततः कृष्णो निश्चक्राम तदा प्रभुः ।
चतुरो बालकान् गृह्य ब्राह्मणस्यात्मजांस्तदा ॥ ६९ ॥
प्रददौ ब्राह्मणायाथ पुत्रान् सर्वान् जनार्दनः ।
त्रय पूर्वं हृता ये च सद्यो जातश्च बालकः ॥ ७० ॥
प्रहृष्टो ब्राह्मणस्तत्र पुत्रान्दृष्ट्वा पुनः प्रभो ।
अहं च परमः प्रीतो विस्मितश्चाभवत्तदा ॥ ७१ ॥
ततो वयं पुनः सर्वे ब्राह्मणस्य च ते सुताः ।
यथा गत निवृत्ताःस्म तथैव भरतर्षभ ॥ ७२ ॥
ततः स्म द्वारकां प्राप्ता क्षणेन नृपसत्तम ।
असम्प्राप्तेऽर्द्धदिवसे विस्मितोऽहं पुनः पुनः ॥ ७३ ॥
सपुत्रं भोजयित्वातु द्विजं कृष्णो महायशाः ।

धनेन वर्षयित्वा च गृहं प्रास्थापयत्तदा ॥ ७४ ॥
ततः कृष्णो भोजयित्वा शतानि सुबहूनि च।
विप्राणामृषिकल्पानां कृतकृत्योऽभवत्तदा ॥ ७५ ॥
ततः सह मया भुक्त्वा वृष्णिभोजैश्च सर्वदा।
विचित्राश्च कथा दिव्याः कथयामास भारत ॥ ७६ ॥
ततः कथान्ते तत्राहमभिगम्य जनार्दनम्।
अपृच्छं तद्यथावृत्तं कृष्णं यद् दृष्टवानहम्।
कथं समुद्रः स्तब्धोदः कृतस्तु कमलेक्षण।
पर्वतानां च विवरं कृतं तत्कथमच्युत ॥ ७८ ॥
तमस्तच्च कथं घोरं घनं चक्रेण पाटितम्।
तच्च यत्परमं तेजः प्रविष्टोऽसि कथं च तत् ॥ ७९ ॥
किमर्थं तेन ते बालास्तदा चापहृताः प्रभो।
यच्च ते दीर्घमध्वानं संक्षिप्तं तत्कथंपुनः ॥ ८० ॥
कथं चाल्पेन कालेन कृतं तत्तद् गतागतम्।
एतत्सर्वं यथावृत्तमाचक्ष्व मम केशव ॥ ८१ ॥

वासुदेव उवाच

मद्दर्शनार्थं ते बाला हृतास्तेन महात्मना।
विप्रार्थमेष्यते कृष्णो नागच्छेदन्यथेति ह ॥ ८२ ॥
ब्रह्मतेजोमयं दिव्यं महद्यद्दृष्टवानसि।
अहं स भरतश्रेष्ठ मत्तेजस्तत्सनातनम् ॥ ८३ ॥
प्रकृतिः सा मम परा व्यक्ताव्यक्ता सनातनी।
तां प्रविश्य भवन्तीह मुक्ता योगविदुत्तमाः ॥ ८४ ॥
सा सांख्यानां गतिः पार्थ योगीनां च तपस्विनाम्।
तत्पदं परमं ब्रह्म सर्वं विभजते जगत् ॥ ८५ ॥
मामेव तद्घनं तेजो ज्ञातुमर्हसि भारत।
समुद्रस्तोभतो योऽहमहं स्तम्भयिता जलम् ॥ ८६ ॥
अहं ते पर्वताः सप्त ये दृष्टा विविधास्त्वया।
पङ्कभूतं हि तिमिरं दृष्टवानसि यद्धि तत् ॥ ८७ ॥
अहं तमो घनीभूतमहमेव च पाटकः।
अहं च कालो भूतानां धर्मश्चाहं सनातनः ॥ ८८ ॥

चन्द्रादित्यौ महाशैलाः सरितश्च सरांसि च ।
चतस्रश्च दिशः सर्वा ममैवात्मा चतुर्विधः ॥ ८९ ॥
चातुर्वर्ण्यं मत्प्रसूतं चातुराश्रम्यमेव च ।
चातुर्विध्यस्य कर्त्ताहमिति बुध्यस्व भारत ॥ ९० ॥
ब्रह्म च ब्राह्मणश्चैव तपः सत्यं च भारत ।
उग्रं बृहत्तमं चैव मत्तस्तं विद्धि पाण्डव ॥ ९१ ॥
प्रियस्तेऽहं महाबाहो प्रियो मेऽसि धनञ्जय ।
तेन ते कथयिष्यामि नान्यथा वक्तुमुत्सहे ॥ ९२ ॥
अहं यजुंषि सामानि ऋचश्चाथर्वणानि च ।
ऋषयो देवता यज्ञा मत्तेजो भरतर्षभ ॥ ९३ ॥
ऋषयः पितरो देवा सुरा गन्धर्वमानुषाः ।
पृथिवी वायु राकाशमापोज्योतिश्च पञ्चमम् ॥ ९४ ॥
चन्द्रादित्यावहोरात्रं पक्षा मासास्तथर्तवः ।
मुहूर्ताश्च कलाश्चैव क्षणः संवत्सरास्तथा ॥ ९५ ॥
मन्त्राश्च विविधा पार्थ यानि शास्त्राणि कानिचित् ।
विद्याश्च वेदितव्यं च मत्तः प्रादुर्भवन्ति हि ॥ ९६ ॥
मन्मयं विद्धि कौन्तेय क्षयं सृष्टिश्च भारत ।
सच्चासच्च ममैवात्मा सदसच्चैव यत्परम् ॥ ९७ ॥
एवमुक्तोऽस्मि कृष्णेन प्रीयमाणेन वै तदा ।
तथैव च मनो नित्यमभवन्मे जनार्दने ॥ ९८ ॥
एतच्छ्रुतं च दृष्टं च माहात्म्यं केशवस्य मे ।
यन्मां पृच्छसि राजेन्द्र भूयांश्चातो जनार्दने ॥ ९९ ॥
विस्मितश्चाभवद्राजा सह सर्वैः सहोदरैः ।
राजभिश्च समासीनैर्ये तत्रासन् समागताः ॥१०० ॥

इति हरिवंशे (वि० पु० १११।११४।) ब्राह्मणपरित्राणोपाख्याने योगीश्वरकृष्णस्य योगवशात् परिलक्षिताक्षरपुरुषप्रभावत्वमाख्यातम् ॥ ० ॥

इति यगीश्वरकृष्णमाहात्म्यम् ।

६-त्रिविक्रमविष्णुत्वनिर्वचनम् ।

श्रीकृष्णस्य त्रिविक्रमविष्णुत्वनिर्वचनम

पिनाकिन्भगनेत्रघ्न सर्वलोकनमस्कृत ।
माहात्म्यं वासुदेवस्य श्रोतुमिच्छामि शङ्कर ॥ १ ॥

महेश्वर उवाच

पितामहादपि वरः शाश्वतः पुरुषो हरिः ।
कृष्णो जाम्बूनदाभासो व्यभ्रे सूर्य्य इवोदितः ॥ २ ॥
दशबाहुर्महातेजा देवतारिनिषूदनः ।
श्रीवत्साङ्को हृषीकेशः सर्वदैवतयूथपः ॥ ३ ॥
ब्रह्मा तस्योदरभवस्तस्याहं च शिरोभवः ।
शिरोरुहेभ्यो ज्योतींषि रोमभ्यश्च सुरासुराः ॥ ४ ॥
ऋषयो देहसम्भूतास्तस्य लोकाश्च शाश्वताः ।
पितामहगृहं साक्षात् सर्वदेवगृहं च सः ॥ ५ ॥
सो ऽस्याः पृथिव्याः कृत्स्नायाः स्रष्टा त्रिभुवनेश्वरः ।
संहर्ता चैव भूतानां स्थावरस्य चरस्य च ॥ ६ ॥
स हि देववरः साक्षाद्देवनाथः परंतप ।
सर्वज्ञः सर्वसंस्रष्टा सर्वगः सर्वतो मुखः ॥ ७ ॥
एतस्य देवनाथस्य कार्य्यस्य च परस्य च ।
ब्रह्मभूतस्य सततं ब्रह्मर्षिशरणस्य च ॥ ८ ॥
ब्रह्मा वसति नाभिस्थः शरीरेऽहं च संस्थितः ।
सर्वाः सुखं संस्थिताश्च शरीरे तस्य देवताः ॥ ९ ॥
न हि देवगणाः शक्तास्त्रिविक्रिमविनाकृताः ।
भुवने देवकार्य्याणि कर्तुं नाथबलोज्झिताः ॥ १० ॥
न तस्मात्परमं भूतं त्रिषु लोकेषु किञ्चन ।
सनातनो महाभागो गोविन्द इति विश्रुतः ॥ ११ ॥

इति कृष्णस्य त्रिविक्रमविष्णुत्वमाख्यातं भवति । पृथिवीत्रिलोकीपरिव्याप्ताग्निमूर्तिनासत्यपुरुषेण विश्वरूपकृष्णेनायं वासुदेवः कृष्णोऽव्ययैकत्वेनैकोभवति ।

इति श्रीकृष्णस्य त्रिविक्रमविष्णुत्वनिर्वचनम् ।

७-सर्वभूतान्तरात्मत्वम् ।

परः पराणां परमः परमात्मात्मसंस्थितः ।
रूपवर्णादिनिर्देशविशेषणविवर्जितः ॥ १ ॥
अपक्षयविनाशाभ्यां परिणामर्धिजन्मभिः ।
वर्जितः शक्यते वक्तुं यः सदास्तीति केवलम् ॥ २ ॥
सर्वत्रासौ समस्तं च वसत्यत्रेति वै यतः ।
ततः स वासुदेवेति विद्वद्भिः परिपठ्यते ॥ ३ ॥
तद् ब्रह्म परमं नित्यमजमक्षयमव्ययम् ।
एकस्वरूपं तु सदा हेयाभावाच्च निर्मलम् ॥ ४ ॥
तदेव सर्वमेवैतद्व्यक्ताव्यक्तस्वरूपवत् ।
तथा पुरुषरूपेण कालरूपेण च स्थितम् ॥ ५ ॥
परस्य ब्रह्मणो रूपं पुरुषः प्रथमं द्विज ।
व्यक्ताव्यक्ते तथैवान्ये रूपे कालस्तथा परम् ॥ ६ ॥
प्रधानपुरुषव्यक्तकालानां परमं हि यत् ।
पश्यन्ति सूरयः शुद्धं तद् विष्णोः परमं पदम् ॥ ७ ॥
प्रधानपुरुषव्यक्तकालास्तु प्रविभागशः ।
रूपाणिस्थितिसर्गान्तव्यक्तिसद्भावहेतवः ॥ ८ ॥
व्यक्तं विष्णुस्तथाव्यक्तं पुरुषः काल एवच ।
क्रीडतो बालकस्येव चेष्टां, तस्य निशामय ॥ ९ ॥
अव्यक्तं कारणं यत्तत् प्रधानमृषिसत्तमैः ।
प्रोच्यते प्रकृतिः सूक्ष्मा नित्यं सदसदात्मकम् ॥ १० ॥
अक्षय्यं नान्यदाधारममेयमजरं ध्रुवम् ।
त्रिगुणं तज्जगद्योनिरनादिप्रभवाप्ययम् ॥ ११ ॥
वेदवादविदो विद्वन् नियता ब्रह्मवादिनः ।
पठन्ति चैतमेवार्थं प्रधानप्रतिपादकम् ॥ १२ ॥
नाहो न रात्रिर्न नभो न भूमिर्नासीत्तमो ज्योतिरभूच्च नान्यत् ।
श्रोत्रादिबुद्ध्यानुपलभ्यमेकं प्राधानिकं ब्रह्म पुमांस्तदासीत् ॥ १३ ॥
विष्णोः स्वरूपात्परतोदिते द्वे रूपे प्रधानं पुरुषश्च विप्र ।
तस्यैव तेऽन्येन धृते वियुक्ते रूपान्तरं तद् द्विज कालसंज्ञम् ॥ १४ ॥
अनादिर्भगवान्कालो नान्तोऽस्य द्विज विद्यते ।

अव्युच्छिन्नास्ततस्त्वेते सर्गस्थित्यन्तसंयमाः ॥ १५ ॥
ततस्तु तत्परं ब्रह्म परमात्मा जगन्मयः ।
सर्वगः सर्वभूतेशः सर्वात्मा परमेश्वरः ॥ १६ ॥
प्रधानपुरुषौ चापि प्रविश्यात्मेच्छया हरिः ।
क्षोभयामास संप्राप्ते सर्गकाले व्ययाव्ययौ ॥ १७ ॥
यथा सन्निधिमात्रेण गन्धः क्षोभाय जायते ।
मनसो नोपकर्तृत्वात्तथाऽसौ परमेश्वरः ॥ १८ ॥
स एवं क्षोभको ब्रह्मन् क्षोभ्यश्च पुरुषोत्तमः ।
स संकोच-विकाशाभ्यां प्रधानत्वेऽपि च स्थितः ॥ १९ ॥
विकाशाणुस्वरूपैश्च ब्रह्मरूपादिभिस्तथा ।
व्यक्तस्वरूपश्चास्तथा विष्णुः सर्वेश्वरेश्वरः ॥ २० ॥
गुणसाम्यात्ततस्तस्मात् क्षेत्रज्ञाधिष्ठितान्मुने ।
गुणव्यञ्जनसम्भूतिः सर्गकाले द्विजोत्तम ॥ २१ ॥
प्रधानतत्त्वं महद्भूतं महान्तं तत्समावृणोत् ।
सात्विको राजसश्चैव तामसश्च त्रिधा महान् ॥ २२ ॥
वैकारिकस्तैजसश्च भूतादिश्चैव तामसः ।
त्रिविधोऽयमहङ्कारो महतत्त्वादजायत ॥ २३ ॥
यथा प्रधानेन महान् महता स यथावृतः
भूतादिस्तु विकुर्वाणः शब्दतन्मात्रकं ततः ॥ २४ ॥
ससर्ज शब्दतन्मात्रादाकाशं शब्दलक्षणम् ।
शब्दमात्रं तथाकाशं भूतादिः स समावृणोत् ॥ २५ ॥
आकाशस्तु विकुर्वाणः स्पर्शमात्रं ससर्ज ह ।
बलवानभवद् वायुस्तस्य स्पर्शो गुणो मतः ॥ २६ ॥
आकाशं शब्दमात्रं तु स्पर्शमात्रं समावृणोत् ।
ततो वायुर्विकुर्वाणो रूपमात्रं ससर्ज ह ॥ २७ ॥
ज्योतिरुत्पद्यते वायोस्तद्रूपगुणमुच्यते ।
स्पर्शमात्रं तु वै वायु रूपमात्रं समावृणोत् ॥ २८ ॥
ज्योतिश्चापि विकुर्वाणं रसमात्रं ससर्ज ह ।
सम्भवन्ति ततोऽम्भांसि रसाधाराणि तानि च ॥ २९ ॥
रसमात्राणि चाम्भांसि रूपमात्रं समावृणोत् ।
विकुर्वाणानि चाम्भांसि गन्धमात्रं ससर्जिरे ॥ ३० ॥
संघातो जायते तस्मात्तस्य गन्धो गुणो मतः ।
तस्मिंस्तस्मिंस्तु तन्मात्रं तेन तन्मात्रता स्मृता ॥ ३१ ॥
तन्मात्राण्यविशेषाणि अविशेषास्ततो हि ते ।
न शान्ता नापि घोरास्ते न मूढाश्चाविशेषिणः ॥ ३२ ॥
भूततन्मात्रसर्गोऽयमहङ्कारात्तु तामसात् ।

तैजसानीन्द्रियाण्याहुर्देवा वैकारिका दश ॥ ३३ ॥
एकादशं मनश्चात्र देवा वैकारिकाः स्मृताः ।
त्वक्चक्षुर्नासिका जिह्वा श्रोत्रमत्र च पञ्चमम् ॥ ३४ ॥
शब्दादीनामवाप्त्यर्थं बुद्धियुक्तानि वै द्विज ।
पायूपस्थौ करौ पादौ वाक् च मैत्रेय पञ्चमी ॥ ३५ ॥
विसर्गः शिल्पगत्युक्तिः कर्म्म तेषां च कथ्यते ।
आकाशवायुतेजांसि सलिलं पृथिवी तथा ॥ ३६ ॥
शब्दादिभिर्गुणैर्ब्रह्मन् संयुक्तान्युत्तरोत्तरैः ।
शान्ता घोराश्च मूढाश्च विशेषास्तेन ते स्मृताः ॥ ३७ ॥
नानावीर्य्याः पृथग्भूतास्ततस्ते संहतिं विना ।
नाशक्नुवन्प्रजाः स्रष्टुमसमागम्य कृत्स्नशः ॥ ३८ ॥
समेत्यान्योन्य संयोगं परस्परसमाश्रयाः ।
एकसंघातलक्ष्याश्च सम्प्राप्यैक्यमशेषतः ॥ ३९ ॥
पुरुषाधिष्ठितत्वाच्च प्रधानानुग्रहेण च ।
महदाद्या विशेषान्ता ह्यण्डमुत्पादयन्ति ते ॥ ४० ॥
तत् क्रमेण विवृद्धं सज्जलबुद्बुदवत्समम् ।
वारिवह्न्यनिलाकाशैस्ततो भूतादिना बहिः ॥ ४१ ॥
वृतं दशगुणैरण्डं भूतादिर्महता तथा
अव्यक्तेनावृतो ब्रह्म स्तैः सर्वैः सहितो महान् ॥ ४२ ॥
एभिरावरणैरण्डं सप्तभिः प्राकृतैर्वृतम ।
सृष्टिस्थित्यन्तकरणीं ब्रह्मविष्णुशिवात्मिकाम् ॥ ४३ ॥
स संज्ञां याति भगवानेक एव जनार्दनः ।
पृथिव्यापस्तथा तेजो वायुराकाश एव च ।
सर्वेन्द्रियान्तःकरणं पुरुषाख्यं हि यज्जगत ॥ ४४ ॥
स एव सर्वभूतात्मा विश्वरूपो यतोऽव्ययः ।
सर्गादिकं तु तस्यैव भूतस्थमुपकारकम् ॥ ४५ ॥

इति विष्णुपुराणे सृष्ट्युपक्रमप्रसङ्गे जगदुत्पत्तिकारणमहापुरुषमाहात्म्यम् ॥

वि० पु० । अ० २।१०।६६।

अत्र च संदर्भे योऽयं सत्यधर्म्मा परमोऽव्ययोऽमुष्मिन्नीश्वरप्रजापतौ महापुरुषेऽधिष्ठितः प्रतिभासते तद्रूपेण वासुदेवोनामायं भगवान् मानुषः कृष्णो व्याख्यातः ।

साक्षात्कृतातीन्द्रियसत्यभावा ब्रह्मर्षयो वेदविदः पुराणाः ।
पुराणशास्त्रे बहुभक्तिवादैः कृष्णं महापुरुषमित्थमूचुः ॥

॥ इति परमाश्चर्य्यगुणवैशिष्ट्यलक्षणं सप्तविधपुराणपुरुषत्वम् ॥

ईश्वरव्यपदेशहेतुभूतानीश्वरसहकृतजीवत्वलक्षणानि

नवविधानि ।

१ नामसाम्यम्
२ रूपसाम्यम् ।
३ सोमान्ववायित्वम्
४ व्रजनिकेतनत्वम् ।
५ द्वादशलक्षणत्वम् ।
६ लोकचतुष्टययोगित्वम्
७ वेदगोब्राह्मणमहिमोद्भावकत्वम्
८ वेदानुगीतचरितत्वम्
९ षोडशकलापूर्णावतरत्वम्

तत्रादौ परमेष्ठीश्वरतो नामसामान्यं-यथा-

१ विष्वक्सेनः
२ वासुदेवः
३ योगेश्वरः
४ हृषीकेशः
५ भूतेशः
६ भूतभावनः
७ अच्युतः
८ अनन्तः
९ माधवः
१० मधुसूधनः
११ वार्ष्णेयः
१२ यादवः
१३ भगवान्
१४ अरिसूदनः
१५ गोविन्दः
१६ केशवः
१७ विष्णुः
१८ प्रभुः
१९ केशिनिषूदनः
२० जगन्निवासः
२१ कमलपत्राक्षः
२२ पुरुषोत्तमः
२३ जनार्दनः
२४ महाबाहुः
२५ महात्मा
२६ परमेश्वरः
२७ विश्वेश्वरः
२८ विश्वमूर्तिः
२९ विश्वरूपः
३० जगत्पतिः
३१ देवः
३२ देववरः
३३ देवदेवः
३४ देवेशः
३५ विश्वम्भरः
३६ पीताम्बरः
३७ दामोदरः
३८ पुण्डरीकाक्षः
३९ गरुडध्वजः
४० नारायणः
४१ विष्वक्सेनः
४२ मुकुन्दः
४३ कंसारिः
४४ मुरारिः
४५ श्रीवत्साङ्कः
४६ वनमाली
४७ शार्ङ्गी
४८ चक्रपाणिः
४९ जलशायी
५० गोपालः-इति

विष्वक्सेनो जन्मनाम कर्म्मनामान्यतः परम् ।
कर्म्मनामानि दिव्ये च मानुषे चाविशेषतः ॥
योगेश्वरो हृषीकेशो भूतेशो भूतभावनः ।
वासुदेवो ऽच्युतोऽनन्तो माधवो मधुसूदनः ॥

वार्ष्णेयो यादवः कृष्णो भगवानरिसूदनः ।
गोविन्दः केशवो विष्णुः प्रभुः केशिनिषूदनः ॥
जगन्निवासः कमलपत्राक्षः पुरुषोत्तमः ।
जनार्दनो महाबाहुर्महात्मा परमेश्वरः ॥
विश्वेश्वरो विश्वमूर्तिर्विश्वरूपो जगत्पतिः ।
देवो देववरो देवदेवो देवेश इत्यपि ॥
नामान्येतानि गीतायांकृष्णे व्यवहृतानिहि
नीयन्ते तान्यभेदेन परमेष्ठिनि मानुषे ॥

विश्वम्भरपीताम्बरदामोदरपुण्डरीकाक्षाः ।
गरुडध्वजनारायणविष्क्सेना मुकुन्दश्च ॥
कंसारिः स मुरारिः श्रीवत्साङ्कः स वनमली ।
शार्ङ्गी स चक्रपाणिर्जलशायी चैषः गोपालः ॥
एवं विधानि कतिचिन्नामान्यन्यानि चान्यत्र ।
उक्तानि तानि साम्यात्—मानुषकृष्णे च दिव्यकृष्णे च ॥
एषु च कतिचिन्मानुषकृष्णे मुख्यानि वर्तन्ते ।
तानि कथंचन दिव्ये कृष्णे योगात्मकल्पन्ते ॥
अपि कानिचिद्विशेषाद्दिव्यस्यैवोपपद्यन्ते ।
भक्तया मानुषकृष्णे तेषामस्ति प्रयोगोऽयम् ॥
कंसारिस्तु मनुष्यो दिव्योऽनन्तो हृषीकेशः ।
तार्क्ष्यगरुडवत्कश्यपकूर्म्मवदभिधानसंकरो भवति ॥
अपि पीताम्बरसंविधाः कतिचन शब्दास्तयोस्तुल्यम् ।
प्रादेशिकया वृत्या युज्यन्ते ते पृथग् भाव्याः ॥

इति दिव्यकृष्णमानुषकृष्णयोर्नामसामान्यप्रतिपत्तिः ।

———

दिव्यकृष्ण-मानुषकृष्णयो रूपसामान्यप्रतिपत्तिः—

उक्तं नामसामान्यम्। अथ रूपसामान्यं वक्तव्यम्। तत्रेदं रूपं तावद् द्विविधमिष्यते आकारो वर्णश्चेति। आकारोऽयं प्रतिवयुनं वयोनाधभागश्छन्दः। अथ वर्णो द्विविधः—
हिरण्मयश्च कृष्णश्चेति। तथा चाह मन्त्रश्रुतिः—

"तन्मित्रस्य वरुणस्याभिचक्षे सूर्यो रूपं कृणुते द्योरुपस्थे॥
अनन्तमन्यद् रुशदस्य पाजः कृष्णमन्यद् धरितः सम्भरन्ति॥" ॥

ब्राह्मणश्रुतिरप्याह—"सूर्योऽग्नेर्योनिरायतनम्। तै० ३।६।२१॥
"तेज एव मण्डलं भाः। अपरं शुक्लमपरं कृष्णम्। रश्मयो वाव होत्राः।
ते वा एकैकम्। तदकैकस्य रश्मेर्द्वौ भवतः"। गो० ६।६। इति।
हिरण्मयोऽग्निः कृष्णः सोमः। सोऽग्निरयं सुप्तः कदाचिज्जागर्ति।
प्रबुद्धो भूत्वाऽयं भूमौ न चिरायावतिष्ठते—अञ्जसा दिवं गच्छति।
लोकान्तरं गच्छतः सततस्तस्येहासत्वं भवतीति मृत्युशब्दव्यवहारः।
वस्तुतस्तु न म्रियते तस्मादयमग्निरमृतश्च मृत्युश्च।
अथ सोमः। सर्वाकाशपरिव्यापी न क्वचिन्न भवति।

तथा च श्रूयते—

"त्वमिमा ओषधीः सोम विश्वास्त्वमपो अजनयस्त्वं गाः।
त्वमाततन्थोर्वान्तरिक्षं त्वं ज्योतिषा वितमो ववर्थ॥" इति ऋ० १।६।२३।

तेनैतममृतं वदन्ति। तथा चैषोऽग्निमूलको हिरण्मयः सर्वो वर्णो मर्त्यः। आग्नेयत्वादग्निवत्-यमनुक्षयित्वात् सहोजातत्वाच्च। अथैष कृष्णो वर्णस्त्वमृतमविनाशित्वात्। कृष्णः पूर्वं रूपं कृष्ण एवोत्तरं रूपम्। हिरण्मयस्तु सर्वो वर्णो मध्यमं रूपम्। हिरण्मयस्याप्यन्तरतोऽयं कृष्णो नात्यन्तायापहीयते, सर्वत्राप्रतिहतत्वात्। हिरण्मयं शुक्लमाहुः।
हिरण्मयसूर्यप्रकाशस्य दिवा शुक्लत्वेनानुभवात्। अत एव श्रूयते—

"शुक्रं ते अन्यद् यजतं त अन्यद् विषुरूपे अहनी द्यौरिवासि।
विश्वा हि माया अवसि स्वधावन् भद्राते पूषन्निह रातिरस्तु। इति ऋ० ४।८।२४।

अन्ये तु सर्वे वर्णा अनयोरेव शुक्लकृष्णयोर्योगसिद्धत्वान्मायामात्रम्। यौगिकत्वेनातात्विकत्वादमौलिकत्वात्। तदित्थं वर्णद्वैविध्ये स्थिते सूर्यस्तावदयं हिरण्मयवर्णो विज्ञायते हिरण्मयादस्माद् वहिर्धा वर्तमानः खल्वयं परमेष्ठी कृष्णवर्णो भवति॥

"रूपं रूपं मघवा बोभवीति" इति ऋ० ३।३।२०। मन्त्रश्रुत्या
"इन्द्रो रूपाणि कनिक्रदचरत्" इति ब्राह्मणश्रुत्या च भौतिकानामेषां सर्वेषामेव वर्णानामैन्द्रतया तदिन्द्राधिष्ठानाद्धिरण्मयादस्मात् सूर्यवैश्वरूप्याद् वहिर्धा परितो दिदव-घूर्तमानस्य परमेष्ठ्यधिष्ठानस्य वायुसमुद्रस्य ज्योतिरभावलक्षणतमोमयत्वेन कृष्णवर्णत्व-सिद्धान्तात्।

"अनन्तमन्यद् रुशदस्य पाजः कृष्णमन्यद्धरितः सम्भरन्ति" ॥ यजु०३३।३९।
इति श्रुत्या—तदिन्द्रलोकादूर्ध्वं परितो दिक्षु कृष्णत्वप्रतिज्ञानात् सर्वतः पुनरस्याकाशनीलिम्नः प्रत्यक्षं दृष्टत्वाच्च ।

अथायं च भगवान् वासुदेवः श्रीकृष्णो घनश्यामादिशब्दैरभिष्टूयमानत्वात् कृष्णवर्णो निर्धार्यते । तथाहि—स्मरन्त्येतस्य रूपध्यानं योगविद्यायां पौराणिकाः । यथा भागवते—

श्री भगवानुवच ।

सम आसन आसीनः समकायो यथासुखम् ।
हस्तावुत्सङ्ग आधाय स्वनासाग्रकृतेक्षणः ॥ १ ॥
प्राणस्य शोधयेन्मार्गं पूरकुम्भकरेचकैः ।
विपर्ययेणापि शनैरभ्यसेन्निर्जितेन्द्रियः ॥ २ ॥
हृद्यविच्छिन्नमोंकारं घण्टानादं बिसोर्णवत् ।
प्राणेनोदीर्य तत्राथ पुनः संवेशयेत् स्वरम् ॥ ३ ॥
एवं प्रणवसंयुक्तं प्राणमेव समभ्यसेत् ।
दशकृत्वस्त्रिषवणं मासादर्वाग् जितानिलः ॥ ४ ॥
हृत्पुण्डरीकमन्तःस्थमूर्ध्वनालमधोमुखम् ।
ध्यात्वोर्ध्वमुखमन्निद्रमष्टपत्रं सकर्णिकम् ॥ ५ ॥
कर्णिकायां न्यसेत्सूर्य्यसोमाग्नीनुत्तरोत्तरम् ।
वन्हिमध्ये स्मरेद्रूपं ममैतद् ध्यानमङ्गलम् ॥ ६ ॥
समं प्रशान्तं सुमुखं दीर्घचारुचतुर्भुजम् ।
सुचारु सुन्दरग्रीवं सुकपोलं शुचिस्मितम ॥ ७ ॥
समानकर्णविन्यस्तस्फुरन्मकरकुण्डलम् ।
हेमाम्बरं घनश्यामं श्रीवत्सं श्रीनिकेतनम् ॥ ८ ॥
शंखचक्रगदापद्मवनमालाविभूषितम् ।
नूपुरैर्विलसत्पादं कौस्तुभप्रभया युतम् ॥ ९ ॥
द्युमत्किरीटकटककटिसूत्राङ्गदायुतम् ।
सर्वाङ्गसुन्दरं हृद्यं प्रसादसुमुखेक्षणम् ॥ १० ॥
सुकुमारमभिध्यायेत् सर्वाङ्गेषु मनोदधत् ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यो मनसाकृष्य तन्मनः ॥ ११ ॥
बुद्धया सारथिना धीरः प्रणयेन्मयि सर्वतः ।
तत्सर्वव्यापकं चित्तमाकृष्यैकत्र धारयेत् ॥ १२ ॥

नान्यानि चिन्तयेद् भूयः सुस्मितं भावयेन्मुखम् ।
तत्र लब्धपदं चित्तमाकृष्य व्योम्नि धारयेत् ॥ १३ ॥
तच्च त्यक्त्वा मदारोहो न किञ्चिदपि चिन्तयेत् ।
एवं समाहितमतिर्मामेवात्मनमात्मनि ॥ १४ ॥
विचष्टे मयि सर्वात्मन् ज्योतिर्ज्योतिषि संयुतम् ॥
ध्यानेनेत्थं सुतीव्रेण युञ्जतो योगिनो मनः ।
सं यास्यत्याशु निर्वाणं द्रव्यज्ञानक्रियाभ्रमः ॥ १५ ॥

तथाचैतयोर्दिव्यकृष्णमानुषकृष्णयोः कृष्णवर्णत्वेन रूपसामान्यमाख्यातं भवति ॥ ॥ यः खल्वनयोर्दिव्यकृष्णमानुषकृष्णसंबन्धिनोः कृष्णवर्णयोर्निरुक्तानिरुक्तादिकृतः कश्चन विशेषः संभवति स उत्तरत दिव्यकृष्णप्रकरणे प्रनश्योपपादयिष्यते— इतिदिक् ॥

इति दिव्यकृष्णमानुषकृष्णयो रूपसामान्यप्रतिपत्तिः ॥

—***—

३-सोमवंश्यत्वम् ।

ब्रह्मज्योतिः, सौम्यज्योतिः, भूतज्योतिरिति भेदात् त्रीणि ज्योतींषि भवन्ति । तथा चोक्तम्—

"प्रजापतिः प्रजया संरराणस्त्रीणि ज्योतींषि सचते स षोडशी" इति । तत्रेदं ज्ञानं ब्रह्मज्योतिः । तथा च श्रूयते—

"ब्रह्म यज्ज्ञानं प्रथमं पुरस्ताद्विसीमतः सुरुचो वेन आवः" इति । नारा० उ० ६।
तदिदं ज्ञानयं वेदमयं प्रथमं स्वयम्भूमण्डलम् । स्वयम्भूहृदयानुग्राहित्वात् सत्यः प्राणाग्निमयः ।

अथ सूर्य्य चन्द्राग्निविद्युन्नक्षत्राणि भूतज्योतींषि । यतो हि—

—"न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः ।
तमेवभान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति" ॥ कठ० २।५।

अत्र "तमेव भान्तमनुभाति सर्वम्,, इत्युक्त्या सूर्य्यचन्द्राग्निविद्युन्नक्षत्राणां—अवरज्योतिष्ट्वं (भूतज्योतिष्ट्वं) स्पष्टमभिव्यज्यते । तदिदं तृतीयमर्वाक् मण्डलम् । हिरण्मयमाण्डं सूहृदयत्वात् सत्यम् । तत्र मर्त्यामृतभेदभिन्नस्योभयविधस्याग्नेः समावेशाद् भौतिकाग्निरेषः ।

"निवेशयन्नमृतं मर्त्यंच" यजु ३३।४३। इत्यादिना तथैवागमात्"

उभयोरन्तराले त्विदं सौम्यज्योतिः । सोम एव सः । तथा च श्रुयते—

"द्वयं वा इदं न तृतीयमस्ति शुष्कं चैवार्द्रं च ।
यच्छुष्कं तदाग्नेयम् । यदार्द्रं तत्सौम्यम् । शत० १।६।२।२३।

सर्वाकाशपरिव्यापी चायं सोमो ज्योतिष्मान्—

"त्वमाततन्थोर्वन्तरिक्षं त्वं ज्योतिषा वि तमो ववर्थ" इति श्रवणात् । अपि च—
महत्तत् सोमो महिषश्चकार अपां यद् गर्भेऽवृणीत देवान्"
अदधादिन्द्रे पवमान ओजोऽजनयत् सूर्य्ये ज्योतिरिन्दुः ॥ऋ० ७।४।१६।

अस्मिन्मन्त्रे इन्दुरेषपवमानः सोमाः, सूर्य्ये ज्योतिः, इन्द्रे त्वोजोऽजनयदित्युक्तं । तेनैषसोमो ज्योतिषां ज्योतिरित्यायातम् तदिदं सौम्यज्योतिरच्छालक्षणं मनो ब्रह्म । तस्यैतस्य मनसो ज्योतिषां ज्योतिष्ट्वंश्रूयते—

"ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु" इति ।

तस्यैतस्य सोमस्य—"अस्ति वै चतुर्थो देवलोक आपः" अपां गर्भेऽवृणीत देवान्" इत्युक्त्या तृतीयस्या दिवि स्थानं विज्ञायते । स चैष ऋतरूप आपोमयः परमेष्ठी प्रजापतिः—"ऋतमेव परमेष्ठीत्युक्तत्वात् । तत्रैव च गोसवयज्ञापरपर्य्याये गोलोकधाम्नि कृष्णस्यास्यपरमेष्ठिनो निवासः श्रूयते—

"स एष गोसवः स्वाराज्यो यज्ञः । प्रजापति र्हि स्वाराज्यम् ।
परमेष्ठी स्वाराज्यम् । उभे वृहद्रथन्तरे भवतः । तद्धि स्वाराज्यम् सर्वः
षट्त्रिंशः । तेन गोसवः" ता० ब्रा० १६।१३।

स चैव आपोमयः परमेष्ठी प्रजापतिः कृष्ण एव भवितुमर्हति ।
"असौ वा आदित्य एकविंशः" तत ऊर्ध्वं पृथिव्या द्वाविंशस्तोमादारभ्य षट्त्रिंशस्तोमपर्यन्ते प्रदेश गोसवयज्ञे गवानामेवायतनमस्तीति "स एष गोसवः स्वाराज्यो यज्ञः" इति श्रुत्याभिव्यज्यते। तत्रत्येयं गवां सतिः। गोलोकवासी गोविन्दस्तस्मात् सोमवंशीयः। स एवासुरभारेण भारायमाणां पृथ्वीं धर्मग्लानिं च लोके दृष्ट्वा दुष्टानां दमनाय, धर्म्मसंरक्षणाय, शान्तिस्थापनाय च पृथिव्यामवतीर्णः ॥ तथा चोक्तम्--

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥ इति ॥ (गीता)

भूलोकेऽप्यवतरन् स गोविन्दः प्राजापत्ये मानवे संस्कृते सोमवंश एव वसुदेवगृहे जन्म लेभे इति बहुभिः परिकरैः पूर्वं व्याख्यातम् ।
अतश्च दिव्यकृष्णवदयं गोकुलवासी वासुदेवकृष्णोऽपि सोमवंशज एव । तथा चोक्तं भगवता श्रीकृष्णेन स्वयमेव--

"कस्त्वमित्याह सोऽप्याह जातोऽहं शशिनः कुले ।
वसुदेवस्य तनयो यदुवंशसमुद्भवः ॥१॥ इति । विष्णु पु० अ० ५।२३ श्लो०

इति सोमवंश्यत्वम् ।

४—व्रजधामत्वम्।

मन्त्रश्छन्दोभाषायाम्।

"तावां वास्तून्युश्मसि गमध्यै यत्र गावो भूरिशृङ्गा अयासः।
अत्राह तदुरुगायस्य वृष्णः परमं पदमवभाति भूरि॥ ऋ० १।१५४।६।

अस्य भाषान्तरीकरणं भारत्यां भाषायाम्

तानि युवयोः स्थानानि वाञ्छामो गन्तुं यत्र गावो बहुशृङ्गाः संचरन्ति॥
अत्र खलु तन्महायशसो विष्णोः परमं धाम विद्योतते बहु॥

अन्वयः—

युवयोर्गन्तुं तानि स्थानानि वाञ्छामः—यत्र बहुशृङ्गा गावः संचरन्ति॥
एष्वेव स्थानेषु महायशसो विष्णोः तत् परमं धाम बहु विद्योतते॥

"व्रजं गच्छ गोष्ठानम्" इति यजुःश्रुत्या गोबहुलप्रदेशे व्रजशब्दो रूढः॥ पारमेष्ठ्य स्त्वपां लोको गवामुत्पत्तिस्थानं श्रूयते। सामवेदे तस्य गोसवयज्ञायतनत्वेनावधारितत्वात्॥ तथा हि—श्रूयते—"अथैष गोसवः स्वाराज्यो यज्ञः।" प्रजापतिर्हि स्वाराज्यम्। परमेष्ठी स्वाराज्यम्। उभे बृहद्रथन्तरे भवतः। तद्धि स्वाराज्यम्॥ सर्वः षट्त्रिंशः। तेन गोसवः" इति तां० ब्रा० १६।१३। आपो ह्येताः सुब्रह्मण्याः सहस्रधा परिच्छिद्यमाना गोशब्देन संज्ञायन्ते सहस्रं हि गावस्तत्रैतं गोविन्दं गोपालं भगवन्तं विष्णुमनुव्रजन्ति। "उदयं तमस्य रजसः पराके"—(.........) इति हि श्रुतिरस्य विष्णो दिव ऊर्ध्वं निवासमाह। एकविंशो हि स्तोमो दिवः संस्था। तत ऊर्ध्वं द्वाविंशस्तोमारब्धे षट्त्रिंशपर्यन्ते स्वाराज्यसंज्ञके गोसवयज्ञे पञ्चदशाहेऽस्य विष्णोर्गोविन्दस्य स्थानं प्राप्नोति। तस्मिंश्च गोलोके मध्यमोऽयमूनत्रिंश-स्तोमः पारमेष्ठ्यं परमं धामोपपद्यते। तत्रैष परमेष्ठी भगवान् हंसो विराजते इति विद्यात्॥

आपोमयः परमेष्ठी प्रजापतिरद्भ्यः सहस्रं गा जनयित्वा ताभिरास्मानमावृणुते सूर्य्यं च पृथ्वीं च। अत एव। यथा पारमेष्ठ्यमण्डले (–) इडा गौ (–) ऊर्मिरिति धर्मा विद्यन्ते एवमेवामुष्मिन् सूर्य्यमण्डले ज्योतिर्गौः (–) आयुरिति, पृथ्वीमण्डले तु वाग् गौः द्यौरित्येते त्रयो धर्म्मा उपपद्यन्ते। गोभिरविनाकृता हीमे पारमेष्ठ्य (–) परमालोकाः। प्राण्, विराड्, गौः इडा, भोगाः, इति पञ्चविधा जातयो गवामासां प्रज्ञाविज्ञाते व्याख्याताः। तासां च त्रय-स्त्रिंशानि त्रीणिशतानि वसुभ्यः, स्तावत्यो रुद्रेभ्यः, स्तावत्यो एवादित्येभ्यो विनियुज्यन्ते। अथ यैकाऽवशिष्यते सा सहस्रतमी कामगवी प्राजापत्या भवति। आसु च तत्तल्लोकप-रिव्याप्तासु सहस्रमितासु गोषु त्रिंशता त्रिंशता एकैकमहर्भवति। इत्थं त्रयस्त्रिंशदहां षड्भिः षड्भि(–) र्व्यवच्छेदादेष वषट्कारः संपद्यते॥ तदिदं व्रजं नामोपपद्यते गोष्ठानत्वात्। तत्रैष भगवान् विष्णुर्यज्ञात्मा प्रतितिष्ठति। तथा चाहुरभियुक्ताः—

"चतुर्भिश्च चतुर्भिश्च द्वाभ्यां पञ्चभिरेव च।
हूयते च पुनर्द्वाभ्यां तस्मै यज्ञात्मने नमः" ॥ इति ॥

सप्तदशोऽयं प्रजापतिः प्रजहृदयदृष्ट्या त्रयस्त्रिंशद्रूपो वषट्कारो भवति तेनास्य व्रजनिकेतनत्वं विज्ञातं भवति॥ अथैतस्य मानुषकृष्णस्य गोकुलगोवर्द्धनादिप्रदेशायतनस्य व्रजवासित्वं सुप्रसिद्धमेवास्तीति सिद्धमनयोर्व्रजनिकेतनत्वेनापि साम्यम्॥

॥ इति व्रजनिकेतनत्वम्॥

९--अथ द्वादशलक्षणत्वम् ।

परमेष्ठिलक्षणस्याव्ययस्य द्वादशलक्षणत्वं गीतायामुक्तम्—

"गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत् ।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम्" ॥ इति ॥

अथ श्रीकृष्णलक्षणस्याव्ययस्य द्वादशलक्षणत्वं पुराणेषूक्तम्—

"दानं दाक्ष्यं श्रुतं शौर्यं ह्रीः कीर्तिर्बुद्धिरुत्तमा ।
संनतिः श्री धृतिस्तुष्टिः पुष्टिश्च नियताऽच्युते" ॥ इति ॥

क्वचित्तु पुनरन्यथा द्वादशलक्षणत्वं स्मर्य्यते—

"उत्तमेन सुशीलेन शौचेन दमेन च ।
पराक्रमेण वीर्य्येण वपुषा दर्शनेन च ॥
आरोहणप्रमाणेन वीर्य्येणार्जवसम्पदा ।
आनृशंस्येन रूपेण बलेन च समन्वितः" ॥ इति ॥

इति द्वादशलक्षणत्वम् ।

९--अथ लोकचतुष्टयसञ्चारित्वम् ।

एष खलु परमेष्ठ्यवस्थायामीश्वरभावे पृथिव्यामन्तरिक्षे दिवि दिवः पृष्ठे च समुद्रे गोलोकधाम्नि विहरन् लोकचतुष्टये प्रतितिष्ठति । एवमेव स पुनर्मानुषे भावेऽप्यधिष्ठानचतुष्टयमध्यतिष्ठत् । *१प्रथमे तावदवकाशे पृथिव्यामिव संकीर्णतमायां भूमौ कारागारप्रदेशे गृहीतजन्मा, स द्वितीयावकाशे गोकुलगोवर्द्धनवृन्दावननन्दग्रामाद्यवकाशबहुलान्तरिक्षे कृतबहुविहारः, स तृतीयावकाशे स्वर्गवैभवप्रायप्रसन्नां मथुराराजधानीं प्रत्याक्रममाणः । क्रमेणान्ततस्तुरीयावकाशे समुद्रप्रायं पारमेष्ठ्यं परमधामवदमूं समुद्रप्रायां द्वारकां नाम राजधानीमाससाद । तत्रैतेषां मानुषे भावे जीवाव्ययसंबन्धेन प्रतिपन्नानां चतुर्णामधिष्ठानानां सुप्रसिद्धतया तानि परित्यज्येदानीमीश्वरभावोपपन्नानां चतुर्णामधिष्ठानानां सम्बन्धेनैतमीश्वराव्ययं श्रीकृष्णमनुपदमेव प्रदर्शयिष्यामः ॥

दिव्यकृष्णस्य तावत् ।

१ पृथिव्याम्—अन्तःप्रविष्टः सीमिततास्थान　　प्रथमः संचारः
२ अन्तरिक्षे 'चन्द्रनिकेते' विहारस्थाने वायौ　　द्वितीयः संचारः
३ दिवि—दिव्यलोके स्वर्गस्थाने　　तृतीयः संचारः
४ दिवः पृष्ठे सामुद्रे गोलोकधाम्ने　　चतुर्थः संचारः

* १ (भगवतोर्मानुषकृष्णस्यपुनः)

१ मथुराकारागारे पृथिव्याम्　　प्रथमः संचारः
२ गोकुलगोवर्द्धनवृन्दावननन्दग्रामादिष्वन्तरिक्षे　　द्वितीयः संचारः
३ मथुराराजधान्यां स्वर्गसदृशे　　तृतीयः संचारः
४ द्वारकायां सामुद्रे परमधाम्नि　　चतुर्थः संचारः

७--अथ वेदगोब्राह्मणमहिमोद्भावकत्वमुभयोर्वृत्तिः ।

यथा खल्वयं चन्द्रः पृथ्वीमनु परिक्रमते । यथा वेयं पृथ्वी स्वर्लोकाधिष्ठातारं सूर्य्यमनु परिक्रमते तथैवायं सूर्य्यः कश्चिदन्यं जनल्लोकाधिष्ठातृभूतमापोमयं परमेष्ठिमण्डलमनु केचित् कालेन परिक्रमते । परमेष्ठी चासौ सत्यलोकाधिष्ठातृभूतं स्वयम्भुमण्डलमनु महता कालेन परिक्रमते । ॥ १ ॥

अथ यथा रेतः श्रद्धा, यश इति चन्द्रमण्डले; वाग्, गौः, द्यौरिति पृथ्वीमण्डले; ज्योतिः गौः आयुरिति सूर्य्यमण्डले, इडा, गौः ऊर्गिति परमेष्ठिमण्डले त्रयस्त्रयो भावाः प्रवर्त्तन्ते । एवमेवामुस्मिन् स्वयम्भूमण्डले वेदाः, अभ्वं, नियतिश्चेति सत्याः स्वयंभुवो भावा विज्ञायन्ते तत्रैते ऋक्सामयजूंषीति त्रयो वेदाः स्वयम्भुवो ब्रह्मणो महिमानं मण्डलमयं जनयन्तः परिश्रयन्ते । तदन्तरतश्चायं प्रतितिष्ठन् परमेष्ठी अग्निकृतामन्नादमयी वेदमर्य्यादामनुल्लङ्घयन् सोमकृतामन्नमयीं सर्वलोकमर्य्यादां, ब्रह्म कृतां वाङ्मयीं गोसाहस्रीं चानुवर्त्तयति । अथैतस्यामेव मर्य्यादायामन्तरतो वाङ्मयीं दैवीं भौतीं च प्रजां जनयति ।

अपि चैष भगवान् परमेष्ठी कृष्णः पृथिव्यामवतीर्णः पृथ्वीसंबन्धिन्या दिवःपृष्ठेऽष्टाचत्वारिंशत्स्तोमस्य पृथ्वीवषट्कारस्य द्वाविंशस्तोमादूर्ध्वमाषट्त्रिंशतः स्तोममूनत्रिंशत स्तोममध्यं पञ्चदशाहं स्वाराज्ययज्ञापरपर्य्यायं गोसवयज्ञं नाम गोलोकधामाधितिष्ठति । स एष गोसवो यज्ञः सामवेदब्राह्मणे श्रूयते "अथैष गोसवः स्वाराज्यो यज्ञः । प्रजापति र्हि स्वाराज्यम् । परमेष्ठी स्वाराज्यम् । उभे बृहद्रथन्तरे भवतः । तद्धि स्वाराज्यम् । सर्वः षट्त्रिंशः तेन गोसवः" इति । तां० ब्रा० १९। १३॥ तथा चैष भगवान् परमेष्ठी सोमघनः सर्वतो दिशं सोमं संचारयन् बृहद्रथन्तरयोरग्न्योरविरामेणाजुहोतीति स स्वाराज्ययज्ञो भवति । पृथिव्या विंशस्तोमादारभ्य षट्त्रिंशस्तोमपर्य्यन्तः प्रदेशस्तस्यायतनं विज्ञायते । एतस्माच्च गोसवाविधानात् स्वाराज्ययज्ञात् सर्वलोकसमृद्ध्यौपयिकसर्वरसप्रसवित्रीः वाग्[1], विराड्[2], गौः[3], इडा[4] भोगाः[5] इति पञ्चविधाः सहस्रिया गा जनयित्वा सर्वलोकाभ्युदयाय द्यावापृथिव्योः सर्वत्रो प्रयोजयामास । अतएव चायं गोलोकाधिष्ठाता गोविन्दो गोपाल इत्येवमादिशब्दैरभिष्टूयते ॥ ३ ॥

अपि चैष स्वमण्डलाभ्यन्तरे ब्रह्मवीर्य्योद्भावकं बृहस्पतिं, ब्रह्मणस्पतिं वाचस्पतिं, विमानलोकं चाभिव्याप्नुवन्तेषु सर्ववीर्य्योत्कृष्टतमं ब्रह्मवीर्य्यं जनयन् ब्राह्मणान् वर्चस्विनः करोतीति लोकस्थितिः ॥ ब्रह्मपरमाभ्यामेव तु क्षत्रविड्भ्यां वीर्याभ्यां लोके शान्तिस्वस्त्ययनं संपादयति ॥ तमेतमर्थं ब्रह्मविज्ञाने विस्तरतो व्याख्यातमनु भावयेत् ॥ ४॥

आपोमयः परमेष्ठी प्रजापतिरद्भ्यः सहस्रं गा जनयित्वा ताभिरात्मानमावृणुते, सूर्य्यं[1] च पृथ्वीं च चन्द्रं च । तासां त्रयस्त्रिंशानि[333] त्रीणि शतानि वसुभ्यः, तावत्यो[333] रुद्रेभ्यः, तावत्य[333]

आदित्येभ्यो विनियुज्यन्ते । अथ यैकाऽवशिष्यते सा सहस्रिया काम्यगवी प्राजापत्या भवति आसु च सर्वलोकपरिव्याप्तासु सहस्रमितासु गोषु, त्रिंशता त्रिंशता एकैकमहर्भवति । तदित्थं त्रयस्त्रिंशदह्नां षड्भिः षड्भिर्व्यवच्छेदादेकैको वषट्कारः संपद्यते । तत्र विश्वं प्रतिष्ठितम् ॥ स एष गोकुलसंवाहको भगवान् कृष्णस्तासामेव गवां रसैर्विश्वं बिभर्तीति भगवान् वेदपुरुषः प्राह ॥

तथा चैष भगवानोमोमयः परमेष्ठी गोकुलसंवाहकत्वाद् ब्रह्मवीर्यप्रवर्तकत्वाच्चैतस्मिन् लोके गोसंघं च भूयो भूयः परिवर्हयति स्म ॥५॥

अपि चैष परमेष्ठी भगवानीश्वरात्मानुगृहीतमहर्षिवचनद्वारा वेदमन्त्रेषु भूयसा गवां ब्राह्मणानां च माहात्म्यं प्रचारयामास ।

तद्यथा—

"माता रुद्राणां दुहिता वसूनां स्वसाऽऽदित्यानाममृतस्य नाभिः ।
प्र नु वोचं चिकितुषे जनाय मा गामनागामदितिं वधिष्ट ॥ ऋ. ८।१०।१५।
वचोविदं वाचमुदीरयन्तीं विश्वाभिर्धीभिरुपतिष्ठमानाम् ।
देवीं देवेभ्यः पर्येयुषीं मा गामावृक्त मर्त्यो दभ्रचेताः ॥ ऋ. ८।१०।१६।
अजस्रमिन्दुमरुषं भुरण्युमग्निमीडे पूर्वचित्तिं नमोभिः ।
स पर्वभिर्ऋतुशः कल्पमानो गां मा हिंसीरदितिं विराजम् ॥ यजुः १३।४३॥
सूयवसाद् भगवती हि भूया अथो वयं भगवन्तः स्याम ।
अद्धि तृणमघ्न्ये विश्वदानीं पिब शुद्धमुदकमाचरन्ती" ॥ ऋ. १।१६४।४०। इति

---

१ या गौः रुद्राणां-रुद्रपुत्राणां मरुतां-माता, वसूनां पुत्री, आदित्यानां भगिनी, अमृतस्य पयसः स्थानम् । तामनपराधाम् । अदीनां गां मा वधीष्ट-इति चेतनावते लोकाय, अहं प्रावोचम् ।

२ दभ्रचेताः-मर्त्यः, अल्पबुद्धिः-मनुष्यः । वचसो लम्भयित्रीं, वाचं वदन्तीं सर्वाभिर्वाग्भिरुपतिष्ठमानाम् । देवेभ्यो माम्, पर्युषीमवगच्छन्तीं गां देवीं पर्यावृक्त परिवर्जयति ।

३ अनुपक्षीणम् । ऐश्वर्यवन्तम् । अरुषम् । अन्नं भर्तारं पोषकं, पूर्वैर्महर्षिभिश्चेतव्यमग्निं स्तौमि । हे अग्ने ! ऋतुविभागेन पर्वभिः कल्पमानस्त्वं विराजं दशवीर्याम् अदीनां गां मा हिंसीः ।

४ हे अघ्न्ये ! अहननीये, गौः शोभनतृणभोक्त्री सती त्वं भगवती भूयाः । त्वत् प्रसादाद् वयं च भगवन्तः स्याम । यथेच्छं सर्वत्र चरन्ती सती सर्वदा तृणं भुङ्क्ष्व । शुद्धं जलं पिब ।

"नैता ते देवा अददुस्तुभ्यं नृपते अत्तवे ।
मा ब्राह्मणस्य राजन्य गां जिघत्सो अनाद्याम् ॥ अथर्व० ४।१८।१॥
"ब्रह्मगवी पच्यमाना यावत्साभि विजङ्गहे ।
तेजो राष्ट्रस्य निर्हन्ति न वीरो जायते वृषा ॥ अथर्व० ५।१९।४॥
गावो भगो गाव इन्द्रो मे ऽ इच्छाद् गावः सोमस्य प्रथमस्य भक्षः ।
इमा या गावः स जनास इन्द्र इच्छामीद्धृदा मनसा चिदिन्द्रम् ॥ तै० ब्रा० २।८।८
यूयं गावो मेदयथा कृशाञ्चित्, अश्लीलं चित् कृणुथा सुप्रतीकम् ।
भद्रं गृहं कृणुथ भद्रवाचो, बृहद्वो वय उच्यते सभासु ॥ तै० ब्रा० २।८।८
प्रजावती 'सूर्यवसे रुशन्तीः' शुद्धा अपः सुप्रपाणे पिबन्तीः ।
मा वः स्तेन ईशत माऽघशंसः परि वो हेती रुद्रस्य वृञ्ज्यात् ॥ २।८।८
उपेदमुपपर्चनमासु गोषूपपृच्यताम् ।
उपर्षभस्य रेतसि उपेन्द्र तव वीर्ये ॥ तै० ब्रा० २।८।८
आप्यायध्वमघ्न्या इन्द्राय भागं प्रजावतीरनमीवा अयक्ष्माः ।
मा व स्तेन ईशत माऽघशंसो ध्रुवा अस्मिन् गोपतौ स्यात बह्वीः ॥ यजुः ।१।१।
भद्रं वा इदमजीजनामहि ये गामजीजनामहि ।
यज्ञो ह्येवेयं नहि ऋते गोर्यज्ञः स्तायते ॥ शत. ।२।२।२॥
महांस्त्वेव गोर्महिमा (यजु० ब्रा० ३।३।६)
अघ्नियामुपसेवताम्" (तै० ब्रा० ३।७।४) ॥६॥

इत्येवं भूयसा गवां महिमा ऽऽख्यायते ॥

अथातो ब्राह्मणमहिमा श्रूयते ।

"यावतीर्वै देवतास्ताः सर्वा वेदविदि ब्राह्मणे वसन्ति ।
एष वा अग्निर्वैश्वानरो यद्ब्राह्मणः, ब्राह्मणं तु वसत्यै नापरुन्ध्यात् ॥ तै० (३।७।३)
"ब्राह्मणो वै सर्वा देवताः, (तै० ब्रा० १।१।४॥)
"ये ऽ र्वाङ् उत वा पुराणे वेदं विद्वांसमभितो वदन्ति ।
आदित्यमेव ते परिवदन्ति सर्वे अग्निं द्वितीयं तृतीयं च हंसम्" ॥ इत्यादिः ॥

तथा च खलु यथा ऽ सौ परमेष्ठिकृष्णो वेदमर्य्यादापरिपालकः सन् गोब्राह्मणान् परिपालयति । एवमेवायं परमेष्ठ्यवतारो मानुषशरीरो योगेश्वरकृष्णोऽप्यत्र वेदमर्य्यादासंरक्षको भूत्वा गोब्राह्मणप्रतिपालनव्रते दीक्षितस्तत्राततरां दृढपरिकर आसीत् । भूयसा चैष गवां ब्राह्मणानां च माहात्म्यं लोके प्रवर्तयामास ।

तथा हि स गोपानादिदेश—

"कर्षुकाणां कृषिर्वृत्तिः पण्यं विपणिजीविनाम् ।
गावोऽस्माकं परावृत्तिरेतत्त्रैविद्यमुच्यते" ॥
"विद्यया यो यया युक्तस्तस्य सा दैवतं परम् ।
गावोऽस्मद्दैवतं विद्धि गोपा गोधनजीविनः" ॥ इति हरिवंशे विष्णुपर्वणि १८।

गवां प्रतिपालकत्वादेवायं गोपालो गोविन्द इति ख्यातो बभूव ॥८॥

अपि चायं श्रीकृष्णः स्वपुत्रं प्रद्युम्नं प्रति भूयसा ब्राह्मणमहिमानमाह स्म ।

"ब्राह्मणप्रतिपूजायामायुः कीर्तिर्यशो बलम् ।
ब्राह्मणा हि महद्भूतमस्मिन् लोके परत्र च ॥
मा ते मन्युर्महाबाहो भवत्वत्र द्विजान् प्रति ।
भस्मकुर्युर्जगदिदं क्रुद्धाः प्रत्यक्षदर्शिनः" ॥ इति ॥

एतेनास्य योगीश्वरकृष्णस्य गोब्राह्मणभक्तत्वं गोब्राह्मणप्रतिपालकत्वं चेतिहासोऽवगम्यते ॥९॥

इति श्रीकृष्णस्य गोब्राह्मणमहिमोद्भावकत्वम् ॥

८—अथ वेदोपस्तुतचरितत्वम् ।

वेदे पुराणे परमेष्ठिकृष्णः सत्यः स्वयम्भू प्रथमावतारः ।
अस्ति स्तुतस्तद्वदयं मनुष्यः कृष्णोऽपि तत्रास्ति चरित्रलक्ष्यः ॥१॥
श्रीकृष्णलीलाचरितप्रसङ्गाभासः कथञ्चित्प्रतिभाति वेदे ।
वैज्ञानिको विद्वदुहाहृतोऽसौ प्रदर्श्यते सम्प्रति मन्त्रवर्गः ॥२॥
यद्यप्यमी सन्ति विशिष्य मन्त्रा अन्यान्यदेवानुगतास्तथापि ।
अन्तर्निगूढो न न भाति तेषु श्रीकृष्णलीलाचरितप्रसङ्गः ॥३॥
तेनेश्वराङ्गाखिलदेवसंघानुरूपचारित्र्यवतो विचित्रम् ।
माहात्म्यमावेदितमस्ति योगीश्वरस्य कृष्णस्य च मानुषस्य ॥४॥

तत्रादौ शकटभङ्गे श्रुतिः—

"पृथू रथो दक्षिणाया अयोज्यैनं देवासो अमृतासो अस्थुः ।
कृष्णादुदस्थादर्य्या विहायाश्चिकित्सन्ती मानुषाय क्षयाय" ऋ० १।१२३।१॥
दक्षिणायाः कुशलाया उषसो, विशालो रथः, अश्वैर्युक्तोऽभूत् ।
तं रथं, अमृता देवा आस्थितवन्तः । अर्य्या श्रेष्ठा, विहाया महती सेयमुषादेवी मनुष्याणां निवासाय तमो निवारयन्ती कृष्णात् नैषतमस उत्थिताऽभूत् ॥ इत्यर्थः ।

अथ कृष्णपक्षे तदुपनयो यथा—सोम उत्तरादिग्' यमो दक्षिणादिगिति सिद्धान्ताद्दक्षिणाया मृत्योर्दिशः पृथूरथ=मृत्युदिक्प्रापणसमर्थो भारवान् शकटविशेषः, अयोजि=अयुज्यत । कृष्णशरीरस्योपरिष्ठात्स्थापित आसीत् । कृष्णसमये सर्वे देवा व्रजस्थानीयगोपरूपेणावतीर्णा आसन् । तथा च—गोपकुलशरीराधिष्ठितास्ते देवा एतं रथं शकटविशेषमातिष्ठन्ते स्म । स रथः शकटविशेषः कृष्णाद्—अधस्थितकृष्णपादतलाघातात्, उदस्थात्=यन्त्रोत्क्षिप्तगोलकवदाकाशे प्रोत्क्षिप्तः पतितोऽभूत् ॥ तथा च अर्य्या रथस्वामिनी यशोदा, यदि वा, अर्य्या वैश्य जातीया गोपप्रजा, विहायाः शकटोद्भेदेन कारणानभिज्ञानादाश्चर्य्येणाकाशोत्क्षिप्तचेताः सती, अनेन शकटोत्पतनकर्म्मणा मानुषाय मानुषस्य बालकस्य, । क्षयाय =विनाशाय । चिकित्सन्ती विचिकित्समाना । संशयवती, अभूत् । कथमनेनोत्पततारथेनायमर्भ बालको न नाशितः । कथं वाऽयं रथो मानुषव्यापारमन्तरणैव निर्वातै स्वयमकारणादुत्पपातेत्येवमादिरूपेण कारणविशेषमपश्यन्ती संदिहानेवातिष्ठत । कृष्णेनैवेदं शकटं पादप्रहारेणोद्भेदितमिति तु नाबुध्यत ॥ इत्यर्थः ॥१॥ उक्तं च—

शकटस्यत्वधः सुप्तं कदाचित्पुत्रगृद्धिनी ।

यशोदा तं समुत्सृज्य जगाम यमुनां नदीम् ॥१॥
शिशुलीलां ततः कुर्वन् स हस्तचरणौ क्षिपन् ।
रुरोद मधुरं कृष्णः पादावूर्ध्वं प्रसारयन् ॥२॥
स तत्रैकेन पादेन शकटं पर्य्यवर्तयत् ।
एतस्मिन्नन्तरे प्राप्ता यशोदा शीघ्रगामिनी ॥३॥
सा ददर्श विपर्य्यस्तं शकटं वायुना विना ।
हाहेति कृत्वा त्वरिता दारकं जगृहे तदा ॥४॥
एतस्मिन्नन्तरे गोभिराजगाम वनेचरः ।
काषायवाससी बिभ्रन् नन्दगोपो व्रजान्तिकम् ॥५॥
स ददर्श विपर्य्यस्तं भिन्नभाण्डघटीघटम् ।
अपास्तधूर्विभिन्नाक्षं शकटं चक्रमौलिनम् ॥६॥
भूमौ त्रस्तः पिता केन पर्य्यस्तं शकटं महत् ।
यशोदाह न जानामि केनेदं परिवर्तितम् ॥७॥
तयोः कथयतोरेवमब्रुवंस्तत्र दारकाः ।
अनेन शिशुना यानमेतत्पादेन लोडितम् ॥८॥
अस्माभिः समापतद्भिश्च दृष्टमेतद्यदृच्छया ।
नन्दगोपस्तु तच्छ्रुत्वा विस्मयं परमं ययौ ॥९॥
न च ते श्रद्दधुर्गोपाः सर्वे मानुषबुद्धयः ॥
स्वे स्थाने शकटं स्थाप्य चक्रबन्धमकारयन् ॥१०॥ इति ॥

"इषिरा पक्षिणी न दभात्यस्मानाष्ट्र्यां पदं कृणुते अग्निधाने ।
शं नो गोभ्यश्च पुरुषेभ्यश्चास्तु मा नो हिंसीदिह देवाः कपोतः" । ऋ० मं० १० सू० १६५।३।

अथाह—पक्षिणी पक्षोपेता, हेति हननहेतुः कपोतः, अस्मान् न दभाति न हिनस्तु । आष्ट्र्यां व्याप्तायामरण्यमन्यामग्निमत्प्रदेशे च स्थानं करोतु । तत्रैव निवसतु । अथवाऽऽष्ट्र्यां पाकशालायामग्निस्थाने पादनिधानं करोति, तन्निमित्तमनिष्टमस्मात्र न भवतु इति । अपि चास्माकं पशुभ्यः पुरुषेभ्यः शान्तिरस्तु । हे देवा, इह गृहे, कपोतोऽस्मान् मा हिंसीत् युष्मदनुग्रहात् मा बाधतामित्यर्थः ।

अथ कृष्णपक्षे—गोपकुलाधिष्ठिता देवविशेषाः सुगुप्तमपि कंसदुश्चरितं पश्यन्तः परस्परमूचुः । हे देवाः ! कंसभोजस्य शत्रुनिरसनार्थमायुधीकर्षपक्षेपेय पक्षिणी पूतना शकुनिः, अस्मान् व्रजस्थान गोपवेशान् न दभाति नाभिभवितुं शक्नोति । प्रत्युत, एषा पूतना शकुनिः,

आष्टूर्यां शत्रुविनाशयित्र्यां कृष्णतन्वाम्, अग्निधाने निमित्ते शिशोः कृष्णस्य जाठरमग्निं स्तनदानेन तर्पयितुं पदं स्थानं, करोति । कृष्णं स्तनं पाययितुं स्वमृत्युरूपां कृष्णतनुं स्पृशति स्म । हे देवाः ! एष कपोतः पूतनाया: पक्षिण्याः स्वामिरूपो दुष्टपक्षी चायं कंसो नास्मान् हिंस्यात् । इत्यर्थः । पूतनाया बकपक्षिणीत्वमुक्तं हरिवंशे विष्णुपर्वणि—

"कस्यचित्त्वथ कालस्य शकुनीवेषधारिणी
धात्री कंसस्य भोजस्य पूतनेति परिश्रुता ॥१॥ (श्लो० अ० १७)
पूतना नाम शकुनी घोरा प्राणिभयंकरी ।
आजगामार्द्धरात्रे वै पक्षौ क्रोधाद् विधुन्वती ॥२॥ (श्लो० अ० २७)
ददौ स्तनं च कृष्णाय तस्मिन् सुप्ते जने निशि ।
छिन्नस्तनी तु सहसा पपात शकुनी भुवि ॥३॥ (२७) इत्यादि ।

यमलार्जुनोद्धारे श्रुतिः—

"यत्र मन्थां विबध्नते रश्मीन् यमितवा इव ।
उलूखलसुतानामवेद्विन्द्र जल्गुलः । ऋ० १।२८।४॥
ता नो अद्य वनस्पती ऋष्वावृष्वेभिः सोतृभिः ।
इन्द्राय मधुमत् सुतम्" ॥ ऋ० १।२८।८॥

अथाह रश्मीन्=अश्वबन्धनार्थं प्रग्रहान् नियन्तुमिव यस्मिन् कर्म्मणि, मन्थाम् =आक्षीरमथनहेतुं, मन्थानं विबध्नन्ति । तस्मिन् कर्म्मणि उलूखलेनाभिषुतानां रसम्, अवेत स्वकीयत्वेनावगत्यैव, जल्गुलो भक्षय । इत्यर्थः । अद्य=अस्मिन् कर्मणि, हे वनस्पती=उलूखलमुसलौ, ऋष्वौ दर्शनीयौ तौ युवाम्, ऋष्वेभिः दर्शनीयैः सोतृभि रभिषवहेतुभिः सह, इन्द्राय, नो ऽस्मदीयं माधुर्य्योपेतं सोमद्रव्यं, सुतं अभिषुणुतम् ।

अथ कृष्णपक्षे—उलूखले मातृभिर्बद्धः कृष्णो बन्धनमोचनाय कांचित् पुरुषमादिशति। बालक्रीडया, मन्थ=मन्थानमिव लोकक्लेशकरं मां, यमितवा इव=निग्रहीतुमिव, यत्र उलूखले, मातरो रश्मीन् विबध्नते । तेनोलूखलेन सुतानां पीडितानामस्माकम् । हे इन्द्र ! मोचनसमर्थपुरुष । अद्य इदु=स्नेहेन । यतस्त्वं जल्गुलोऽसि । मुञ्चामीति प्रौढ्या जल्पितुम्, मां च गोपितं त्रातुम, लातुम दातुं स्वाधीनं कर्तुञ्च समर्थोऽसि ।

एवं यदा सर्वान् प्रार्थयन्नपि न बन्धनमोक्षणं लभते तदा वनस्पत्योर्वृक्षयोर्यमलार्जुनयोरन्तराले गत्वा बन्धनदामत्रोटितुं यावद्बलं करोति तावद्वनस्पती द्वावोन्मूलितौ दृष्ट्वा वदति । तावेतौ, नो ऽस्माकं व्रजवासिनां, वनस्पती यमलार्जुनौ, युवामद्येन्द्रायेन्द्रं प्रति गन्तुं

सुतम्=उन्मूलनेनात्मानं युवां पीडयतम् । मनुमन्वितत् । अमृतमोक्षप्राप्तिहेतुत्वात् । अपि च स्थावरत्वान्मुक्तौ युवामिदानीम्, ऋष्वेभिर्गतिमद्भिर्जङ्गमजनै रेतैः सोतृभिरस्मद् बन्धनकृद्भिः सममेव ऋष्वौ गतिमन्तौ जातौ स्थ=भूतौ इत्यर्थः। उक्तं च हरिवंशे विष्णु पर्वणि नवमाध्याये—

तौ तत्र पर्य्यधावेतां कुमाराविव पावकौ ।
जलं जं विप्रकुर्वाणौ विहसन्तौ क्वचित् क्वचित् ॥१॥
अतिप्रसक्तौ तौ दृष्ट्वा सर्वव्रजविचारिणौ ।
नाशक्नुतां वारयितुं नन्दगोपः सुदुर्दमौ ॥२॥
ततो यशोदा संक्रुद्धा कृष्णं कमललोचनम् ।
आनाय्य शकटीमूले भर्त्सयन्ती पुनः पुनः ॥३॥
दाम्ना चैवोदरे बध्वा प्रत्यबन्धदुलूखले ।
यदि शक्नोषि गच्छेति तमुक्त्वा कर्म साऽकरोत् ॥४॥
शिशुलीलां ततः कुर्वन् कृष्णो विस्मापयन् व्रजम् ।
सोऽङ्गणान्निः सृतः कृष्णः कर्षमाण उलूखलम् ॥५॥
यमलाभ्यां प्रवृद्धाभ्यामर्जुनाभ्यां चरन् वने ।
निश्चक्राम तयोर्मध्यान् कर्षमाण उलूखलम् ॥६॥
तत्तस्य कर्षतो बद्धं तिर्य्यग्गतमुलूखलम् ।
लग्नं ताभ्यां समूलाभ्यामर्जुनाभ्यां चकर्ष च ॥७॥
तावर्जुनौ कृष्यमाणौ तेन बालेन रंहसा ।
समूलविटपौ भग्नौ स तु मध्ये जहास वै ॥८॥
यमुनातीरमार्गस्था गोप्यस्तं ददृशुः शिशुम् ।
क्रन्दन्त्यो विस्मयन्त्यश्च यशोदां ययुरङ्गनाः ॥९॥
यौ तावर्जुनवृक्षौ तु व्रजे सत्योपयाचनौ ।
पुत्रस्योपरि तावेतौ पतितौ ते महीरुहौ ॥१०॥
सा भीता सहसोत्थाय हाहाकारं प्रकुर्वती ।
तं देशमगमद्यत्र पतितौ तावुभौ द्रुमौ ॥११॥
सा ददर्श तयोर्मध्ये द्रुमयोरात्मजं शिशुम् ।
दाम्ना निबद्धमुदरे कर्षमाणमुलूखलम् ॥१२॥
पर्य्यगच्छन्त ते द्रष्टुं गोपेषु महदद्भुतम् ।
जजल्पुस्ते यथा कामं गोपा वनविचारिणः ॥१३॥
विना वातं विना वर्षं विद्युत्प्रपतनं विना ।

विना हस्तिकृतं दोषं केनेमौ पातितौ द्रुमौ ॥१४॥
नन्दगोपस्तु सहसा मुक्त्वा कृष्णमुलूखलात् ।
निवेश्य चाङ्के सुचिरं मृतं पुनरिवागतम् ॥१५॥ इति ।

तृणावर्तवधे श्रुतिः—

"साकं यक्ष्म प्र पत चाषेण किकिदीविना ।
साकं वातस्य ध्राज्या साकं नश्य निहाकया" । ऋ० १०।९७।१३।

अथवा—हे यक्ष्म व्याधे ! त्वं चाषेण पक्षिणा, किकिदीविना पक्षिणा, वातस्य वायोः, ध्राज्या वेगेन च साकं समं, प्रपत निर्गच्छ । निहाकयाः गोधिकया, साकम् सह, नश्य नाशं प्राप्नुहि । अपि वा । 'चाषेण' स्थाने 'श्येनेने' ति पाठस्तैत्तिरीयके दृश्यते । श्येनवत् तीव्रत्वात् पित्तजन्यो रोगः श्येनः । अथ श्लेष्मावरुद्धकण्ठजन्यध्वनेरनुकरणं किकिशब्दस्तेन दीव्यति व्यवहरति यः श्लेष्मजन्यो रोगः स किकिदीविः । अथ वातस्य ध्राजिर्विकृतिप्रवाहो वातरोगः । तेन तेन साकमुत्पन्न स्त्वं प्रपत नष्टो भव । अथ यया वा पीडया निहितो 'हा' इति शब्दं करोति सा निहाका । तया सह नष्टो भवेत्यर्थः ।

अथ कृष्णपक्षे—देवास्तृणावर्तमसुरं प्रत्यूचुः । खेचरत्वेन यक्षं पूज्यमिवात्मानं मनुते मिमीते तोलयति वा यक्ष्मो राक्षसः । हे यक्ष्म ! तृणावर्त ! किकिदीविना क्रीडापरायणेन चाषेण नीलकण्ठपक्षिवद्वर्णेन श्रीकृष्णेन सह त्वं भूमौ प्रपत । अथवा वा धूलिवात्यारूपया वायुगत्या सह प्रपत । अथ निहाकया पारतन्त्र्येनात्युग्रंनिपतनगत्या सहैव नश्य नाशं प्राप्नुहि । निपाते साहित्यं ननु नाशे । कृष्णेन निरस्तितः सदैव पतितस्त्वं नश्येत्यर्थः । तथा चोक्तं—

दैत्यो नाम्ना तृणावर्तः कंसभृत्यः प्रणोदितः ।
चक्रवातस्वरूपेण जहारासीनमर्भकम् ॥१॥
गोकुलं सर्वं मावृण्वन् मुष्णं श्चक्षूंषि रेणुभिः
ईरयन् सु महाघोरशब्देन प्रदिशो दिशः ॥२॥
मुहूर्तमभवद्गोष्ठं रजसा तमसावृतम् ।
सुतं यशोदा नापश्यत् तस्मिन्न्यस्तवती यतः ॥३॥
नापश्यत् कश्चनात्मानं परं चापि विमोहिताः ।
तृणावर्तनिसृष्टाभिः शर्कराभिरुपद्रुताः ॥४॥
इति खरपवनचक्रपांसुवर्षे सुतपदवीमबलाऽविलक्ष्य माता ॥

अतिकरुणमनुस्मरं(?)यशोदा(?) भुवि पतिता मृतवत्सका यथा गौः ॥५॥
रुदितमनु निशम्य तत्र गोप्यो भृशमनुतप्तधियोऽश्रुपूर्णमुख्यः ॥
रुरुदुरनुपलभ्य नंदसूनुं पवन उपारतपांसुवर्षवेगे ॥६॥
तृणावर्तः शान्तरयो वात्यारूपधरो हरन् ।
कृष्णं नभोगतो गन्तुं नाशक्नोद् भूरिभारभृत् ॥७॥
तमश्मानं मन्यमान आत्मनो गुरुमत्तया ।
गले गृहीत उत्स्रष्टुं नाशक्नोदद्भुतार्भकम् ॥८॥
गलग्रहणनिश्चेष्टो दैत्यो निर्गतलोचनः ॥
अव्यक्तरावो न्यपतत् सह बालो व्यसुर्व्रजे ॥९॥
तमन्तरिक्षात् पतितं शिलायां विशीर्णसर्वावयवं करालम् ॥
पुरं यथा रुद्रशरेण विद्धं स्त्रियो रुदन्त्यो ददृशुः समेताः ॥१०॥
आदाय मात्रे प्रतिहृत्य विस्मिताः कृष्णं च तस्योरसि लम्बमानम् ॥
तं स्वस्तिमन्तं पुरुषादनीतं विहायसा मृत्युमुखात् प्रमुक्तम् ॥११॥
भा० द० पू० अ० ८-२०-३० तक ।

व्रजे वृकोपद्रवे श्रुतिः—

"सुदेवो अद्य प्रपतेदनावृत् परावतं परमां गन्तवा उ ।
अधा शयीत निर्ऋते रुपस्थेऽधैनं वृका रभसासो अद्युः ऋ० १०।९५।१४

अथ पुरूरवा महाराजः स्वप्राणप्रियामुर्वशीं परित्यज्य गच्छन्तीं प्रत्याह—इदानीं यावत् सुदेवः=उर्वश्या सह विहारप्रवणोऽयमद्य प्रपतेत्=अत्रैव प्रपततु । अथवा अनावरणो निष्कर्म्मा वा परमां परावतं दूरादपि दूरं मृत्युस्थानं गन्तुं प्रपतेत । अधा=अथवा, निर्ऋतेः दारिद्र्यदेवतायाः क्रोडे शेताम् । अधाः=अथवा एनं वृकाः आरण्यश्वानः रभसासो=वेगवन्तः, अद्युः=भक्षयन्तु । इत्यर्थः ।

अथ कृष्णपक्षे—वासुदेव एवाद्यक्षरलोपात् सुदेवः । अथवा कृष्णेन सुस्वामिकोऽयं व्रजः सुदेवः । अनावृदपि अनिरोधकोऽपि वृकैः कृतोपद्रवादस्मात् पूर्वोषितस्थानात् स्थानान्तरं परमां परावतं दूरादपि दूरं निरुपद्रवं वृन्दावनस्थानं गन्तुमद्यैव प्रपतेत् प्रपतेत । अधा-अन्यथा एष व्रजः, निर्ऋतेः दुःखोत्पादकपापदेवतायाः, उपस्थे, क्रोडे-शयीत । अधा=अथवा, एनं व्रजं वृका इमे आरण्यश्वानो वेगवन्तो भक्षयेयुः । उक्तं च बलभद्रं प्रति कृष्णेन—

"आर्य्य नास्मिन् वने शक्यं गोपालैः सह क्रीडितुम् ।

तस्मादन्यं वनं ग्रामः अत्यग्रयवसेन्धनम् ॥१॥
श्रूयते हि वनं रम्यं प्रर्य्याप्ततृणसंस्तरम् ।
नाम्ना वृन्दावनं नाम स्वादुवृक्षफलोदकम् ॥२॥
गिरिं गोवर्द्धनं तत्र भाण्डीरं च वनस्पतिम् ।
कालिन्दीं च नदीं रम्यां द्रक्ष्यावश्चरतः सुखम् ॥३॥
तत्रायं कल्प्यतां घोषस्त्यज्यतां निर्गुणं वनम् ।
संत्रासयावो भद्रं ते किञ्चिदुत्पाद्य कारणम् ॥४॥
एवं कथयतस्तस्य वासुदेवस्य धीमतः ॥
प्रादुर्बभूवुः सहसा सर्वशः शतशो वृकाः ॥५॥
एवं वृकांश्च तान् दृष्ट्वा स घोषोऽमन्त्रयत् तदा ।
स्थाने नेह न नः कार्य्यं व्रजामोऽन्यन्महद्वनम् ॥६॥
अद्यैव किं चिरेण स्म व्रजामः सहगोधनैः ।
वृन्दावनमितः स्थानान्निवेशाय च गम्यताम् ॥७॥
ततः क्रमेण घोषः स प्राप्तो वृन्दावनं वनम् ।
निवेशं विपुलं चक्रे स्वादुमूलफलोदकम् ॥८॥
न तत्र वत्साः सीदन्ति न गावो नेतरे जनाः ।
यत्र तिष्ठति लोकानां भवाय मधुसूदनः ॥९॥" इति ।

कालियाहिदमने श्रुतिः—

"इन्द्रस्य नु वीर्य्याणि प्रवोचं यानि चकार प्रथमानि वज्री ।
अहन्नहिमन्वपस्ततर्द प्र वक्षणा अभिनत् पर्वतानाम् । ऋ० ।१।३२।१।
अहन् वृत्रं वृत्रतरं व्यंसमिन्द्रो वज्रेण महता वधेन ।
स्कन्धांसीव कुलिशेना विवृक्णाहिः शयत उपपृक् पृथिव्याः । ऋ० ।१।३२।५।

वज्री वज्रवानिन्द्रः प्रथमानि प्रकृष्टतमानि, यानि पराक्रमकर्म्माणि चकार तान्यहमवोचम् । अहिं मेघं हतवानित्येकम्; तदनु तत्पश्चात् अपो जलानि भूमौ पातितवानिति द्वितीयम्; पर्वतानां प्रवहणशीला नदीः प्रवाहितवानिति तृतीयम् । इन्द्रः, कुलिशेन कुठारेण, विवृक्णानि विच्छिन्नानि, स्कन्धांसि वृक्षप्रकाण्डानीव, महता वधेन वज्रेण अहन् प्रबलघातकशस्त्रेण, वृत्रतरं वृत्रं लोकानामत्यावरकमन्धकाररूपं वृत्रासुरं, व्यंसं विगतस्कन्धं छिन्नबाहुर्यथा भवति तथा, हतवान् । तथा सति अहिर्वृत्रः पृथिव्या उपपृक् सामीप्येन पृक्तः शेते छिन्नकाष्ठवद् भूमौ पतति ।

अथ कृष्णपक्षे—अपः अनु तर्द्दः। वृत्ततो यमुनाह्रदे प्रपतन् ह्रदजलमनादरेण निराकुलभावेन जिहिंस। ह्रदेऽन्तरतः प्रविशन् अहिं कालियनागं, अहन् व्यापादयत्। पर्वतानां गिरिगह्वरप्रायाणां नागनिलयानां वक्षणाः पक्षकोटीः प्राभिनत्=अत्रोटयत्। पर्वतानां मेघसदृशानां सर्पगात्राणां वा वक्षणाः गात्रसन्धीन् प्राभिनत्। अयमिन्द्रो वज्रपतिः वज्रेण वज्रतुल्येन महता वधेन अलौकिकमहाशस्त्रेण सर्वलोकसाधारणशत्रुत्वाद् वृत्रतरं वृत्रं शत्रुतरं शत्रुं कालियनागं, व्यंसं विस्कन्धं विच्छिन्नजत्रुं नष्टवीर्य्यं कृत्वा, अहन् व्यापादयत्। अयं कालियनागः, पृथिव्या उपपृक् पृथिवीस्थलभागोपप्रान्ते समुद्रे गत्वा शेते। इत्यर्थः। उक्तं च हरिवंशे विष्णु पर्वणि (१४ अ०)

कृष्णः कदम्बशिखराल्लम्बमानो घनाकृतिः।
ह्रदमध्येऽकरोच्छब्दं प्रपतन्नम्बुजेक्षणः ॥१॥
कृष्णेन तत्र पतता क्षुभितो यमुनाह्रदः।
संप्रासिच्यत वेगेन भिद्यमान इवाम्बुदः ॥२॥
तेन शब्देन संक्षुब्धं सर्पस्य भवनं महत्।
उदतिष्ठज्जलात्सर्पो रोषपर्य्याकुलेक्षणः ॥३॥
स चोरगपतिः क्रुद्धो मेघराशिसमप्रभः।
ततो रक्तान्तनयनः कालियः समदृश्यत ॥४॥
तस्य पुत्राश्च दाराश्च भृत्याश्चान्ये महोरगाः।
वमन्तः पावकं घोरं वक्त्रेभ्यो विषसंभवम् ॥५॥
संकर्षणस्तु संक्रुद्धो बभाषे कृष्णमव्ययम।
दम्यतामेष वै क्षिप्रं सर्पराजो विषायुधः ॥६॥
तच्छ्रुत्वा रौहिणेयस्य वाक्यं संज्ञासमीरितम्।
विक्रम्यास्फोटयद्बाहुं भित्वा तन्नागबन्धनम् ॥७॥
सोऽस्य मूर्ध्नि स्थितः कृष्णो ननर्त रुचिराङ्गदः।
मृद्यमानः स कृष्णेन शान्तमूर्द्धा भुजङ्गमः ॥८॥
गृह्य मूर्ध्ना तु चरणौ कृष्णस्योरगपुङ्गवः ॥
पश्यतामेव गोपानां जगामादर्शनं ह्रदात् ॥९।
निर्जिते तु गते सर्पे कृष्णमुत्तीर्य्य धिष्ठितम्
विस्मितास्तुष्टुवुर्गोपाश्चक्रुश्चैव प्रदक्षिणम् ॥१०॥ इति

धेनुकवधे श्रुतिः—

"समिन्द्र गर्दभं मृण नुवन्तं पापयामुया।

आ तू न इन्द्र शंसय गोष्वश्वेषु शुभ्रिषु सहस्रे तुवीमघ" ऋ० ।१।२६।५।

हे इन्द्र, अमुया अनया अस्माभिः श्रूयमाणया, पापया निन्दावाचा, नुवन्तं स्तुवन्तम् अपकीर्तिं प्रकटयन्तं, गर्दभं गर्दभममानशत्रुं; संमृण=मारय । गर्दभमिव श्रोतुमशक्यं परुषशब्दं कुर्वाणं शत्रुं मारय । हे तुवीमघ ! बहुधनेन्द्र ! त्वं गोषु, अश्वेषु, शुभ्रिषु शोभनेषु सहस्रसंख्याकेषु निमित्तभूतेषु नोऽस्मान् आशंसय=प्रशस्तान् कुरु । सत्रूक्तं मम दोषमनपेक्ष्य गवादीन् प्रयच्छेत्यर्थः ।

अथ कृष्णपक्षे—गोवर्द्धनगिरेरुत्तरतो यमुनातीरे रम्यं तालवनं दृष्ट्वा रामकृष्णौ तालफलं गृहीतुं मनो दधाते । तत्तालवनवासी परमदारुणः कश्चिद्गर्दभो राम दन्तैः संदश्य पश्चिमपादाभ्यामुरसि जघान । ततः परिजना गोपाला ऊचुः—हे इन्द्र ! हे व्रजनाथ ! प्रहरन्त्याऽनया पश्चिमया पादवृष्ट्या नुवन्तं प्रहरन्तं गर्दभं, संमृण=मारय । सहस्रेषु चास्माकं गवाश्वादिषु, नोऽस्मान्, आशंसय सुखिनः कुरु । इति । ततो रामस्तौ पश्चिमपादौ गृहीत्वा तं गर्दभं तालमूर्ध्नि चिक्षेप । स भग्नपृष्ठो भूमौ निपतन् गतप्राणोऽभूत् । तदुक्तम् (हरि० वि० प० १५ अ०)

"आजग्मतु स्तौ सहितौ गोधनैः सह गामिनौ ।
गिरिं गोवर्द्धनं रम्यं वसुदेवसुतावुभौ ॥१॥
गोवर्द्धनस्योत्तरतो यमुनातीरमाश्रितम् ।
ददृशाते च तौ वीरौ रम्यं तालवनं महत् ॥२॥
तत्र दामोदरो वाक्यमुवाच वदतां वरः ।
पक्वतालानि संहितौ पातयावो लघुक्रमौ ॥३॥
दामोदरवचः श्रुत्वा रौहिणेयो हसन्निव ।
पातयन् पक्वतालानि चालयामास तांस्तरून् ॥४॥
दारुणो धेनुको नाम दैत्यो गर्दभरूपवान् ।
खरयूथेन महता तद्वनं सेवते वृतः ॥५॥
तालशब्दं स तं श्रुत्वा संघुष्टं फलपातनात् ।
आपतन्नेव ददृशे रौहिणेयमुपस्थितम् ॥६॥
तालानां तमधो दृष्ट्वा सोऽदशद्दशनायुधः ।
जघानोरसि तं पद्भ्यां पश्चिमाभ्यां पराङ्मुखः ॥७॥
ताभ्यामेव स जग्राह तं पद्भ्यामाशु गर्दभम् ।
आवर्जितमुखस्कन्धं प्रेरयंस्तालमूर्द्धनि ॥८॥
स भग्नोरुकटिग्रीवो भग्नपृष्ठो दुराकृतिः ।

खरस्तालफलैः साद्धं पपात धरणीतले ॥९॥
तस्मिन् गर्दभदैत्ये तु सानुगे विनिपातिते ।
चरन्ति स्म सुखं गावस्तत्तालवनमुत्तमम् ॥१०॥ इति ।

प्रलम्बवधे श्रुतिः—

"विष्टम्भो दिवो धरुण पृथिव्या विश्वा उत क्षितयो हस्ते अस्य ।
असत्त उत्सो गृणुते नियुत्वान् मध्वो अंशुः पवत इन्द्रियाय" ऋ० ९।८९।६।

गृहस्य स्कम्भवदयं सोमो द्युलोकस्य विष्टम्भः। पृथिव्या धारकः। अपि सर्वाः प्रजाः, अस्य सोमस्य हस्ते भवन्ति। उत्सः कामानां प्रस्रवणः सोमो, गृणुते स्तुवते तुभ्यं, नियुत्वा-नश्ववान्, असत् भवेत्। मध्वो मधुमान्, अंशुः सोम, इन्द्रियाय, पवते अभिषूयते।

अथ कृष्णपक्षे—भाण्डीरवने रमयते रामकृष्णयोर्वधोद्देश्येन प्रलम्बो नामासुरो मानुषगोपालवेषं कृत्वा क्रीडामण्डले ऽन्तः प्रविवेश। स रामं स्कन्धेनोत्थाप्य पलायमानः प्रवृद्धमहाकायो भूत्वा व्यापादयितुमैच्छत्। ततः कृष्णस्तं राममनन्तनागावतारं तदतुलवीर्य्य-स्मरणादिना स्वरूपप्रत्यभिज्ञानेन प्रतिबोध्य प्रलम्बासुरव्यापादनायान्वादिदेश। कृष्णादेशात-श्चायं रामस्तं प्रलम्बासुरं व्यापादयत्। ततः प्रसन्ना अन्तरिक्षस्था देवाः श्रीकृष्णमभिनन्द-यन्त ऊचुः।

हे सोम ! सोमवंशीय ! सोममयपरमेष्ठिन् वा कृष्ण ! मध्वो मधुवंशयस्य वा, आनन्दरूपिणो ब्रह्मणो वा, तवांशुरंशुरंशभूतोऽयं, पृथिव्या धरुणः शेषनागात्मा रामः, प्रलम्बेनोपसंह्रियमाणोऽपि, ते ऽसत् त्वयान्तर्यामिणा सहैव भवेत्। रामस्य त्वदंशभूतत्वात्। उत्सः उत्सुकोऽयं रामो नियुत्वान् जगतः प्राणवायुरूपी सूत्रात्म सन्, गृणुते त्वद्वाक्यादात्मनः स्वरूपं प्रतिपद्यते। महाशक्तिरहमनन्तोऽस्मीति भावयति। 'विष्टम्भ' इति क्विबन्तस्य द्वितीया बहुवचनम्। तेन दिवो विष्टम्भवान् द्युपर्यन्तमत्युच्छ्रितान् प्रलम्बादीन् इन्द्रियाय पवते। प्रलम्बवधेन स्ववीर्य्यं प्रख्यापयितुमभियुङ्क्ते। तत्र च काले सर्वाः, क्षितयः=असुरक्षयहेतुभूताः शक्तयो हेतयो वा अस्य रामस्य हस्ते भवन्ति। तेनायं रामो मुष्टिमात्रेण प्रलम्बं जघानेत्यर्थः। उक्तं च हरि० वि० प० १६ अ०

"अथ तौ जातहर्षौ तु वसुदेवसुतावुभौ ।
तत्तालवनमुत्सृज्य भाण्डीरवनमागतौ ॥१॥
तयो रमयतोस्तत्र तल्लिप्सुरसुरोत्तमः ।
प्रलम्ब आगमत्तत्र छिद्रान्वेषी तयोस्तदा ॥२॥
गोपालवेषमाधाय वन्यपुष्पविभूषितः ।

लोभयानः स तौ वीरौ हास्यैः क्रीडनकैरपि ॥३॥
हरिणा क्रीडितं नाम बालक्रीडनकं ततः ।
प्रक्रीडितास्तु ते सर्वे द्वौ द्वौ युगपदुद्य तत् ॥४
ते वाहयन्तस्त्वन्योन्यं संहर्षात् सहसा द्रुताः ।
भाण्डीरस्कन्धमुद्दिश्य मर्य्यादां पुनरागमन् ॥५॥
संकर्षणं तु स्कन्धेन शीघ्रमुत्क्षिप्य दानवः ।
द्रुतं जगाम विमुखः सचन्द्र इव तोयदः ॥६॥
ववृधे स महाकायो शक्राक्रान्त इवाम्बुदः ।
रौद्रः शकटचक्राक्षो नामयंश्चरणैर्महीम् ॥७॥
स संदिग्धमिवात्मानं मेने संकर्षणस्तदा ।
तमाह सस्मितं कृष्णः साम्ना हर्षकुलेन च ॥८॥
शिरः खं ते जलं मूर्तिः क्षमा भूर्दहनो मुखम्
वायुर्लोकायुरुच्छ्वासो मनः स्रष्टा ह्यभूत्तव ॥६॥
सहस्रास्यः सहस्राङ्गः सहस्रचरणेक्षणः ।
सहस्रपद्मनाभस्त्वं सहस्रांशुधरोऽरिहा ॥१०॥
यत्त्वया दर्शितं लोके तत् पश्यन्ति दिवौकसः ॥
यत् त्वया नोक्तपूर्वं हि कस्तदन्वेष्टुमर्हति ॥११॥
यद्वेदितव्यं लोकेऽस्मिन् तत् त्वया समुदाहृतम् ।
विदितं यत्तवैकस्य देवा अपि न तद्विदुः ॥१२॥
आत्मजं ते वपुर्व्योम्नि न पश्यन्त्यात्मसंभवम् ।
यत्तु ते कृत्रिमं रूपं तदर्चन्ति दिवौकसः ॥१३॥
देवैर्न दृष्टश्चान्तस्ते तेनानन्त इतिस्मृतः ।
त्वं हि सूक्ष्मो महानेकः सूक्ष्मैरपि दुरासदः ॥१४॥
त्वय्येव जगतः स्तम्भे शाश्वती जगती स्थिता ।
अचला प्राणिनां योनिर्धारयत्यखिलं जगत् ॥१५॥
यथाहमपि लोकानां तथा त्वं तच्च मे मतम् ।
उभावेकशरीरौ स्वो जगदर्थे द्विधाकृतौ ॥१६॥
लोकानां शाश्वतो देवस्त्वं हि शेषः सनातनः ।
आवयोर्देहमात्रेण द्विधेदं धार्य्यते जगत् ॥१७॥
अहं यः स भवानेव यस्त्वं सोऽहं सनातनः
द्वावेव विहितौ ह्यावामेकदेहौ महाबलौ ॥१८॥

तदाऽऽस्से मूढवत् त्वं किं प्राणेन जहि दानवम्।
मूर्ध्नि देवरिपुं देव वज्रकल्पेन मुष्टिना ॥१९॥
कृष्णेन स्मारितस्त्वेवं रौहिणेयः पुरातनम्।
बलेनापूरयत् तदा त्रैलोक्यान्तरचारिणा ॥२०॥
ततः प्रलम्बं दुर्वृत्तं बुबुधे स महाभुजः।
मुष्टिना वज्रकल्पेन मूर्ध्नि चैनं समाहनत् ॥२१॥
तस्योत्तमाङ्गः स्वे काये विकपालं विवेश ह।
जानुभ्यां चाहतः शेते मृतासुर्दानवोत्तमः ॥२२॥
संनिहत्य प्रलम्बन्तु संहत्य बलमात्मनः।
पर्यष्वजत वै कृष्णं रौहिणेयः प्रतापवान् ॥२३॥
बलेनायं हतो दैत्यो बालेनाक्लिष्टकर्मणा।
विवदन्त्यः शरीरिण्यो वाचः सुरसमीरिताः ॥२४॥ इति।

इन्द्रमहपरिवर्ते गिरिमहप्रवर्तने गोवर्द्धनधारणे श्रुतिः—
"आ ग्रावभिरहन्येभिरक्तुभिर्वरिष्ठं वज्रमाजिघर्ति मायिनी ॥
शतं वा यस्य प्रचरन् स्वे दमे संवर्तयन्तो वि च वर्तयन्नहा" ।५।४८।३॥
तमस्य राजा वरुणस्तमश्विना क्रतुं सचन्त मारुतस्य वेधसः।
दाधार दक्षमुत्तममहर्विदं व्रजं च विष्णुः सखिवाँ अपोर्णुते" ।१।१५६।४।

अथाह—अहनि संपादितै रात्रिसंपादितैश्च ग्रावसाध्याभिषवैराहूयते। मायिनि वृत्रे निमित्ते सति, वरिष्ठं वज्रं उरुतरं वज्रं, आजिघर्ति संचालयति। अपि च, यस्य सूर्य्यस्य, शतं रश्मयः, अहानि दिवसानि संवर्तयन्तो विवर्तयन्तश्च स्वे दमे=गृहे आकाशे प्रचरन्ति।

मरुतो देवाः। मारुतस्य देवानुगामिनो वेधसो मेधाविनो यजमानस्य, तं प्रसिद्धं, क्रतुं यागं, राजा वरुणः, सचन्त सेवते। तमश्विनौ, सचन्त संबध्नीतः। अपि चायं, सखिवाँ सखिभिर्युक्तः, विष्णुर्यज्ञः, उत्तमम्=उत्कृष्टम्, अहर्विदम् अहर्लाभं स्वर्गलम्भनं, दक्षं बलं धृतवान्। तथा व्रजं मेघं, वृष्ट्यै अपोर्णुते अपगतावरणं करोति। आहुतिद्वारा यज्ञस्य वृष्ट्युत्पादकत्वात्। इत्यर्थः।

अथ कृष्णोक्ते इन्द्रयागार्थमाहृतैः संभारैः गोवर्द्धनगिरिमखस्य गिरियागं प्रवर्तयति मायिनी कृष्णे, क्रुद्ध इन्द्रो व्रजनाशाय सप्तरात्रं महावृष्टिं चकार। तदेतदुच्यते। आ ग्रावभिरिति अहर्रात्रि स्तोमा इति यास्को उच्यते। गोवर्द्धनगिरौ, आ समन्तात्, ग्रावभिः पाषाणैः, अहन्येभिर्यागार्हैः सद्भिः, क्रुद्धस्य यस्येन्द्रस्य स्वे दमे=स्वगृहे, "वायुर्वेन्द्रो वान्तरिक्षस्थानः" इत्युक्तेरन्तरिक्षे, संवर्तयन्तः संवर्तं प्रलयं कुर्वन्तः सांवर्तकाः मेघाः शतं शतसंख्याताः, प्राचरन्।

अथ, मायिनि मायामनुष्ये श्रीकृष्णे, वरिष्ठं प्रबलं, वज्रं=वज्रवर्ती महावृष्टिमक्तुभीरात्रिभिः सप्तभि, आजिघर्त्ति क्षरति। एवमपि स मायी कृष्णः अहानि यागान्, विवर्त्तयन्=इन्द्रयागविपर्य्ययेण गिरियागं प्रवर्तयन्नेवाभूदित्यर्थः।

अथ मारुतस्य वेधसो मारुतयागं विदधतोऽस्य कृष्णस्य, इन्द्रयागपरिवर्तनेन कृतं तं गिरियागं, राजा वरुणोऽश्विनौ च सचन्त=अन्वमोदन्त। अथ विष्णुः कृष्णः, श्रेष्ठं, दत्तं वृष्टिकृतकष्टनिवारणक्षमम्, अहर्विदं यज्ञयुजं गोवर्द्धनगिरिं, व्रजरक्षार्थं दधार। तेन चायं सखिवान्—गोकुलगोपगणावृतो विष्णुः कृष्णो व्रजमपोर्णुते—आच्छादयन् परित्रायते। इत्यर्थः। उक्तं च – हरि० वि० प० १७-१८ अ०

व्रजमाजग्मतुस्तौ तु व्रजे शुश्रुवतुस्तदा ॥
प्राप्तं शक्रमहं वीरौ गोपांश्चोत्सवलालसान् ॥१॥
गोपवृद्धस्य वचनं श्रुत्वा शक्रपरिग्रहे।
प्रभावज्ञोऽपि शक्रस्य वाक्यं दामोदरोऽब्रवीत् ॥२॥
कर्षुकाणां कृषिर्वृत्तिः पण्यं विपणिजीविनाम्।
गावोऽस्माकं परावृत्तिरेतत् त्रैविद्यमुच्यते ॥३॥
विद्यया यो यया युक्तस्तस्य सा दैवतं परम्।
गावोऽस्मद्दैवतं विद्धि गिरयश्च वनानि च ॥४॥
योऽन्यस्य फलमश्नानः करोत्यन्यस्य सत्क्रियाम्।
द्वावनर्थौ स लभते प्रेत्य चेह च मानवः ॥५॥
मन्त्रयज्ञपरा विप्राः सीतायज्ञाश्च कर्षकाः।
गिरियज्ञास्तथा गोपा इज्योऽस्माभिर्गिरिर्वने ॥६॥
तन्मह्यं रोचते गोपा गिरियज्ञः प्रवर्तताम्।
सर्वघोषस्य सन्दोहः क्रियतां किं विचार्य्यते ॥७॥
त्रिरात्रं चैव संदोहः सर्वघोषस्य गृह्यताम्।
यज्ञं गिरेस्थिसौ सौम्ये चक्रुर्गोपाः द्विजैः सह ॥८॥
हते शक्रमहे मेघा घोरनादा भयावहाः।
आकाशं छादयामासुः सर्वतः पर्वतोपमाः ॥९॥
गवां तत् कदनं दृष्ट्वा दुर्दिनागमजं महत्।
गोपांश्चासन्ननिधनान् कृष्णः कोपं परं दधे ॥१०॥
दोर्भ्यामुत्पाटयामास कृष्णस्तं तु महीधरम्।
सव्येन पाणिना दध्रे गृहभावगतं तदा ॥११॥

न मेघानां प्रवृष्टानां न शैलस्याश्मवर्षिणः ।
विविदुस्ते जना रूपं वायोस्तस्य च गर्जतः ॥१२॥
कृष्णो ऽपि मूले शैलस्य शैलस्तम्भ इवोच्छ्रितः ।
दधारैकेन हस्तेन शैलं प्रियमिवातिथिम् ॥१३॥
निर्वृत्ते सप्तरात्रे तु दिवसे दीप्तभास्करे ।
स्वं स्वं स्थानं ततो घोषः प्रत्ययात् पुनरन्वगात् ॥१४॥
कृष्णो ऽपि तं गिरिश्रेष्ठं स्वस्थाने स्थावरात्मना ।
प्रीतो निवेशयामास शिवाय वरदो विभुः ॥१५॥ इति ।

गोलोकस्य कृष्ण परम धामत्वे श्रुतिः—

"ता वां वास्तून्युश्मसि गमध्यै यत्र गावो भूरिशृङ्गा अयासः ।
अत्राह तदुरुगायस्य वृष्णः परमं पदमवभाति भूरि" । ऋ० १।१५४।६॥

हे पत्नीयजमानो वां युवयोः, गमध्यै गमनाय, ता तानि, वास्तूनि स्थानानि, उश्मसि कामयामहे, यत्र स्थानेषु, भूरिशृङ्गा अत्यन्तोन्नता वा, बहुभिराश्रयणिया वा, गावो रश्मयः; अयासो गन्तारः । अत्राह=अत्र खलु, उरुगायस्य बहुभिः स्तुत्यस्य, वृष्णः=विष्णोः, परमं पदं धाम, भूरिभाति स्वमहिम्ना निरतिशयं स्फुरति ।

अथ कृष्णपक्षे—गोवर्द्धनगिरौ विहरतः कृष्णस्यान्तिकमुपस्थायेन्द्रः श्रीकृष्णस्य परमं विहारस्थानं गोलोकमनुवर्णयामास । वां युवयो रामकृष्णयोः तानि वास्तूनि रम्यस्थनानि, गमध्यै उश्मसि गन्तुं कामयामहे, न तु तत्र गन्तुं प्रभवामः । यत्र वास्तुषु, महाशृङ्गा गावः, अयासः संचरन्ति अत्र हि गोलोके, उरुगायस्य महाराध्यस्य, वृष्णः कृष्णस्य, परमं पदमतितरां शोभते ।

स एष गोलोकः कुत्रास्तीति चेन्द्रः प्रदर्शयति—हरि० वि० प० १६ अ०

"अधस्तादस्यपां लोकस्तस्योपरि महीधराः ।
नगानामुपरिष्टाद्भूः पृथिव्युपरि मानुषाः ॥१॥
मनुष्यलोकादूर्ध्वं तु खगानां गतिरुच्यते ।
आकाशस्योपरि रविर्द्वारं स्वर्गस्य भानुमान् ॥२॥
देवलोकः परस्तस्माद् विमानगमनो महान् ।
यत्राहं कृष्ण देवानामैन्द्रे विनिहतः पदे ॥३॥
स्वर्गादूर्ध्वं[१] ब्रह्मलोको ब्रह्मर्षिगणसेवितः ।
तत्र सोमगतिश्[२]चैव ज्योतिषां च महात्मनाम् ॥४॥

१—ब्रह्मलोकः=बृहस्पतिलोकः ।
२—सोमगतिः=ब्रह्मणस्पति लोकः ।

तस्योपरि गवां लोकः साध्यास्तं पालयन्ति हि[1] ।
स हि सर्वगतः कृष्ण, महाकाशगतो महान् ॥४॥
उपर्युपरि तत्रापि गतिस्तव तपोमयी ।
यां न विद्मो वयं सर्वे पृच्छन्तोऽपि पितामहम् ॥५॥
लोकस्त्वधो दुष्कृतिनां नागलोकस्तु दारुणः ।
पृथिवीकर्म्मशीलानां क्षेत्रं सर्वस्य कर्म्मणः ॥६॥
खमस्थिराणां विषयो वायुना तुल्यवृत्तिनाम् ।
गतिः शमदमाढ्यानां स्वर्गः सुकृतकर्मणाम् ॥७॥
ब्राह्मे तपसि युक्तानां ब्रह्मलोकः परागतिः ।
गवामेव तु गोलोको दुरारोहा तु सा गतिः ॥८॥
स तु लोकस्त्वया कृष्ण मोदमानः कृतात्मना ।
धृतो धृतिमता वीर निघ्नतोपद्रवान् गवाम् ॥९॥ इति ।

रासक्रीडायां श्रुतिः—

"पद्या वस्ते पुरुरूपा वपूंष्यूर्ध्वा तस्थौ त्र्यविं रेरिहाणा ॥
ऋतस्य सद्म विचरामि विद्वान् महद्देवानामसुरत्वमेकम्" ऋ० ।३।५५।१४॥

पद्या भूमिः, पादसञ्चारेण सम्भुक्तत्वात् । "पद्भ्यां भूमिर्दिशः श्रोत्रादिति"—(८।४।३१।)
श्रुतेरीश्वरपादस्थानीयत्वाच्च । सेयं भूमिः, पुरुरूपा नानारूपाणि, वपूंषि स्थावरजङ्गमशरीराणि, वस्ते आच्छादयति । सा भूमिः—ऊर्ध्वा उत्तरवेद्यात्मना उन्नतासती, त्र्यविं त्रिलोकपालकमादित्यं, रेरिहाणा लिहन्ती तस्थौ । ऋतस्यादित्यस्य, सद्म स्थानं, विद्वान् जानानोऽहं, विचरामि हविर्भिः परिचरामि । तदिदं देवानामेकं मुख्यमसुरत्वं प्राबल्यं महदैश्वर्य्यमित्यर्थः । अस्यति क्षिपति सर्वानित्यसुरः प्रबलः ।

अथ कृष्णपक्षे—पद्या=अभिसारिणीभिर्गोपीभिरभिगन्तुमर्हा, योऽस्या पद्या कृष्णमूर्त्तिः, पुरुरूपा बहुरूपा, बहूनि वपूंषि गोपीशरीराणि वस्ते आच्छादयति । रासक्रीडायां सर्वासां गोपीनां शरीराणि नानाविधा भूत्वा कृष्णमूर्तिः परिजग्राह । अथान्या कृष्णमूर्ति-

---

१—साध्याः=चत्वारो विश्वसृजः, चत्वारः पञ्चजनाः, चत्वारः पुरञ्जनाः, एकः सर्वसमष्टिः । इतीत्थं त्रयोदश । प्राणः, आपः, वाग्, अन्नादाः । इति विश्वसृजः । एत एव कृतयज्ञाः पञ्चजनाः । ते पुनः कृतयज्ञाः पुरंजनाः । एषामैक्यं ब्रह्मरूपम् ।

रूर्ध्वा गोपीमण्डलमध्यगता गोपीभिरसंयुक्ता तस्थौ । तथा चैषा यद्या कृष्णमूर्त्तिः, त्र्यविं त्रिधादृष्टिं, रेरिहाणा संपृच्यमानाऽभूत् । गोपी नामुभयोः पार्श्वयोः पुरस्ताच्च दृष्टौ प्रकाशमानत्वात् त्र्यवित्वम् । । रासमण्डले हि तदानीमेकस्या गोप्या उभयतः कृष्णद्वयं पुरस्तादेकः सर्वसाधारण इत्येवं त्रिधाभूतां गोपीदृष्टिं प्रदेशत्रयस्था कृष्णमूर्तिः कात्स्र्न्येन गिलति । ना तो ऽन्यत्र तासां दृष्टिरपैतीति भावः । अथ रासे काचित् कृष्णमन्वाह—ऋतस्य धर्मस्य, सद्म स्थानं त्वां विद्वानेष गोपीगणः । पतिगृहादीन् परित्यज्येदानीमित्थं रासक्रीडायां विचरामि । सर्वजगत्पतिस्त्वमिति त्वदनुसरणोऽस्मि न पतिव्यभिचारः कृतो भवेत् । किन्त्विदं भ्रमः । एकं तावदस्माकं संबन्धे देवानां मद्धद्दुरत्वं निर्द्वयत्वं पश्यामि । यत पृथक् पृथक् पतिभिर्विवाहकरणात् । कदाचित् कृष्णतो वियोगः संभाव्यते । इति ।

अरिष्टवृषभवधे श्रुतिः—

"प्र नेमस्मिन् ददृशे सोमो अन्तर्गोपा नेममाविरस्था कृणोति ।

स तिग्मशृङ्गं वृषभं युयुत्सन् द्रुहस्तस्थौ बहुले बद्धो अन्तः" ऋ०।१०।४८।१०

द्विविधो मनुष्यसमाज आसीत्-इन्द्रानुकूलो याज्ञिक एकः, इन्द्रविरोधी त्वयाज्ञिको ऽयमसुरोऽन्यः । तत्र नेमस्मिन्नर्द्धेऽन्तः सोमो ददृशे । याज्ञिकतया तत्र सोमस्यापेक्षितत्वात् । अत एवैतमर्द्धं याज्ञिकमनुष्यसमाजं गोपाः परिरक्षक इन्द्रः, अस्था साधनेन, आविः कृणोति शत्रुभिरनभिभूतं स्वच्छन्दं करोति । अथान्यस्त्वर्द्धो य इन्द्रेण विरोधात् सोमं परिहरति नाशयति स द्रुहो द्रोग्धा, वृषभं तीक्ष्णायुधं, तिग्मशृङ्गम्=बलिष्ठमिन्द्रानुकूलवर्गं, प्रति युयुत्सन् प्रतियोद्धुमिच्छन्, निगडबद्धो बहुलेऽन्धकारे, अन्तर्बद्धस्तस्थौ । इत्यर्थः ।

अथ कृष्णपक्षे—अन्तर्गोपाः=अन्तर्यामी सन् सर्वभूतपरिरक्षकः कृष्णः नेमस्मिन्=अर्द्धप्रपञ्चस्वरूपे स्थावरादौ, सोमः सोमरसरूपो ददृशे । अथ नेममर्द्धं प्रपञ्चं तु, अस्था=अस्थितं जङ्गममाविः कृणोति चैतन्यज्ञानरूपेण प्रकटयति । सोम एवायमात्मा कृष्णो द्रष्टव्यः स स्थावरवर्गे रस रूपेण जङ्गमवर्गे तु मनोरूपेण प्रवर्तत इति भावः । सः, अरिष्टं नाम तिग्मशृङ्गं वृषभं योद्धुमिच्छन् द्रुहः द्रोहं कृतवान् हतवान् । अथानन्तरं बहुले बहुजनाकीर्णे रासमण्डले, बद्धः संबद्धोऽन्तस्तस्थौ । इत्यर्थः । उक्तं च—हरि० वि० प० २१ अ० ।

प्रदोषार्द्धे कदाचित्तु कृष्णो रतिपरायणे ।

त्रासयन् समदो गोष्ठमरिष्टः प्रत्यदृश्यत ॥१॥

अरिष्टो नाम हि गवामरिष्टो दारुणाकृतिः ।

दैत्यो वृषभरूपेण गोष्ठान् विपरिधावति ॥२॥

जृम्भमाणश्च चपलो गृष्टीः संप्रचचार ह ।
शृङ्गप्रहरणो रौद्रः प्रहरन् गोषु दुर्मदः ॥३॥
कस्यचित्त्वथ कालस्य स वृषः केशवाग्रतः ।
आजगाम बलोदग्रो दैवस्तुतवशे स्थितः ॥४॥
तमापतन्तं दुर्वृत्तं दृष्ट्वा वृषभमरूपिणम् ।
तस्मात्स्थानान्न व्यचलत् कृष्णो गिरिरिवाचलः ॥५॥
तमापतन्तं प्रमुखे प्रतिजग्राह दुर्धरम् ॥
कृष्णः कृष्णाञ्जननिभं वृषं प्रति वृषोपमः ॥६॥
तस्य दर्पं बलं हृत्वा कृत्वा शृङ्गान्तरे पदम् ।
आपीडयदरिष्टस्य कण्ठं क्लिन्नमिवाम्बरम् ॥७॥
शृङ्गं चास्य पुनः सव्यमुत्पाट्य यमदण्डवत् ।
तेनैव प्राहरद्वक्त्रे स ममार भृशं हतः ॥८॥
गोविन्देन हतं दृष्ट्वा दृप्तं वृषभदानवम् ।
साधु साध्विति भूतानि तत्कर्मास्याभितुष्टुवुः ॥९॥
स चोपेन्द्रो वृषं हत्वा कान्तवक्त्रे निशामुखे ।
अरविन्दाभनयनः पुनरेव रराम ह ॥१०॥ इति ।

पातालगतस्याक्रूरस्य कृष्णबलदेवरूपमयनारायणानन्तदर्शनम् ।

"सप्त मे सप्त शाकिन एकमेका शता ददुः ।
यमुनायामधिश्रुतमुद् राधो गव्यं मृजे निराधो अश्व्यं मृजे ।" ऋ० ।५।५२।१७

"सप्तगणा वै मरुतः"—(तै० सं० २।२।११) इति श्रुतेः सप्त सप्तमे शाकिनः समर्था, मरुतो देवाः एकमेकाः पृथक्पृथगेकैकगणभिन्नाः मे मह्यं, शताः शतसंख्यानि गवाश्वयूथानि ददुः । तैरेव दत्तमिदं यमुनायामधिश्रुतं यमुनाप्रान्तप्रसिद्धं, गव्यं राधो-गो-संबन्धि धनम्, उन्मृजे उन्मार्जयामि । अश्व्यं राधो=अश्वसंबन्धिधनं निमृजे निमार्जयामि ।

अथ कृष्णपक्षे— सप्त सप्त एकोनपञ्चाशत्, मरुतो देवाः, शाकिनः शक्तिमन्तः एकमेकाः प्रत्येकं, शता ऐश्वर्याणि ददुः । अतो ऽहमिदानीं श्रुत—"प्रज्ञास्य परमासंपदि" त्याद्युपनिषद्वचनैः श्रुतं, राधो धनं परमात्माऽन्तर्यामिरूपं, यमुनायामधि मध्ये, श्रीकृष्णरूपेण, मृजे मृगयामि पश्यामि अपि च—उद् ऊर्ध्वं, गव्यं गोषु सूर्यरश्मिषु स्थितं, मृजे मृगयामि तथा अश्व्यं=अश्ववति रथे स्थितं भूलोके च निमृजे मृगयामि । इत्यर्थः । उक्तं च—हरि० वि० प० २२।२६। अ० ।

"कृष्णं व्रजगतं श्रुत्वा वर्द्धमानमिवानलम् ।
उद्वेगमगमत्कंसः शङ्कमानस्ततो भयम् ॥१॥

ततो ज्ञातीन् समानाय्य प्रोवाच मथुरेश्वरः ।
वर्द्धमानो ममानर्थो भवद्भिः किमुपेक्षितः ॥२॥

एष कृष्ण इतिख्यातो नन्दगोपसुतो व्रजे ।
उपेक्षित इव व्याधिः स दुरात्मा विवर्धते ॥३॥

नन्दगोपस्य भवने मूलं नः परिकृन्तति ।
तस्य नाहं गतिं जाने न योगं न पराक्रमम् ॥४॥

गच्छ दानपते क्षिप्रं तावानयितुं व्रजात् ।
कृष्णसंकर्षणौ चैव वसुदेवसुतावुभौ ॥५॥

अस्माकमपि मल्लौ द्वौ सज्जौ युद्धकृतोत्सवौ ।
ताभ्यां सह नियोत्स्येते तौ युद्धकुशलावुभौ ॥६॥

अक्रूर गच्छ शीघ्रं त्वं तावानय ममाज्ञया ।
संकर्षणं च कृष्णं च द्रष्टुं कौतूहलं हि मे ॥७॥

अक्रूरः स महातेजाः प्रेषितः प्रीतिमानभूत् ।
तस्मिन्नेव मुहूर्ते तु मथुरायाः स निर्ययौ ॥८॥

अथास्तंगच्छति तदा मन्दरश्मौ दिवाकरे ।
संध्यारक्ततले व्योम्नि प्राप्तो दानपतिर्व्रजम् ॥६॥

स नन्दगोपस्य गृहं वासाय विबुधोपमः ।
अवतीर्य्य ततो यानात् प्रविवेश महाबलः ॥१०॥

कृष्णं चैवाब्रवीत्प्रीत्या रौहिणेयेन संगतम् ।
श्वः पुरीं मथुरां तात गमिष्यामः सुखाय वै ॥११॥

कृष्णः सुविदितार्थो वै तमाहामितविक्रमम् ।
बाढमित्येव तेजस्वी न च क्रोधवशंगतः ॥१२॥

ततः प्रभाते विमले उद्गच्छति दिवाकरे ।
कृष्णश्च रौहिणेयश्च स चैवामितदक्षिणः ॥१३॥

त्रयो रथगता जग्मुस्त्रिलोकपतयो यथा ।
अथाह कृष्णमक्रूरो यमुनातीरमाश्रितः ॥१४॥

स्यन्दनं चात्र रक्षस्व क्षणं तात प्रतीक्ष्यताम् ।
यमुनाया ह्रदे ह्यस्मिन्स्तोष्यामि भुजगेश्वरम् ॥१५॥

तमाह कृष्णः संहृष्टो गच्छ धर्म्मिष्ठ मा चिरम् ।

आवां खलु न शक्तौ स्वस्तवयि हीनावुपासितुम् ॥१६॥
सम्ह्रदे यमुनायास्तु ममज्जासितदक्षिणः ।
रसातले स ददृशे नागलोकमिमं यथा ॥१७॥
तस्य मध्ये सहस्रास्यं हेमतालोच्छ्रितध्वजम् ।
ददर्श भोगिनां नाथं स्थितमेकार्णवेश्वरम् ॥१८॥
तस्योत्संगे घनश्यामं श्रीवत्सांकितोरसम् ।
पीताम्बर धरं विष्णुं सूपविष्टं ददर्श ह ॥१९॥
ददर्श कृष्णमक्रूरः पूज्यमानं तदा प्रभुम् ।
उदतिष्ठत्पुनस्तोयात् तन्मन्त्रं मनसा जपन् ॥२०॥
रथं तेनैव मार्गेण जगामामितदक्षिणः ।
तमाह केशवो हृष्टः स्थितमक्रूरमागतम् ॥२१॥
कीदृशं नागलोकस्य वृत्तं भागवते ह्रदे ।
चिरं च भवता कालो व्याक्षेपेण विलम्बितः ॥२२॥
प्रत्युवाच स तं कृष्णं तत्राश्चर्य्यमयेक्षितम् ।
तदिहापि यथा तत्र पश्यामि च रमामि च ॥२३॥
कि भविष्यति लोकेऽस्मिन्—आश्चर्य्यं भवता विना ।
अतः परतरं कृष्ण नाश्चर्यं द्रष्टुमुत्सहे ॥२४॥ इति ।
"सप्तसप्त शाकिन एकमेका सावा ददः ।
यमुनायामधिश्रु तमुदराधो गव्यं मृजे निराधो अश्व्यं मृजे" ॥

रजकवस्त्रापहाराद्युग्रसेनराज्यप्रत्यर्पणान्तलीलायां श्रुतिः—
"युवं वस्त्राणि पीवसा वसाथे युवोरच्छिद्रा मन्तवो ह सर्गाः
अवातिरतमनृतानि विश्व ऋतेन मित्रावरुणा सचेथे ।" ऋ० ।१।१५२।१।

हे मित्रावरुणौ ! युवां पीवसानि प्रभूतानि आच्छन्नानि वस्त्राणि, वसाथे धारयथः । अपि च युवयोः सृष्टय=अच्छिद्रा अच्छिन्ना मन्तवो ह मननीयाश्च । अपि च युवां सर्वाणि असत्यानि, अवातिरतं=नाशयतम । ऋतेन तु सत्येन युवां सचेथे युज्याथे इत्यर्थः ।

अथ कृष्ण पक्षे—हे मित्रावरुणौ ! सूत्रानुयायिणौ रामकृष्णौ ! युवां, पीवसा बलेन, वस्त्राणि वसाथे । कंसरजकं हत्वा बलात् ततो वस्त्राणि गृहीत्वा परिदधाते । अथ युवयोर्मन्तवो मानयितारस्तु मालाकारकुब्जाप्रभृतयः स्वदर्थं, सर्गाः माल्यानुलेपनादिस्रष्टारः सन्तः, अच्छिद्राः नो वक्रकुब्जत्वादि दोषरहिता अभूवन् । अपि चानृतानि, मिथ्याप्रयुक्तानि

पूतनाधेनुकप्रलम्बकेशिकुवलयापीडमल्लयुद्धादीनि कंसकृतविडम्बनानि सर्वाणि युवामवाप्तिरं तं व्यापाहतम् । ऋतेन तु सत्येन यादवक्षत्रियवीरत्वेन युवां सचेथे । प्राक् प्रसिद्धं गोपजातीयत्वं नन्दपुत्रत्वं चापोह्य दानीं क्षत्रियजातीयत्वेन वसुदेवपुत्रत्वेन च सत्येनार्थेन प्रसिद्धिमागच्छतम् । अपि कंसं निहत्य सुलभं राज्यं तिरस्कृत्य सत्येन युवां सचेथे । उग्रसेनायैव तु तद् राज्यं सत्येन प्रत्यर्पयतं युवामित्यर्थः । अनेन मन्त्रेण रजकवस्त्राहरणादारभ्य कंसवधानन्तरपरि-लब्धराज्यप्रत्यर्पणान्तं लीलाकथानकं संसूचितं श्रुत्यानुगृहीतं भवति । तच्च कथानकं हरिवंशात् प्रदर्श्यते—

"तौ तु मार्गगतं दृष्ट्वा रजकं रङ्गकारकम् ।
अयाचेतां ततस्तौ तु वासांसि रुचिराणि वै ॥१॥
रजकः स तु तौ प्राह युवां कस्य वनेचरौ ।
राजवासांसि यौ मौढ्यात् याचेतां निर्भयावुभौ ॥२॥
अहं कंसस्य वासांसि नानादेशोद्भवानि तु ।
कामरागाणि शतशो रञ्जयामि विशेषतः ॥३॥
अहो वां जीवितं त्यक्तं यौ भवन्ताविहागतौ ।
मूर्खौ प्राकृतविज्ञानौ वासो याचितुमिच्छथ ॥४॥
तस्मै चुकोप कृष्णस्तु रजकायाल्पमेधसे ।
तलेनाशनिकल्पेन स तं मूर्द्धन्यताडयत् ॥५॥
स गतासुः पपातोर्व्यां रजको व्यस्तमस्तकम् ।
तावप्युभौ सुवसनौ जग्मतुर्माल्यकारणात् ॥६॥
गुणको नाम तत्रासीत् माल्यवृत्तिः प्रियंवदः ।
तं कृष्णः श्लक्ष्णया वाचोवाच देहीत्यकातरम् ॥७॥
ताभ्यां प्रीतो ददौ माल्यं प्रभूतं माल्यजीविनः ।
भवतोः स्वमिदं चेति प्रोवाच प्रियदर्शनौ ॥८॥
प्रीतस्तु मनसा कृष्णो गुणकाय वरं ददौ ।
श्रीस्त्वां मत्संभवा सौम्य धनौघैरभि त्स्यते ॥९॥
वसुदेवसुतौ तौ च राजमार्गगतावुभौ ।
कुब्जां ददृशतुर्भूयः सानुलेपनभाजनाम् ॥१०॥
तामाह कृष्णः कुब्जेति कस्येदमनुलेपनम ।
सा स्मिता संमुखी भूत्वा प्रत्युवाचाम्बुजेक्षणम् ॥११॥
राज्ञः स्नानगृहं यामि तद् गृहाणानुलेपनम् ।

ताबुभावनुलिप्ताङ्गौ चारुगात्रौ विरेजतुः ॥१२॥
तां च कुब्जां स्थगोर्मध्ये ह्यङ्गुलेनाग्रगामिना ।
शनैः संपीडयामास कृष्णो लीलाविधानवित् ॥१३॥
ततस्तौ कुब्जया मुक्तौ प्रविष्टौ राजसंसदम् ।
धनुः शालां गतौ तौ तु बालावपरितर्कितौ ॥१४॥
पप्रच्छतुश्च तौ वीरौ आयुधागारिकं तदा ।
कतरच्चद्धनुः सौम्य महोऽयं यस्य वर्तते ॥१५॥
स तयोर्दर्शयामास तद्धनुः स्तम्भसंनिभम् ।
तत् गृहीत्वा तदा कृष्णस्तोलयामास वीर्य्यवान् ॥१६॥
आरोपयामास तदा नामयामास चासकृत् ।
द्विधाभूतमभूत् भग्ने धनुरग्रयोगभूषितम् ॥१७॥
ततस्तूर्य्यनिनादेन द्वेडितास्फोटितेन
वसुदेवसुतौ हृष्टौ रङ्गद्वारमुपस्थितौ ॥१८॥
तत्र स्थितो मत्तहस्ती कृत्वा कुण्डलिनं करम् ।
चकार चोदितो मल्लं निहन्तुं बलकेशवौ ॥१९॥
निकृष्टे ततो नागे कृष्णो द्वीपमपोथयत् ।
पपात भूमौ जानुभ्यां दशनाभ्यां तुतोद च ॥२०॥
जघानैकप्रहारेण गजारोहणमुल्बणम् ।
पपात स महामात्रो वज्रभिन्न इवाचल ॥२१॥
गजं हत्वा विवशतुर्मध्यं रङ्गस्य ताबुभौ ।
तौ दृष्ट्वा भोजराजस्तु विषसाद वृथामतिः ॥२२॥
ततः क्रोधाभिताम्राक्षः कंसः परमकोपनः ।
युद्धाय मल्लं चाणूरमन्ध्रं मुष्टिकमादिशत् ॥२३॥
चाणूरेण चिरं कालं क्रीडित्वा देवकीसुतः ।
प्राहरन् मुष्टिना मूर्ध्नि वक्षस्याहत्य जानुना ॥२४॥
पपात स तु रङ्गस्य मध्ये निःसृतलोचनः ।
चाणूरो विगतप्राणो जीवितान्ते महीतले ॥२५॥
अन्ध्रे तदा महामल्ले मुष्टिके च निपातिते ।
भयक्षोभितसर्वाङ्गाः सर्वे तत्रावतस्थिरे ॥२६॥
आज्ञापयत संक्रुद्धः कंसो व्यायतपूरुषान् ।

गोपावेतौ समाजौघान्निष्क्राम्येतां वनेचरौ ॥२७॥
न चैतौ द्रष्टुमिच्छामि विकृतौ पापदर्शनौ ।
गोपानामपि मे राज्ये न कश्चित् स्थातुमर्हति ॥२८॥
नन्दगोपश्च दुर्मेधा लोहपाशैर्निगृह्यताम् ।
वसुदेवश्च दण्डेन क्षिप्रमद्य व शास्यताम् ॥२९॥
एवमाज्ञापयानं तं कंसं परुषभाषिणम् ।
ददर्शायस्तनयनः कृष्णः सत्यपराक्रमः ॥३०॥
क्षिप्ते पितरि चुक्रोध नन्दगोपे च केशवः ।
ज्ञातीनां च व्यथां दृष्ट्वा विसंज्ञां तत्र देवकीम् ॥३१॥
रङ्गमध्यादुत्पपात कृष्णः कंसासनान्तिकम् ।
ददृशुन हि तं सर्वे रङ्गमध्यादवप्लुतम् ॥३२॥
केवलं कंसपार्श्वस्थं ददृशुः पुरवासिनः ।
कंसोऽपि मेने तं कृष्णमाकाशादिव चागतम् ॥३३॥
स हस्तग्रस्तकेशश्च कंसो निर्यत्नतां गतः ।
अकस्मादिव संमूढो वैकल्यं समपद्यत ॥३४॥
चकर्ष च महारङ्गे मञ्चान्निष्क्रम्य केशवः ।
कृष्णो विसर्जयामास कंसदेहमदूरतः ॥३५॥
तं हत्वा पुण्डरीकाक्षः प्रहर्षाद्द्विगुणप्रभः ।
ववन्दे वसुदेवस्य पादौ निहतकण्टकः ॥३६॥
उग्रसेनो यदून् गृह्य पुत्रकिल्बिषशङ्कितः ।
स कृष्णं पुण्डरीकाक्षमुवाच यदुसंसदि ॥३७॥
प्रतिगृह्णीष्व कृष्णेदं कंसस्य बलमव्ययम् ।
स्त्रियो हिरण्यं यानानि यदन्यद्वसु किञ्चन ॥३८॥
एतच्छ्रुत्वा वचस्तस्य कृष्णः परमविस्मितः ।
प्रत्युवाचोग्रसेनं तं सान्त्वपूर्वमिदं वचः ॥३९॥
न हि राज्येन मे कार्यं नाप्यहं नृपकाङ्क्षितः ।
न चापि राज्यलुब्धेन मया कंसो निपातितः ॥४०॥
किन्तु लोकहितार्थाय कीर्त्यर्थं च सुतस्तव ।
व्यङ्गभूतः कुलस्यास्य सानुजो विनिपातितः ॥४१॥
अहं स एव गोमध्ये गोपैः सह वनेचरः ।
प्रीतिमान् विचरिष्यामि कामचारी यथा गजः ॥४२॥

एतावच्छ्रुतशोऽप्येवं सत्येनैतद् ब्रवीमि ते ।
न मे कार्य्यं नृपत्वेन विज्ञाप्यं क्रियतामिदम् ॥४३॥
भवान् राजास्तु मान्यो मे यदूनामग्रणीः प्रभुः ।
विजयायाभिषिच्यस्व स्वराज्ये नृपसत्तम ॥४४॥
यदि ते मत्प्रियं कार्य्यं यदि वा नास्ति ते व्यथा ।
मया विसृष्टं राज्यं स्वं चिराय प्रतिगृह्यताम् ॥४५॥ इति।

हरि० वि० प० २ से ३२ तक

अर्जुनसहायेन कृष्णेन कृते खाण्डवदाहे श्रुतिः——

"अहश्च कृष्णमहरर्जुनं च विवर्तेते रजसी वेद्याभिः ।
वैश्वानरो जायमानो न राजा ऽवातिरज्ज्योतिषाऽग्निस्तमांसि" । ऋ०६।६।१।

कृष्णवर्णमहः—रात्रिः । शुक्लवर्णमहः-दिवसम् । कृष्णशुक्लाभ्यां वर्णाभ्यां रञ्जयन्ती इमे उभे रजसी, वेद्याभिर्वेदितव्याभिः अर्जुनं प्रकाशयितव्याभिर्व्यक्तिभिः सदैव विवर्तेते । रात्रेः पश्चाद्दिनं, तत पश्चाद्रात्रिरित्येवं पर्य्यावर्तेते । रजसी, द्यावापृथिव्यौ वा प्रत्यावर्तेते । प्रादुर्भवन् प्रवर्द्धमानो राजेवायं वैश्वानरस्त्रैलोक्यव्यापकोऽग्निः स्वप्रकाशेन, समांसि अवातिरत् व्यनाशयत् ।

अथ कृष्णपक्षे—कृष्णमनु, अहः युद्धयज्ञः । अथार्जुनमनु, अहः युद्धयज्ञः । इत्थं खाण्डववने कृष्णार्जुनाभ्यां विभज्य समुच्चित्य वा क्रियमाणो युद्धयज्ञौ, रजसी रजोगुणकार्य्यभूतौ, वेद्याभिर्लब्धुंयोग्याभिः श्रीभिर्हेतुभूताभिर्विशेषेण वर्तेते । तत्र जायमानोऽयमग्नि वैश्वानरो विश्वेषां नृणामिष्टफलप्रापको धर्म्मः स्वयमदृष्टरूपो ऽप्यग्निरूपेणाविर्भवन्, अधर्म्मरूपाणि असुरैः प्रवर्तितानि तमांसि, राजा इव अवातिरत्=व्यनाशयत् । एतेनाग्निप्रेरणया पृथक् पृथक् युद्धं प्रकुर्वद्भ्यां कृष्णार्जुनाभ्यां कृतः खाण्डवदाहः सूचितो भवति। एवमन्यान्यपि कृष्णलीलाचरितानि वेदप्रसिद्धानेकदेवचरित्रनिगूढानि संप्रतिपद्यन्ते । तेनैतस्यालौकिकलीलापुरुषस्य भगवतः श्रीकृष्णस्यान्तर्निगूढं दिव्यं माहात्म्यमावेदितं भवति ।

लोकेऽवतरिष्यन्तं दिव्यमहापुरुषमीश्वरं जानन् ।
वेदस्तच्चरितानामाभासं किमपि दर्शयामास ॥

इति श्रीकृष्णस्येश्वरीयदेवतानुरूपचारित्र्यलक्षणमाहात्म्यम् ॥

॥ इति वेदोपस्तुतचरितत्वम् ॥

६—दिव्यकृष्णमानुषकृष्णयोः षोडशकलापूर्णावतारत्वम्।

अथ षोड़शकलापूर्णावतारत्वेन सादृश्यमनुवर्ण्यते। तथाहि—पञ्च पुण्डीरवल्शो ऽयमेको ब्रह्माश्वत्थो नामाऽव्ययः भवति स एवायमव्ययो लोके शास्त्रे चेश्वरो नामाख्यायते। तत्प्रतिमाऽव्ययानामीश्वरधर्मपूर्णत्वादेष परमेष्ठी षोडशकलापूर्णावतारः। पञ्चभिः क्षरैः पञ्चभिरक्षरैः पञ्चभिरव्ययैः परात्परेण षोडशिना षोडशकलस्यामृतात्मनः प्रकृतिनिबन्धनेषु षट्सु—स्वयंभू—परमेष्ठी—सूर्य—पृथ्वी—चन्द्र—जीव विग्रहेषु अवतीर्णत्वात्। अथैष भगवान् वासुदेवः कृष्णः षोड़शकलो भवति। षड्भिः पौराणिकीभिर्विग्रहकलाभिः, अथ नवभिर्वैज्ञानिकीभिरात्मकलाभिरौपासनिक्या चैकया कलया परिपूर्णत्वात्—तथा हि—

६—षड् विग्रहकला यथा।

१—आदिपुरुषः स्वयम्भूविग्रहः प्राणमयः प्रथमः। तत्रादिवराहो विग्रहहेतुः।

२—यज्ञपुरुषः परमेष्ठिविग्रह अम्मयो द्वितीयः। तत्र यज्ञवराहो विग्रहहेतुः।

३—महापुरुषः सूर्य्यविग्रहो वाङ्मयस्तृतीयः। तत्र श्वेतवराहो विग्रहहेतुः।

४—पुराणपुरुषस्त्रैलोक्यविग्रहो देवमयश्चतुर्थः। तत्र ब्रह्मवराहगर्भ एमूषवराहो विग्रहहेतुः।

५—आगीश्वरपुरुषो मनुष्यविग्रहो भूतमयः पञ्चमः। तत्र लोकानुग्रहो विग्रहहेतुः।

६—विराट्पुरुषो विश्वविग्रहः सर्वमयः षष्ठः। तत्र मायापरिग्रहो विग्रहहेतुः।

इति ता एताः पौराणिक्यो विग्रहकलाः षडाख्याताः॥

अथ चैता वैज्ञानिक्य आत्मकला नव।

यद्यपि—"इयं वेदिः परो अन्तः पृथिव्या अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः

अयं सोमो वृष्णो अश्वस्य रेतो ब्रह्मायं वाचः परमं व्योम"। ऋ० २।३।२०। इति मन्त्रे एकविंशस्तोमान्ता इयं पृथिवी यज्ञवेदिः। अथ सूर्य्यस्यैतज्ज्योतिर्मण्डलं यज्ञस्याग्निः। तदुपरि पारमेष्ठ्यं मण्डलं सोममयं यज्ञाहुतिलक्षणा यज्ञभक्तिः। ततो बहिर्धा परितः स्वायम्भुवं मण्डलं यज्ञायतनं बहिरवकाशः—इत्येवं कृत्वा सूर्य्यस्य यज्ञत्वमाख्यायते तथाप्यग्नौ सोमाहुतेर्यज्ञतया तयोरग्निसोमयोरुभयोरेव यज्ञत्वेन व्यवहारस्येष्टत्वात् सोममूर्तेः परमेष्ठिनोऽपि यज्ञपुरुषत्वं नापवाद्यते इति ध्येयम्।

१—स्वयम्भूकृष्णो वेदगर्भः सत्यमूर्तिरव्ययः प्रथमः

२—परमेष्ठिकृष्णो यज्ञगर्भ आपोमूर्तिरव्ययो द्वितीयः

३—चाक्षुषकृष्णो हिरण्यगर्भस्तेजोमूर्तिरव्ययस्तृतीयः

४—वैहायसकृष्ण अमृतगर्भः ब्रह्ममूर्तिरव्ययश्चतुर्थः

५—विश्वम्भरकृष्णो रसगर्भः प्रतिष्ठामूर्तिरव्ययः पञ्चमः

६—प्रजापतिकृष्णः, त्रिलोकगर्भः सर्वभूतान्तरात्माऽव्ययः षष्ठः

७—ईश्वरकृष्णः सप्तलोकगर्भोऽश्वत्थमूर्तिरव्ययः सप्तमः

८—मानुषोत्तमकृष्ण अच्युतकृष्णो योगेश्वरमूर्तिरव्ययोऽष्टमः

९—गीताकृष्णः परमाव्ययकृष्ण इति नवमः

ता एता वैज्ञानिक्य आत्मकला नवाख्याताः॥

१०—अथ उपास्यकृष्णः सर्वज्ञः सर्वशक्तिमान् सर्वधर्मोपपन्नो दशमः॥

सेयमेका कला औपासनिकी भवति॥

इति षोडशकलापूर्णावतारत्वम्।

उपास्यकृष्णे विग्रहकलात्मकलोपेतं षोडशकलारूपमौपासनिकमुपास्यकृष्णरहस्यम् ।

अपि चाद्यतनाः साम्प्रदायिका विद्वांसोऽप्येतस्य भगवतः कृष्णस्य मनुष्यसाधारणत्वमपलप्य वेदपुराणानुसारेणेश्वरभावं प्रतष्ठामध्यवसन्ति । अतएवामी तस्य दिव्यं भावं दर्शयितुमेकां संहितां प्रणयन्ति स्म सेयं पुरातनोदाहृता श्रीकृष्णसंहिता प्राच्चामुपासकानां मतमाविष्कर्तुं महोदाह्रियते ।

तत्रादौ 'वैकुण्ठधामोल्लासो' यथा—

चिदचिद्भ्यामतिरिक्तोऽनाद्यनन्तः श्रीकृष्णचन्द्रो जयति । तदीय चिच्छक्त्याऽऽविष्कृतं चिद्धाम वैकुण्ठो नामाख्यायते । स हि नित्यसिद्धचिद्गणस्य नित्यावस्थानम् । तदीय जीवशक्त्या चित्कणनिर्मिता नित्यसिद्धाः सर्वे जीवास्तस्य लीलोपकरणम् । नित्यं च तत्रायं लीलापरायणो विराजति । चिद्विलासरसे मत्तः, चित्कणात्मकनित्यसिद्धजीवगणै रन्वितश्च ।

तेषां चित्कणात्मक-नित्यसिद्ध-जीवगणानाम्, अथ सर्वचिदाधारस्यैतस्य श्रीकृष्णस्य च मिथो बन्धनसूत्ररूपं किञ्चिदेकं परमचमत्कारकं चिदन्वयतत्त्वं लक्ष्यते प्रीतिर्नाम । तदधीनः स परमेश्वरस्तेभ्यश्चित्कणात्मकजीवगणेभ्यः कार्य्याकार्य्यविचारणे स्वातन्त्र्यं प्रादात् । तथा च येषां स्वाधीनताप्राप्तानां भगवद्दास्येऽभिरुचिः प्रबलाऽभूत् ते तत्र नित्यधाम्नि दासत्वं प्राप्ता अभवन् । तत्रापि ये ऐश्वर्य्यपरास्ते सेव्यत्वं नारायणस्वरूपेण, माधुर्य्यपरास्तु श्रीकृष्णरूपेण भावयाञ्चक्रुः । तत्रैश्वर्य्यपराणां स्वाभाविकसंभ्रमवशात् प्रीतिर्यद्यपि प्रेमरूपेण परिणमते—अथापि विश्वासदौर्बल्यात् प्रणयो न प्रवर्त्तते । माधुर्य्यभावसम्पन्नानां तु विश्रम्भो बलवत्तर इति तेषां हृदि प्रीतितत्त्वं महाभावावधि उन्नमति ।

एवंविध विशेषोपपत्तावपि ऐश्वर्य्यपरदृष्ट्या नारायणो, माधुर्य्यपरदृष्ट्या तु कृष्ठ इत्यनयोर्वस्तुगतो विशेषो नास्ति । आलोचकालोचनागतभेदसत्त्वेऽपि आलोच्यगतभेदाभावत् । रसभेदवशादेवं द्विधा प्रतीयमानेऽपि वस्तुत एकस्मिन तस्मिन् नित्यवस्तुनि आधाराधेयभेदो देहदेहिभेदो धर्म्मधर्म्मिभेदश्च नोपपद्यन्ते ।

अथ नित्यसिद्धजीवानां परस्परं भिन्नत्वेऽपि तद्गतनिर्मलविशेषोऽस्माकं प्रपञ्चमसन्दूषितान्तःकरणानां नोपलभ्यते । तादृशजीवगतविशेषद्वारैव भगवति शुद्धजीवेषु च नित्यभेदोऽवतिष्ठते ।

एवं तस्मिन् तेषु च शान्त[१]-दास्य[२]-सख्य[३]-वात्सल्य[४]-मधुर[५]भेदेन पञ्चविधो निर्म्मलः सम्बन्धोऽपि जागर्ति । भगवत्संसारे सतां शुद्धजीवानामधिकारानुसारेण सम्बन्धभागगताः

प्रीतिक्रियापरिचायकाः पुलकाश्रुकम्पस्वेदवैवर्ण्यस्तम्भस्वरभेदप्रलयाख्या अष्टविधः प्रीतिभावाकारा उदयन्ते। ते च शुद्धजीवदशायां शुद्धसत्वगता, बद्धजीवेषु तु प्रापञ्चिकसत्वगता भवन्ति। शान्तरसाश्रितजीवे चित्ताल्लासविधायिनी प्रीतिः-रतिरूपेण, दास्यरसोरसौ ममता भावसङ्गिनी प्रीतिः—रतिप्रेमोभय लक्षणेन, सख्यरसे बलवद्विश्वासवशाद् दृढममतोपेता सर्वभयविनाशिनी प्रीतिः—रति-प्रेम-प्रणयरूपेण, वात्सल्यरसे द्रवमयी सती प्रीतिः—रति-प्रेम-प्रणय-स्नेह-रूपेण, कान्तभावोदये तु ते सर्वेऽपि भावा मानरागानुरागमहाभावपर्यन्तभावैरेकत्र मिलिता भवन्ति।

यथा जगति जीवगणः स्व स्वात्मीय गणेन परिवेष्टितो गृहस्थरूपेण दृश्यते तथैव श्रीकृष्णोऽपि वैकुण्ठधाम्नि कुलपालकगृहस्थरूपेण विराजते। शान्तादिरसाश्रिताः समस्ता एव पार्षदगणा भगवत्सेवकाः सेव्यश्चामीषां साधुगणप्रियः श्रीकृष्णचन्द्रः।

तत्राद्वयवस्तुनि वैकुण्ठे सर्वज्ञ-धृति-सामर्थ्य-विचार-पटुता-क्षमाप्रभृतयः सर्वेऽपि गुणगणाः प्रीतितत्वे एकात्मतां प्राप्ताः। जडजगति तु प्रीतेरनुद्रेकादेते गुणाः पृथक् प्राधान्येनावतिष्ठन्ते।

तस्य च वैकुण्ठधाम्नो बहिः प्रकोष्ठे रजोऽतीता विरजा नदी, अन्तः प्रकोष्ठे तु चिद् द्रवस्वरूपा कालिन्दी नदी सदा प्रवर्तते। एवं तत्र समस्तशुद्धचित्स्वरूपगणस्याधारभूता काप्यनिर्वचनीया भूमिर्विराजते। एवं लताकुञ्जगृहद्वारप्रासादतोरणान्यन्यानि च सर्वाणि तत्र वस्तूनि चिद्विशिष्टानि देशकालावच्छेददोषादूषितानि च सन्ति।

इदमपरमप्यत्रावधेयम्। यदत्र किञ्चिज्जडजगति वैचित्र्यमुपलभ्यते सर्वमेव तच्चिज्जगतः प्रतिफलनमात्रम्। एतावान् परं विशेषः—चिज्जगति सर्वमेवानन्दमयं निर्दोषं च, जडजगति तु सर्वं क्षणिकं सुखदुःखमयं देशकालावच्छिन्नं हेयत्वाक्रान्तं चेति। यद्यप्यस्मिन नित्यधाम्नि वैकुण्ठे तत्तद्विशेषोऽपि नित्यस्तथाप्यसावखण्डसच्चिदानन्दस्वरूपः। प्राकृततत्वस्यैव देशकालाभ्यां खण्डभावात् प्रकृतिपरतत्वे चैतस्मिन् तदसंभवात्।

शक्तिभावोल्लासः।

शक्तिशक्तिमतोरभिन्नसत्ताकत्वम्। अचिन्त्यभावसंपन्ना सैव पराशक्तिः शक्तिमन्तं प्रकाशयति। यदि दाहिकादिशक्तयोऽग्नेः पार्थक्येन सृष्टा अभविष्यन्, तदा शक्त्यभावे अग्निसत्तैव न प्रकाशयेत।

शक्तिश्चेयं परा त्रिविधा—ईश्वरगता, जीवगता, मायागता च। सर्वत्रैव तस्याः शक्तेस्त्रयो भावा भवन्तीति क्रमेण दर्श्यन्ते। तत्र प्रथमो जगदीश्वरस्य पराशक्तेस्त्रयो

भावा उपलभ्यन्ते —सन्धिनी, संवित, ह्लादिनी च । सा हि पराशक्तिः सन्धिनीभावावच्छिन्ना सद्रूपेण, संविद्भावावच्छिन्ना चिद्रूपेण, ह्लादिनीभावावच्छिन्ना चानन्दरूपेण परं ब्रह्म प्रकाशयति । तेन ब्रह्मणः प्रथमः प्रकाशः सच्चिदानन्दात्मकः । परन्तु पूर्वं निष्कलं ब्रह्मैवासीत् पश्चात्तच्छक्त्यावेशे सच्चिदानन्दरूपेण परिणामोऽभूदिति तु न कदाचिदवसेयम् । शक्तिशक्तिमतोरनादितया नित्यमेवतस्य सच्चिदानन्दरूपेणावस्थानात् ।

अथ सन्धिनीत एव सर्वं सत्ताजातमुत्पद्यते । सा च सत्ता पीठसत्ता, अभिधासत्ता, रूपसत्ता, सङ्गिनीसत्ता, सम्बन्धसत्ता, आधारसत्ता, आकारसत्तादि भेदादनेकधा ।

तस्याः पराशक्तेः प्रभावस्त्रेधा—चित्प्रभावः, जीवप्रभावः, अचित्प्रभावश्च । तत्र चिद् प्रभावः स्वगतः, अन्यौ विभिन्नतत्वगतौ । शक्तेः प्रभावानुसारेण विभिद्य सर्वे भावाः प्रवर्तन्ते ।

तत्र चित्प्रभावगतपराशक्तेः सन्धिनीभावगता पीठसत्ता वैकुण्ठः, अभिधासत्ता कृष्णादिनामानि । रूपसत्तया कृष्णकलेवरम् । सङ्गिनीरूपसत्ताभ्यां राधादिप्रेयस्यः, सन्धिनी शक्तित एव समस्ताः सम्बन्धभावा उद्यन्ति । सदंशस्वरूपा सन्धिन्येव सर्वाधाररूपा सर्वाकारस्वरूपा च ।

अथ संविदभावगता पराशक्तिरेव ज्ञानविज्ञानरूपिणी । तद्द्वारा सन्धिनीनिर्मितसत्वेषु सर्वे भावाः प्रकाशन्ते । यदीयंशक्तिर्नाभविष्यत् तर्हि सत्स्वपि जगत्सु सर्वान्ध्यप्रसङ्गादसदिवेदं सर्वमभविष्यत् । संविदैव हि सर्वं तत्वं प्रकाशते । चिद्प्रभावगतसंविदा वैकुण्ठस्थाः सर्वे भावा उद्यन्ति । इयमेव च कार्य्याकार्य्यविधायिनी संविद्रूपा देवी सन्धिनीकृतसत्वेषु परस्परं सम्बन्धभावैः परियोजयति । शान्तदास्यादयः सर्वे रसा अपि एनयैव व्यवस्थाप्यन्ते । यदि पुनरियं विशेषधर्म्माननाश्रित्यैव प्रवर्तते, अथ निर्विशेषो ब्रह्मभावः समुदयते । तदानीं जीवसंविद् ब्रह्मज्ञानमापद्यते—इति भवति । अत एव ब्रह्मज्ञानं नाम केवलं वैकुण्ठस्य निर्विशेषालोचनमात्रमिति वदन्ति । यदा तु विशेषधर्म्मानाश्रित्यैव संविद्देवी भगवद्भावं प्रकाशयति, तदानीं जीवगतसंविदा भगवद् भक्तेर्व्याप्तिः परिगृहीता भवतीति बोध्यम् ।

अथ चित्प्रभावगतपराशक्तिरेव यदा ह्लादिनीभावमापद्यते तदानीं रागवैचित्र्यमुत्पाद्य सैव परमानन्ददायिनी भवति । सैव च ह्लादिनी सर्वोर्द्ध्वभावसंपन्ना सती शक्तिमतः शक्तिरूपायां तदर्द्धरूपिण्यां राधायां सन्धिनीकल्पितसत्ताया अचिन्त्यकृष्णानन्दरूपमेकमनिर्वचनीयतत्वं प्रवर्तयति । इयमेव च कृष्णविनोदिनी राधा महाभावस्वरूपा । तस्या एव ह्लादिन्यां रसपोषका अष्टविधाभावा राधाया अष्टसख्य उच्यन्ते ।

जीवगता ह्लादिनी यदि जीवसत्तासहकारेण प्रवर्तते अथ च पुण्यकर्म्मप्रभावात् कृष्णकृपाबलाद् यदि चिद्गतह्लादिनीकार्य्याणि क्रियन्ति चिदनुभूयन्ते तदा तत्तद् भावगता जीवाः सर्वे नित्यानन्दपरायणा भवन्ति । एवं विमलभावानां सदा जीवसत्तायामेवावस्थितिः । संधिनीसंविद्ह्लादिन्यो ऽस्मिन् परात्परे श्रीकृष्णे त्वखण्डैकपराशक्तिरूपेणैवावतिष्ठन्ते । वैकुण्ठादिविलासात्मिकासु स्वांशगतलीलासु तु सा नित्यं त्रितयात्मिका । अथ स्वतो निर्गुणे ऽपि श्रीकृष्णे यदेतत्सर्वं प्रकाशते तदेतदाश्चर्य्यवत् । तदीयचिच्छक्तिरनाद्यनुत्पत्तिः । एषां वस्तुतश्चिद्विभूतिस्वरूपत्वात् । तदित्थं चित्प्रभावगतपराशक्तेः संधिनीसंविद्ह्लादिनीनां भावानां विचारः समाप्तः ॥

इति चित्प्रभावचतपरशक्तिभावत्रयोल्लासः ।

———

अथ जीवप्रभावगतपरशक्तिभावत्रयोल्लासः ।

अथ जीवभावगतपराशक्तेः सन्धित्यादिभावानां विचारः प्रस्तूयते । तथा हि—भगवदिच्छावशादचिन्त्यपराशक्त्या तया चित्कणस्वरूपाः सर्वे जीवाः सृज्यन्ते । तेषां च जीवानां स्वातंत्र्यग्रहणपूर्वकं भिन्नतत्वरूपेणावस्थानाज्जीवसत्तासहकृता भगवद्विलासाश्चिद्विलासतो भिन्ना निगद्यन्ते । एवं हि श्रीकृष्णश्चित्सूर्य्यस्वरूपः तदीयकिरणपरमाणुस्वरूपाश्चते सर्वतः प्रसृता अतुल्या जीवनिचयाः सर्वे सर्वतो ऽदयन्ते । अत एव कृष्णधर्म्मास्तेषु स्वभावत एवोपलभ्यन्ते । तदुक्तम्—

परमाणुसमा जीवाः कृष्णार्ककरवर्तिनः ।
तत्र तेषु कृष्णधर्म्माणां सद्भावो वर्त्तते स्वतः ॥१॥
समुद्रस्य यथा बिन्दुः पृथिव्या रेणवो यथा ।
तथा भगवतो जीवे गुणानां वर्तमानता ॥२॥
ह्लादिनी संधिनी संवित् कृष्णे पूर्णतमा मता ।
जीवेत्वणुस्वरूपेण द्रष्टव्याः सूक्ष्मबुद्धिभिः ॥३॥

यद्यपि सर्वेष्वेव जीवेषु स्वातन्त्र्यमेव दत्तं भगवता तथापि मङ्गलाकाङ्क्षिणां भद्रजीवानां शक्तयः स्वभावेन कृष्णेच्छानुगता एव । येतु हिताहितबोधे मूढाः स्वयं भोगरता भवन्ति ते चिच्छक्त्यनुगता एव स्वगतजीवशक्तिवशंवदा दुर्निवारेऽस्मिन् प्रपञ्चे कर्म्ममार्गेषु भ्रमन्ति । तत्र च कर्म्ममार्गेषु भ्रमत्सु जन्तुषु परमात्मरूपेण स्वयं भगवान् लीलया वर्त्तते ।

एषा जीवेशयो लीला मायया वर्त्ततेऽधुना ।
एकः कर्म्मफलं भुङ्क्ते परस्तत्फलदायकः ॥

अथ जीवप्रभावगतपराशक्तिः सन्धिनीभावं प्राप्य यदा सत्तारूपिणी भवति ततः, स्वर्गादीन् यावतः परलोकान् सृजति। कर्म्म-कर्म्मफल-दुःखसुखपापपुण्यानि सर्वविधाशापाशाश्च सन्धिन्यैव प्रसूयन्ते। लिङ्गशरीरस्य पारक्यधर्म्मा अपि तद् द्वारैव सृज्यन्ते।

अथ जीवप्रभावगता पराशक्तिः संविद्भावं प्राप्य ईशज्ञानं प्रकाशयति। येन जीवात्मन्यपि परमात्मा लक्ष्यते। यत्तु चित्प्रभावगतपराशक्तिः संविद्रूपं प्राप्य निर्विशेषावस्थायां ब्रह्मज्ञानं प्रकाशयति तदपेक्षया ईशज्ञानं भिन्नं क्षुल्लकं च। जीवगतसंविदैव तु जीवानां माया घृणात्मकं वैराग्यमुदेति। तदुद्रेकक्रमेण च पुनः कदाचिद्ब्रह्मात्मानन्दापेक्षया परमात्मानन्दमुत्कृष्टतममभिज्ञाय परमात्मनि स्वलयेच्छां बाढं वितनुते।

अथ जीवप्रभावगतपराशक्तिर्ह्लादिनीभावं प्राप्य ईशभक्तिं प्रकाशयति। सा चेश्वरीयमायिकभावं प्रतिक्षिप्य तन्निराकारतां द्रढयति। चिच्छक्तिरतितस्तु विभिन्नैवेशभक्तिः। ईशभक्तेः स्वभावत एव शुष्कतया प्रीतिरूपत्वासंभवात्। ईशभक्ता हीश्वरं प्रति यत्प्रार्थयन्ति तत्कृतज्ञताभावं पुरस्कृत्यैव नतु अहैतुकभक्तिसंवलितम्। सर्वदैव तु संसारोच्छेदाभिलाषयालीढानां तेषां कदाचिदेव वैराग्यमप्युदेति। ईशभक्त्या च लोकितानां तेषां भावबाहुल्यवशात् कदाचिदश्रुपातोऽपिभवेत्, अथापि परात्परे चिद्विलासिनि श्रीकृष्णे तु भावो नैवोदियात्। ये तु पुनर्जीवशक्तिगतह्लादिन्याः क्षुद्रानन्दमपर्य्याप्तं ज्ञात्वा निर्विशेषब्रह्माविर्भावं चासंपूर्णं मत्वा चित्प्रभावगतपराशक्त्या सह कृष्णलीलामेवोपादेयतयाऽभिमन्वते तत्र रमन्ते च। त एव परमानन्दाधिकारिणश्चिच्छक्तिपालिता भगवद्दासाः।

इति जीवशक्तिविचारः।

इति जीवप्रभावगतपराशक्तिभावत्रयोल्लासः।

अथातो मायागताः सन्धिनी संवित्-ह्लादिनीभावा निरूप्यन्ते।

मायाप्रभावगतपरा शक्तितः एव सर्वेषां जडजातानामुत्पत्तिः। सा ह्यावरणात्मिका मोहजननी चिद्धर्म्मपरिवर्तकारिणी जीवशक्तिगतपरमात्मनः परिचारिका च। मायाधर्म्माणां सूक्ष्मेक्षिकया निरीक्षणेन स्पष्टमिदमनुभूयते यदियं मायैव सृष्टिमध्ये सर्वतोऽधमतत्त्वम्। यतो जीवसम्बन्धेऽमङ्गलानां यावतामपि मायाजनितत्वात्। तद् सत्वे हि भगवद्बहिर्मुख्यात्मकमधःपतनं जीवानां कदापि न घटेत। अत एव तु बहवस्तत्रेत्थमातिष्ठन्ते — नैषा माया पारमेश्वरी शक्तिरिति। परमेश्वरस्य सर्वमङ्गलमयत्वादपापविद्धत्वाच्च। परन्तु ये पुनरीश्वरमेव सर्वकर्त्तारं सर्वनियन्तारं स्वीकुर्वते तेषां मते किमपितत्त्वमीश्वरविरोधि भवितुं न शक्नोति। अत एव तेषां मते मायया भगवच्छक्तेः चिच्छक्तिमनपेक्ष्य स्वाधीनता नास्ति। भगवत्से वाक्रमे विपरीतधर्म्मं प्रायमाया चिच्छक्तेर्नितान्तमनुगता। तदुक्तम्—

चिच्छक्तेः प्रतिबिम्बत्वान्मायाया भिन्नता कुतः ।
प्रतिच्छाया भवेद्भिन्ना वस्तुतो न कदाचन ॥१॥
तस्मान्मायाकृते विश्वे यद्यद्भाति विशेषतः ।
तत्तदेव प्रतिच्छाया चिच्छक्तेर्जलचन्द्रवत् ॥२॥

माया सत्ता, विचारेणेदमवस्थीयते । यत्पराशक्तेश्चित्प्रभावगतविशेषैर्निर्म्मितस्य वैकुण्ठस्य प्रतिच्छायारूपमिदं विश्वम् । यथा जलचन्द्रः । इदं तु बोध्यम् । जलचन्द्रवद्विश्वस्य तु मिथ्यात्वं नास्ति । पराशक्तिप्रभावरूपाया मायायाः सत्यत्वेन तद्रचितस्य विश्वस्यापि सत्यत्वात् । तदिदं मायाप्रसूतं जगत्प्रपञ्च इत्युच्यते । स च प्रपञ्च ईशलीलाप्रभावेण जीवानां बन्धने समर्थते यथा वस्तुतः शुद्धभावत्वं छायायां न दृश्यते किन्तु हेयत्वमनुभूयते—

मायाप्रभावगतपराशक्तिः सन्धिनाभावं प्राप्ता देशबुद्धिं वितनुते । सा च देशबुद्धि-र्जडभावापन्ना प्रपञ्चवर्त्तिनी तत्प्रकाश्यधर्म्मा आकृतिर्विस्तृतिश्च । यदि चिन्तापूर्वकं वैकुण्ठो निर्णे शक्यते अवश्यं तर्हि मायिकदेशबुद्धिगताकृतिविस्तृतयस्तत्रारोपिताः संभवेयुः किन्तु सर्वयुक्तिपथातीतसमाधियोगेन वैकुण्ठतत्त्वोपलब्ध्या मायागतदेशकालौ तत्र स्थानं न प्राप्नुतः । वस्तुतश्चिद्विलासधामरूपे वैकुण्ठे या आकृतिविस्तृतयस्ताः समस्ता-श्चिद्गतामङ्गलमयतत्प्रतिफलनरूपा एव चास्मिन् जडजगति सर्वा आकृतिविस्तृतयः प्रसिध्यन्ति । इति दिक् ।

इत्थं चैवविधवेदवचनोपनीतसूक्ष्मदृष्टिभ्यः पौराणिकमहर्षिपरमोपदेशेभ्यः साम्प्रदा-यिकभक्तिप्रवणविचक्षणसूक्ष्मविचारेभ्यश्चैतत्पारम्परिकाव्याहतैकतत्त्वानुसन्धानमाहात्म्याद-स्य कृष्णस्यैकान्ततः परमोपास्यत्वमावेदितं भवति ।

इत्यौपासनिकमुपास्यकृष्णरहस्यम् ।

———

ताभिरेताभिः षोडशकलाभिरयं वासुदेवकृष्णः संपन्नतमो विज्ञायते तदित्थमयं मानुषः कृष्णः क्रमाच्चतुर्विंशैर्भावैः सपरिकरं व्याख्यातः ॥ ईदृशा लौकिकमहापुरुषोपदिष्ट-त्वादस्य गीतायोगशास्त्रस्यासाधारणसत्यविज्ञानप्रकाशकत्वं बोध्यम् ॥×॥

इति गीताचार्य्यकाण्डे मानुषकृष्णरहस्यं नाम द्वितीयं प्रकरणम् ।

अथ दिव्यकृष्णरहस्यम् ।

कृष्णत्रैविध्ये मानुषः कृष्णो दिव्यः कृष्णो गीताकृष्ण-इति हि ते त्रयः कृष्णा भवन्ति । तेषु पूर्वं मानुषः कृष्णो व्याख्यातः । अथातो दिव्यः कृष्णो व्याख्यातव्यः । सर्वाकाशव्यापी सर्वजगज्जनकः सर्वजगन्नियन्ता सर्वजगदन्तर्निगूढः कश्चिदपूर्वोऽर्थः सत्यः । स दिवि सर्वत्र व्याप्तोऽस्तीति दिव्यः । सर्वत्र विद्यमानोऽपि प्रकाशो नास्तीति कृष्णः । तस्मादेव सत्यादिदं विश्वमुदपद्यत । तदुक्तम्—

> "यस्य प्रतिष्ठोर्वन्तरिक्षं यस्माद्देवा जज्ञिरे भुवनं च सर्वं ।
> तत सत्यमचंदुपयज्ञं न आगाद् ब्रह्माहुतीरुपमोदमानम्" ॥इति॥

तस्यैतस्मिन् सृष्टिविधौ क्रमतस्त्रीणि पर्वाणि भवन्ति—अमृतसत्यं—ब्रह्मसत्यं-प्रजापतिसत्यमिति । परात्परश्च पुरुषश्चेत्यमृतसत्यम् । पञ्चधा प्रकृतिर्ब्रह्मसत्यम् । ईश्वरश्च जीवश्चेति प्रजापतिसत्यम् । इति । तदिदं त्रिसत्यं दिव्यः कृष्णः ॥

त्रिसत्यं दिव्यकृष्णः
१—अमृतसत्यम्
१ परात्परकृष्णः
२ पुरुषकृष्णः
२—ब्रह्मसत्यम्
३ स्वयंभूकृष्णः
४ परमेष्ठिकृष्णः
५ चाक्षुषकृष्णः
६ वैहायसकृष्णः
७ विश्वम्भरकृष्णः
३—प्रजापतिसत्यम्
८ ईश्वरकृष्णः
९ जीवकृष्णः

(१)

त्रिसत्ये दिव्यकृष्णरहस्ये अमृतसत्यम् ।

१—परात्परकृष्णः ।

तत्र तावदमृतसत्यो व्याख्यायते । यजुः श्रुतौ श्रूयते—

"किं स्विद्वनं क उ स वृक्ष आस यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः ।
मनीषिणो मनसा पृच्छतेदु तद् यदध्यतिष्ठद् भुवनानि धारयन् ॥
ब्रह्म वनं ब्रह्म स वृक्ष आस यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः ।
मनीषिणो मनसा विब्रवीमि वो ब्रह्माध्यतिष्ठद् भुवनानि धारयन्" ॥इति॥

किं तद् ब्रह्म ? "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" । यदिदमनादिकालादनन्तकालमपरिमितं ह्रीदं सर्वमस्ति च भाति च तद् ब्रह्म । "रसो वै सः । रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति । कोह्येवान्यात् । कः प्राण्याद् यदेष आकाश आनन्दो न स्यात् ।" अस्तीति प्रतिपत्तिहेतू रसः सत्यम् । भातीति प्रतिपत्तिहेतू रसो ज्ञानम् । भूमेत्यनन्तम् । एको ऽयमर्थो न त्रैधम् । यदनन्तं सत्यं ज्ञानं तद् ब्रह्म ॥

"प्रत्यस्ताशेषभेदं यत् सत्तामात्रमगोचरम् ।
वचसामात्मसंवेद्यं तज्ज्ञानं ब्रह्मसंज्ञितम्" ॥

"एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म । एकं वा इदं विबभूव सर्वम् । सर्वं खल्विदं ब्रह्म । ब्रह्मैवेदं सर्वम्" । इति ज्ञानं च भवति विज्ञानं च । अपि चान्ये निगमा द्रष्टव्याः ।
"आत्मा वै सत्यनामासि ।................। सत्यं हि प्रजापतिः । ४।१।६।२६।
प्रजापतिरात्मा । "स वा एष आत्मा वाङ्मयः प्राणमयो मनोमयः । वाक् सत्यम् । प्राणः सत्यम् । मनः सत्यमिति त्रीणि सत्यानि" ॥
"वाग् वै ब्रह्म । तस्यै वाचः सत्यमेव ब्रह्म । ता वा एताः सत्यमेव व्याहृतयो भवन्ति । भूरिति वै प्रजापतिरिमामजनयत । भुव इत्यन्तरिक्षम् । स्वरिति दिवम् । एतावद्वा इदं सर्वं यावदिमे लोकाः । २।१।४। इति वाजिश्रुतिः ।

तित्तिरिश्रुतिरप्याह—

"प्रजापतिर्वाचः सत्यमपश्यत् । भूर्भुवः स्वरित्याह । एतद्वै वाचः सत्यम् । तै० ब्रा० १।१।२०।

मैत्रिश्रुतिर्यथा—

"भूर्भुवः स्वः—एतद् ब्रह्म । एतत् सत्यम् । एतद् ऋतम् । नवा एतस्माद् ऋते यज्ञोऽस्ति ।१।८।५। युक्तं चैतत् । ऋतसत्ययोर्हि योगो यज्ञः । अहृदयमशरीरमृतम् । सहृदयं सशरीरं

सत्यम् । वेदाः सत्यम् । अग्निः सत्यम् । पशवो ऽन्नमृतम् । आपो वायुः सोम इति ऋतानि । प्राणो वागन्नाद-इति त्रिविधा अग्नयः । अग्नौ हुतमन्नं यज्ञः प्रजापतिः । प्रजापतिर्वा इदं सर्वं यदिदं किञ्चेति । सोऽयं प्रजापतिर्ब्रह्मणश्चतुर्थो विवर्तोऽस्तीति विजानीयात् ॥

(५) चतुर्धा हीदं ब्रह्म व्यवर्तत--परात्परं, पुरुषः, प्रकृतिः, प्रजापतिश्चेति ॥ ता वा एता ब्रह्मणश्चतस्रः संस्था इष्यन्ते । "चतुष्टयं वा इदं सर्वम्"--इति निगमो भवति ॥

(६) तत्रेदं परात्परमदृश्यमनात्म्यं चानिरुक्तं चानिलयनं च¹ ॥ क्षराक्षराभ्यामिदमव्ययं परं ब्रह्म वक्ष्यामः । ततो-ऽपीदं परं भवतीति परात्परं नाम । परं ब्रह्मेदमव्ययमत्ति-स्वोदरे करोतीति वा परात्परं नाम । मायामितं हीदमव्ययं, मायया: परात्परप्रतीकविशेषोदयितया नानात्वादस्मिन् परात्परे ऽनेकानि तानि पृथक्त्वेन यत्र तत्र सन्निविशन्ते-इत्यव्ययगर्भित्वं परात्परस्योपपद्यते । अपिवा अमृतभवात् परो मृत्युभावः, तस्मात् परोऽमृतभाव-इति प्रस्परप्रतिद्वन्द्विभावद्वयसमुच्चयः परात्परो नाम ॥

(७) तच्चेदं परात्परममृतमृत्युभ्यां द्वैधातव्यं विद्यात् । ज्योतिः सदमृतम् । तमो ऽसन्मृत्युः । "असतो मा सद्गमय । तमसो मा ज्योतिर्गमय । मृत्योर्माऽमृतं गमय"—इत्याशंसा श्रूयते । तत्रेदममृतं तावत् सजातीयविजातीयस्वगतभेदशून्यमखण्ड, मनवयवं, दिग्देशाद्यनवच्छेदादनन्तं, भिन्नः खण्डवद्रूपः, सावयवः, परिच्छिन्नो, देशकालाभ्यां सान्तः संख्यया त्वनन्तो, ऽल्पदेशग्राही च । तद्दुःखं दुःखं, क्षणिकं क्षणिकं, स्वलक्षणं स्वलक्षणं, शून्यं शून्यमिति विद्यात् ॥

(८) "अन्तरं मृत्योरमृतं मृत्यावमृतमाहितम् ।
मृत्युर्विवस्वन्तं वस्ते मृत्योरात्मा विवस्वति इत्याह ।

अन्तरं मृत्योरमृतमिति बलभेदाद्विभिन्नरूपे तत्तदर्थे सत्ता रसः । मृत्यावमृतमाहितमिति चेतना रसः । ज्ञानं वा विषयेषु पर्य्याहितं भवति ॥

तत्र रसोऽमृतं बलं मृत्युः । रसः शान्तिर्बलं क्षोभः । रसश्च बलं चेति द्वयमविनाभूतत्वादेकभाव्यमिदं सर्वं यदिदं किञ्च पश्यामः । अत एवेदमेकैकमनेकभिन्नावस्थं दृश्यते । तत्रैतस्मिन्नेकभाव्ये यावदेय नानात्वमवस्थाभेदलक्षणं स क्षोभस्तद्बलं मृत्यो रूपम् । अथ यावदेकत्वमेकरसत्वमैकात्म्यं वा सा शान्तिः स रसो ऽमृतस्य रूपम् ॥ यद्यप्यत्र रसे ऽनन्ता विकारा बलक्षोभलक्षणाः प्रतिक्षणमनुवर्तन्ते समृद्धेस्तानि रूपाणि शान्तिभङ्गकराणि

---

¹यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयनेऽभयं प्रतिष्ठां विन्दते अथ सो ऽभयं गतो भवति । यदा ह्येवैष एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुते अथ तस्य भयं भवति ॥

संभाव्यन्ते तथापि प्रकृतिसिद्धानि स्वानि तानि रूपाणीति न विकारत्वेन गृह्यन्ते । अप्स्वनन्ता भङ्गा जायमाना अद्भ्योतिरिच्यन्ते किन्तु सत्स्वपि तेषु नापः स्वरूपाच्च्यवन्ते । उत्पन्नविनष्टेषु तेष्वापः शान्ता उपपद्यन्ते ॥ एवमिहैतानि बलान्युत्पद्यन्ते विनश्यन्तीति तान्येव भूयोभूयो विक्रियन्ते नालम्बनं स रसः । असंचरत एव तस्य सर्वासु भिन्नान्नासु बलावस्थासु स्वरूपेण विद्यमानत्वात् ।

(१) "नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ॥

(२) अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च ।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ॥

दारुणि रसः । ज्वलदङ्गारे रसः । दग्धाङ्गारे रसः । भस्मनि रसः । भस्मोत्सादे रसः । वायौ रसः । आकाशे रसः । प्राणे रसः । मनसि रसः । आत्मनि स्वरूपगतो रसः । रसस्थानि बलानि विक्रियन्ते न रसो विक्रियते । तस्य सर्वास्ववस्थासु अस्ति भाति प्रतिपत्तिहेतुत्वेन निर्विकारस्वरूपेण विद्यमानत्वात् । प्रकृतेरन्यथात्वं विकृतिः । उत्सादो विचलनमन्यथात्वं तद् भयम् । तदस्य नास्तीत्येतदभयं ब्रह्म ॥ अशान्तानीमान्यशेषाणि बलानि घोरसंचारिकुलालचक्रवत् सार्वात्म्येन परमं शान्तमैकभाव्यं रूपम् । प्रतिपन्थिबलद्वयघातोपपन्नस्य स्थेम्नो दर्पणस्थोपचितात्यन्तिकक्षोभसमरानुस्यूतस्य च स्थेम्नः परमशान्तैकभाव्यरूपेण दृष्टत्वात् । तथा चेह नित्याशान्तिगर्भिता परमाशान्तिरस्तीत्ययं बलवद्रसो नित्याशान्तैकान्तशान्तो विज्ञायते । तेनैतेनामृतेनाविनाभूतैर्निरुद्धाविरुद्धैर्नानाविधैरेतैर्मृत्युभिरविनाभूतममृतमुदासीनवदासीनमसक्तं सदिदमेकं ब्रह्माभयं नामोपपद्यते ॥

(१) अभयं परमाशान्तिर्विश्वातीतः परात्परः ।
अखण्डात्मा विविक्तात्मा निष्कलोऽसौ निरञ्जनः । १॥

(२) अन्यतः परमा भूमा परमश्चाणिमाऽन्यतः ।
यावद् भूमाऽणिमा यावत् स एकः परमेश्वरः ॥२॥

एष खलु परमेश्वरो वेदैकवेद्यो नात्यन्तं कृतप्रयत्नैरपि शक्यः साक्षात्कर्तुम् । "तम आसीत् तमसा गूढमग्रे ऽप्रकेतं सलिलं सर्व मा इदम्" इति श्रुतिप्रामाण्येन तस्य घोरेऽन्धकारे निगूढत्वात् । स एष परात्परो नाम सत्योऽनुपाख्यः कृष्णः । दृष्टिभ्रमात्परभावाभावतारतम्यानुरोधेन त्रिविधः कृष्णो विवर्त्यते–निरुक्तः, अनिरुक्तः, अनुपाख्यश्चेति तत्रायं मानसदृष्ट्याऽपि याथातथ्येन द्रष्टुमशक्यः परमेश्वरो ऽमृतसत्योऽनुपाख्यः कृष्णो विज्ञायते । सोऽयमस्मिन् मानुषे जगद्गुरौ कृष्णे महेश्वरादिद्वाराऽनुवर्तमानो द्रष्टव्यः । सोऽन्वेष्टव्यः । स विजिज्ञासितव्यः । सोऽनुध्यातव्यः । स उपासितव्यः ॥ ॥

इति परात्परकृष्णदृष्टिः ॥

२—पुरुषप्रकरणः ।

ईश्वरमहेश्वरविवेकः ।

(१) उक्तं विश्वातीतं ब्रह्म । अथ विश्वचरं ब्रह्म वक्ष्यामः ।

महाविश्वं-खण्डविश्वंचेति भेदाद्--द्विविधं विश्वम् । सहस्रवल्शोऽश्वत्थो महाविश्वम् । तस्यैका वल्शा खण्डविश्वम । प्रतिविश्वमीश्वरो नियन्ता पुरुषो भिद्यते । महाविश्वेश्वरो महेश्वरः पुरुषः । खण्डविश्वेश्वर ईश्वर इत्युच्यते । तत्र महेश्वरपुरुषस्य सार्वात्म्यं श्रूयते—

"यस्मात् परं नापरमस्ति किञ्चिद् यस्मान्नाणीयो नज्यायोऽस्ति कश्चित् ।
वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम् ॥१॥
पुरुष एवेदं सर्वं यद् भूतं यच्च भाव्यम् ॥
एतावानस्य महिमा अतो ज्यायांश्च पूरुषः"—इति ॥

विश्वापेक्षमिदमेतस्य पुरुषस्य व्यापकत्वं चैकत्वं च । महति महेश्वरस्यैकस्य, खण्डेत्वेकस्य खण्डेश्वरस्य पर्य्याप्त्या विद्यमानत्वात् । न्यूनवारिका इतरवारिका चेयं पर्य्याप्तिः । महेश्वरस्य तु खण्डविश्वपरोवरीणत्वमपि नापोद्यते । एकवल्शायाः सहस्रवल्शान्तर्भुक्तत्वात् ॥[१]

पुरुषलक्षणम् ।

(२) अमितस्य यतो निर्मितत्वव्यपदेशस्तद्बलं माया नाम । रसेऽमृते मृत्युर्बलमुदेति कालेन चापैतीति निसर्गः । तथाचासीमस्यैतस्य परात्परस्य प्रतीकविशेषे मायाबलोदयात् तदवच्छेदेनावच्छिद्यमानो रसः पुरुषः । पुरुधा स्यति परिच्छिन्नत्वादवसानमायाति स पुरुषः । यद्वा परिमितमायतनं पूः । पुरि वसतीति पुरुषः । अवच्छेदावच्छिन्नो बलवद्रसः पुरुषः । पुरनानात्वात् पुरुषनानात्वं सिद्धम । तस्यैकत्वं व्यापकत्वं च श्रुतिसिद्धं पुरसापेक्षं द्रष्टव्यम् । एकस्यां पुरि यावद्धर्म्मनियन्तृतया पुरुषस्यैवस्य पर्य्याप्त्या विद्यमानत्वात् ॥

---
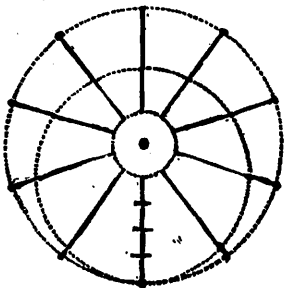
[१] सहस्रवल्शाश्वत्थतनुर्महेश्वरः ।
अश्वत्थैकवल्शातनुरीश्वरः । पञ्चपुण्डीरः ॥
अश्वत्थः पुरुषोत्तमः (अव्ययपुरुषः)
इति विधानपारिजात १ स्तवके अश्वत्थ
स्तोत्रे अश्वत्थस्याव्ययत्वस्मृतिः ॥

महामाया योगमाया विवेकः ।

(३) महामायायां निसर्गतो योगमायोदेति । यस्या उदरे पुनर्मायोदयः सा महामाया । माया गर्भगता या माया सा योगमाया । सा त्रिविधा--शैवी, वैष्णवी, ब्राह्मी च । तत्र ब्राह्मी पुरुषे पुरुषान्तरं जनयति । अथ वैष्णवी माया पुरुषे प्रजावित्तादीन विकारपरिग्रहान जनयति । अथ शैवी पुरुषे गुणकलादीन धर्म्मान् जनयति । तथा चैष महेश्वरश्चेश्वरश्च पुरुषः स्वमायागतया ब्राह्मया योगमायया त्रिविधबलावच्छेदावच्छिन्नस्त्रैधातव्यो भवति अव्ययः, अक्षरः, क्षरश्चेति । ते हीमे त्रयो धातवस्तादर्थ्यात् तच्छब्द्यमिति पुरुषा एवोच्यन्ते । यथाह भगवान्—

"द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च ॥
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥१॥
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः, परमात्मेत्युदाहृतः ॥
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥२॥
यस्मात् क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः" ॥३॥ इति॥

अव्ययमालम्बनं परं ब्रह्म । अक्षरो नियन्ता परमं ब्रह्म । क्षरो भूतयोनिर्महद्ब्रह्म ।

(४) तत्र तावदव्ययमाहुः —

"न तस्य कार्य्यं करणं च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते ।
परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च ॥१॥

सदृशं त्रिषु लिङ्गेषु सर्वासु च विभक्तिषु ।
वचनेषु च सर्वेषु यन्नव्येति तदव्ययम् ॥२॥
नैनं वाचा स्त्रियं ब्रुवन् नैनमस्त्री पुमान् ब्रुवन् ।
पुमांसं न ब्रुवन्नेनं वदन् वदति कश्चन ॥३॥ ऐ. आ. २।३।
नैव स्त्री न पुमानेष न चैवायं नपुंसकः ।
यद्यच्छरीरमादत्ते तेन तेन स युज्यते ॥४॥
एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम ।
एतदालम्बनं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्" ॥५॥ इति ॥

(५) ईश्वरस्य च जीवस्य भवत्यात्मायमव्ययः ।
आत्माधीनं जगत् सर्वं यथात्मा मे तथा जगत् ॥१॥
आनन्दविज्ञानमनो वाक् प्राणा अव्यये कलाः ।

एतावदेव सर्वस्य विद्या कामश्च कर्म्म च ॥२॥
न कर्मणा विना किञ्चित् कर्म प्राणानुसारतः ।
न विना क्रतुना कर्म्म न कामेन विना क्रतुः ॥३॥
न ज्ञानेन विना कामो ज्ञानं नानन्दतो विना ।
यावदानन्दमाप्नोति तावत् कर्म्म करोति हि ॥३॥
ज्ञानजन्या भवेदिच्छा इच्छाजन्यः क्रतुर्भवेत् ।
क्रतुजन्यं भवेत्कर्म सर्वमानन्दतो भवेत् ॥५॥
पञ्चैतान्यात्मनोऽन्नानि भुङ्क्तेऽन्नं स प्रतिक्षणम् ।
तस्यानन्दः परं रूपं कर्म्मास्यानन्दभुक्तये ॥६॥

(६) मनोमयः प्राणशरीरनेता प्रतिष्ठितोऽन्ने हृदयं संनिधाय ।
तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीरा आनन्दरूपममृतं यद्विभाति ॥

एष पुरुषोऽन्नरसमयः । तस्मादन्योऽन्तर आत्मा प्राणमयः । तेनैष पूर्णः । तस्मादन्यो-ऽन्तर आत्मा मनोमयः । तेनैष पूर्णः । तस्मादन्योऽन्तर आत्मा विज्ञानमयः । तेनैष पूर्णः तस्मादन्योऽन्तर आत्मा आनन्दमयः । तेनैष पूर्णः । तस्यैष एव शरीर आत्मा यः पूर्वस्य ॥

(७) सर्वाधारोऽयमव्ययः । यथाह—

"भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः ।
यस्यान्तः स्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम् ॥१॥
"मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ॥
मत्त एवेति तान् विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि ॥२॥
यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान् ।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय" ॥३॥ इति ।

अव्ययस्यालम्बनत्वादव्ययधातवः पञ्च कोशा इष्यन्ते—

१—पृथ्वी, जल, तेजो, वायु, वाङ्मयानां सर्वेषामन्नभेदानां—वागवच्छेदेन ।
२— आम्भस, माहस, नाभसाग्नेय, सौम्यानां सर्वेषामवरप्राणानां—प्राणावच्छेदेन ।
३—काम, संकल्प, विचिकित्सा, श्रद्धा, प्रज्ञा, संज्ञादीनां मनःप्रभेदानां—मनोऽवच्छेदेन ।
४—प्रज्ञा, मेधा, तर्क, धी, विमर्शादीनां विज्ञानप्रभेदानां—विज्ञानावच्छेदेन ।
५—शान्ति, समृद्धि, प्रेम, तृप्ति, संतोषामोद, प्रमोदादीनामानन्दावच्छेदेनालम्बितत्वात् ॥

यत्तु शङ्करभिक्षुरन्तरान्तरीभावेन संनिविष्टानामेषां पञ्चकोशानामनात्मत्वं मन्यते सवकोशान्तरतमस्य तु कस्यचिदग्राह्यस्यात्मत्वमभिप्रेति तदनास्थेयम् । "मत्स्थानि सर्वभूतानि

न चाहं तेष्ववस्थितः"। "नत्वहं तेषु ते मयि" इत्येवमभ्यासेन कोशनिरूपिताधेयताया आत्मनि प्रत्याख्याततत्वात् । आत्मनः सर्वजगदाधारत्वाभ्युपगमौचित्याच्च ॥ यद्यपि "सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि" ६।२६ "यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति" ६।३०। इत्येवमाधेयत्वमात्मनः स्मर्य्यते । ततः पञ्चकोशान्तरतमस्यात्मत्वं न विरुध्यते--इति केचिदाहुस्तदपि तुच्छम् ।

"यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान् ।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय" ॥ ॥

इत्यवमाकाशसादृश्येनाव्ययस्य सर्वधारत्वविवक्षणादाकाशवद् व्यापकस्यास्य सर्वेष्वनुस्यूतत्वोपपत्तावपि-अन्नमयप्राणमयादिप्रमितकोशपरम्पराभ्यन्तरतमत्वविवक्षायां व्यापकत्वहानौ सिधान्तविरोधापत्तेः । व्यापकत्वविवक्षया सर्वाधारत्वाभ्युपगमे तु व्यापकस्यापि कार्त्स्न्येन प्रमितधर्म्मधारणायोगात् तत्तत्कलाप्रदेशावच्छेदेन तत्तदर्थधारणाभ्युपगमस्य युक्तिसहत्वमुपपद्यते । तस्मादस्तु सर्वालम्बनस्य कलानां कोशत्वमिति सर्वं समञ्जसम् ॥

व्याख्यातोऽयमव्ययः ।

अथाक्षरमाहुः—"एतद्वै तदक्षरं ब्राह्मणा अभिवदन्ति—

"अस्थूलमनणु । अह्रस्वमदीर्घम् । अलोहितमस्नेहम् । अच्छायमतमः । अवाय्वनाकाशम् । असङ्गम् । अरसमगन्धम् । अचक्षुष्कमश्रोत्रम् । अवागमनः । अतेजस्कमप्राणम् । अमुखममात्रम् । अनन्तरमबाह्यम् । न तदश्नाति किञ्चन, न तदश्नाति कञ्चन । एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने सूर्य्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः । द्यावापृथिव्यौ विधृते तिष्ठतः ॥ एतदक्षरमदृष्टं द्रष्टृ । अश्रुतं श्रोतृ । अमतं मन्तृ । अविज्ञातं विज्ञातृ । नान्यदतोस्ति द्रष्टृश्रोतृमन्तृविज्ञातृ । एतस्मिन्नु खल्वक्षरे आकाश ओतश्च प्रोतश्च" ॥ इति ॥"॥

"यथा सुदीप्तात् पावकाद् विस्फुलिङ्गाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः ॥
तथाऽक्षराद् विविधाः सौम्य भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति ॥१॥
यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते 'च' यथा पृथिव्यामोषधयः सं भवन्ति ।
यथा सतः पुरुषात् केशलोमानि तथाक्षरात् संभवतीह विश्वम्" ॥२॥ इति ॥

अथ क्षरमाहुः—"भूतं भविष्यत्प्रस्तौमि महद् ब्रह्मैकमक्षरं बहु ब्रह्मैकमक्षरम्" । इति ।

"मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम् ।
संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥१॥

सर्वयोनिषु कौन्तेय ! मूर्तयः संभवन्ति याः ।

तासां ब्रह्म महद्‌योनिरहं बीजप्रदः पिता" ॥२॥ इति ।

आनन्दो विज्ञानं मनः—इति विद्याभावः । विज्ञानं मनः प्राणः—इति कामभावः । मनः प्राणोवागिति कर्म्मभावः । तदित्थं विद्याकामकर्मैतत् त्रिधातुकेऽस्मिन्नव्ययभावे विद्यविद्यामयः, कर्म्मशुक्रमयश्चायमन्यो भावो विद्याकामकर्म्मभिरेवाव्ययधर्म्मैर्धर्म्मी भूत्वावलम्बते । स एक एव सन् द्वेधोपपद्यते—अमृतं मर्त्यं चेति । "अर्द्धं वै प्रजापतेरात्मनो मर्त्यमासीद‌र्द्धममृतम्" इति निगमात् । यावदमृतं तद् विद्यामयं भवति तत्राक्षरशब्दः । न क्षरति तृणक्षीरादिवन्न विकुरुते सोऽक्षरः ।

अथ यन् मर्त्यं तदविद्यामयं भवति ! तदपूर्व रूपं गृहीत्वा पूर्वस्माद्रूपात् क्षरति । यथा तृणग्रासो गवामुदराग्निना परिपक्वस्तृणत्वाद् विच्युत्य क्षीरतामायाति । यथा वा शब्दस्पर्शरूपरसगन्धा आधिदैविकाधिभौतिकाध्यात्मिकब्रह्मसंयोगजन्मानस्तात्कालिका भावाः संयोगव्यपाये स्वरूपात् क्षरन्ति तस्मात् तत्र क्षरशब्दः । अक्षरो निमित्तकारणम् । क्षर उपादानकारणम् । अव्ययस्त्वयमसङ्गत्वान्नकारणं न कार्य्यम् । किन्त्वेतयोरविनाभावेन वद्यमानं तदव्ययमुभयोरक्षरक्षरयोरालम्बनं भवति । उक्तं च श्वेताश्वतरे—

"द्वे अक्षरे ब्रह्मपरे त्वनन्ते विद्याविद्ये निहिते तत्र गूढे ।

क्षरं त्वविद्या ह्यमृतं तु विद्या विद्याविद्ये ईशते यस्तु सोऽन्यः ॥इति ।

क्षराक्षरयोरव्ययस्थतया क्षराक्षरोपजनिता विकारा मात्राभिरस्पृष्टमेव तमव्ययं स्पृशन्तीव । ज्योतिर्म्मयत्वाद्धीध्रं हीदमव्ययं प्रतिबिम्बग्राहि जलदर्पणवदनुग्राहकं भवति । अगृहीता एव ते विकाराः प्रतिबिम्बवद् गृहीता अत्र भासन्ते । विकारा एवैते तत्रोल्वणतया गृह्यन्ते विकाराश्रयस्त्वयमात्मा तत्रावृतो न गृह्यते । यथाह—

"यस्तूर्णनाभ इव तन्तुभिः प्रधानजैः स्वभावतः ।

देव एकः स्वमावृणोति स नो दधातु ब्रह्माव्ययम् ॥इति।

अत्रेदं बोध्यम् । मेघैरावृतं सूर्य्यं चक्षुर्न पश्यति स चक्षुषो दोषो न तु सूर्य्यः कदाचिदाव्रियते विक्रियते वा । चक्षुरेव त्वाव्रियते विक्रियते वा । एवमसङ्गोऽयमात्मा नाव्रियते न विक्रियते । तदुक्तम्—

सूर्य्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षु र्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः ॥

"यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशो नोपलिप्यते ।

सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते" ॥इति।

इन्द्रियवशवर्ती तु भूतात्मा प्रकृतिजनितैर्गुणविकारैः पापाभिराप्नियमाणस्तमात्मानं नेन्द्रियैः स्वरूपतो गृह्णाति । सोऽयं भूतात्मनो दोषो नाव्ययस्य परमात्मनः ।

"चतुष्टयं वा इदं सर्वमित्युक्तम्—परात्परः, पुरुषः, प्रकृतिः, प्रजापतिश्चेति । तत्रैतस्मिन् पुरुषविभागे त्रिषु पुरुषेष्वव्ययमव्ययः पुरुषः सर्वान्तरतमो गूढोत्माऽस्तीति न प्रकाशं याथातथ्येन गृह्यते । तेनायममृतसत्योऽव्यय आत्म ऽनुपाख्यः कृष्णो विज्ञायते । सोऽयमस्मिन् मानुषे जगद्गुरौ-कृष्णे परमेष्ठीश्वर द्वारा ऽनुवर्तमानो द्रष्टव्यः ॥ सो ऽन्वेष्टव्यः । स विजिज्ञासितव्यः । सोऽनु ध्यातव्यः । स उपासितव्यः ।

'आत्मा विशुद्धो दृष्टः सन् प्रसादमधिगच्छति ।
प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते ॥१॥

इति पुरुषकृष्णदृष्टिः ॥२॥

त्रिसत्ये दिव्यकृष्णरहस्ये ब्रह्मसत्यम् ।

त्रिसत्येऽमृतसत्यो व्याख्यातः । अथातः परं ब्रह्मसत्यो व्याख्यातव्यः । प्राणाः, आपः, वाक्, अन्नम्, अन्नादः—इति पञ्च प्रकृतयो ब्रह्माणि । तानीमानि पञ्चधा-विश्वसृड्जि, पञ्चजनानि, पुरञ्जनानि, पुराणि, पुरुषाश्चेति । धर्मान्तरैरसंसृष्टानि केवलस्वरूपाणि विश्वसृड्जि ।

एतैरेव पञ्चीकृतानि तानि पञ्चजनानि ।

"विश्वसृजः प्रथमः सत्रमासत सहस्रसमं प्रसुतेन यन्तः ।
ततो ह जज्ञे भुवनस्य गोपा हिरण्मयः शकुनिर्ब्रह्म नाम" (तै ब्रा० ३।१२।६।।)

प्राणः-वाग्-अन्नाद-इत्येवं त्रिधा विभक्तेष्वग्निषु अग्नीनामपामन्नानां चाहुत्या ब्रह्म-रूपाणि तेजो द्रव्याणि जायन्ते । तानीमानि त्रीणि भूतानि गुणाणुरेणु-स्कन्ध-सत्वभेदतः पञ्चधा विभक्तानि पुरञ्जनान्युच्यन्ते तैः पुरञ्जनैः पञ्च विधानि पुराणि । तेषु नगरान्तरव्यवच्छतात्मानः पुरुषाः संनिविशन्ते । पुरुषोपेतानि पुराणि विश्वरूपाणि भवन्ति ।।। तत्रैतानि पञ्च पुराणि प्रकृते व्याख्यातव्यानि ।।

१—स्वयंभू कृष्णरहस्यम् ।

१—ईश्वरशरीरभूतायामश्वत्थप्रवशयां स्वयंभुवः प्रथमत्वम् ।

स्वयंभूः, परमेष्ठी, सूर्य्यः, चन्द्रः, पृथ्वीत्येवं पञ्च पुण्डीरा हीयमेका ब्रह्माश्वत्थवंशा ईश्वरशरीरं भवति । तत्रायं प्रथमः स्वयंभूः । तथा चोक्तम्—

"प्रथमजं देवं हविषा विधेम स्वयंभूब्रह्म परमं तपो यत् ।
स एव पुत्रः स पिता स माता तपो ह यक्षं प्रथमं संबभूव" ।।।। इति ।

२—स्वयंभूब्रह्मणो मनःप्राणवाङ्मयसत्यलोकत्वम् ।

स एव स्वयंभूर्ब्रह्मा याजुषाग्निः कं-खं-रं संज्ञानां प्राणवाक्काशानां सत्यानां लोक इष्यते । तथाहि—"यच्च जूश्चेति यजुः" तत्र यदिति प्राणमाह । जूरित्याकाशवाचौ ।

अयं भावः । घटपटाद्यवच्छेदावच्छिन्ने तिरवच्छिन्ने वा कस्मिंश्चिदाकाशायतने प्रतिष्ठितोऽयमात्मा स्वरश्मिरूपान् प्राणान् सर्वतोऽभिसार्य्य तैरन्नं प्रगृह्यात्मसात् करोति अन्नं प्राप्य चोक्थादुत्थितोऽर्कः शाम्यति । अतएवोपनिषदि—

"अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत् ।
तद्धावतो ऽन्यानत्येति तिष्ठत् तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति" ।।

आत्मविश्वयोर्भेदव्यवहारे हेतुः ।

इदमत्रापरं बोध्यम् । विश्वस्य तदात्मनश्चैवं समानोपादानत्वेऽपि आत्मभावक्रमे मनसः प्राधान्यं, विश्वभावक्रमे तु वाच इति विशेषः । अव्ययवागधिष्ठितप्राणमयं श्वोवसीयसं मन आत्म रूपम् । मनोमयप्राणगर्भिता तु वाग् विश्वरूपम्—इति । उपादानतस्तु नेदं विश्वमात्मतो भिद्यते । आत्मैवेदं सर्वमिति विजानीयात् ।

अपौरुषेयवेदस्य सर्वजगद्व्यापकत्वम् ।

तदित्थं विश्वात्मनां विश्वभावानां चाविशेषेण वेदसंज्ञकमनोमयप्राणगर्भितवाक्त्वोपगमादस्य स्वयंभुवः सकाशान्मनः प्राणवाचां वेदानामपौरुषेयाणां पृथ्वीपर्यन्तं सर्वभूतेष्वाहुतिर्विज्ञायते । एष एव हि स्वयंभुवो विश्वस्मिन् प्रयोगः । सैषा मानसी सृष्टिर्व्याख्याता ॥

स्वयंभूप्रजापतेरिच्छया परमेष्ठिप्रजापतेः प्रादुर्भावः ।

अथैतस्मात् स्वयंभुवोऽनन्तरं परमेष्ठी प्रजापतिरजायत । तथाहि श्रूयते—

"पुरुषः प्रजापतिरकामयत—भूयान् स्यां प्रजायेयेति । सोऽश्राम्यत् स तपोऽतप्यत—स श्रान्तस्तेपानो ब्रह्मैव प्रथममसृजत त्रयीमेव विद्याम् । सैवास्मै प्रतिष्ठाऽभवत् । तस्यां प्रतिष्ठायां प्रतिष्ठितोऽतपध्यत । सोऽपो सृजत वाच एव लोकात् । वागेवास्य साऽसृज्यत । सेदं सर्वमाप्नोत् तस्मादापः । सोऽनया त्रय्या विद्यया सहापः प्राविशत् । तत आण्डं समवर्तत" । (शत० ६।१।१।१०।) इति ।

"स ऐक्षत प्रजापतिः—इमं वा आत्मनः प्रतिमामसृक्षि—यत् संवत्सरमिति । ता वा एताः प्रजापतेरधिदेवता असृज्यन्त—अग्निः, इन्द्रः, सोमः, परमेष्ठी, प्राजापत्यः । स आपोऽभवत् । आपो वा इदं सर्वम् । ता यत् परमे स्थाने तिष्ठन्ति । यो ह्याभिखनेत्—अप एवाभिविन्देत्—परमाद्वा एतत् स्थानाद्वर्षति यद्दिवः—तस्मात्परमेष्ठी नाम । शत० ११।६।१६।

"यज्ञो वा आपः" शत० १।१।१।१२। "यज्ञो वै विष्णुः" कौ । इत्यादिना आपोमयस्यैतस्य परमेष्ठिनो विष्णोः सर्वहुद् यज्ञत्वं प्रतिपद्यते । स्वयंभूवदेवेदं सर्वमत्राहूयते सर्वेषु चायमाहूयते । तस्मादेष सर्वहुन्नाम यज्ञः । तदिदमापोमयं पारमेष्ठ्यमण्डलम् । ऋतरूपा चैषाम्भृणीवाक् । भार्गवी वा । "ऋतमेव परमेष्ठीत्युक्तत्वात् । सैषा द्वितीया संस्था । इयं हि योनिः सर्वेषां स्थावरजङ्गमानाम् । तथा चोक्तम्—"मम योनिर्महद् ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्" इति । तस्माद्वा एतस्मात् सर्वहुद्यज्ञात् पुनरन्ये चत्वारो वेदाः स्वयंभूवत्

प्रादुर्बभूव । तदुक्तम्—

"तस्माद् यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे ।

छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद् यजुस्तस्मादजायत" इति । (यजु:)

स एष गायत्रीमातृको मूर्तिवेदः स्वयंभूनिश्वसितात् पूर्वस्मात् पौरुषेयात् प्रतिष्ठावेदाद् भिद्यते । पौरुषेयो ऽयं वेदः—"यज्ञपुरुषादध्यजायत" इति श्रवणात् । सो ऽयं वेदो वायुसमुद्रलक्षणापोमयशरीरस्य हिरण्यगर्भस्य विष्णोर्हृदयेऽवस्थितं भगवन्तं सूर्य्यमन्वाभक्तस्तपति । "त्रयी वा एषा विद्या तपतीति श्रवणात् । अपिचाहुः—

"या सा वाग् असौ स आदित्यः मण्डलमेव ऋक् । अर्चिः साम । पुरुषो यजूंषि" इति)

"ऋग्भ्यो जातां सर्वशो मूर्तिमाहुः सर्वा गतिर्याजुषी हैव शश्वत् ।

सर्वं तेजः सामरूप्यं ह शश्वत् सर्वं हीदं ब्रह्मणा हैव सृष्टम्" इति श्रुतेः ।

तदिदमापोमयपरमेष्ठिमण्डलं हृदयस्थं हिरण्मयं सूर्य्यमण्डलं हिरण्यगर्भस्य विष्णोः संस्थोपपद्यते । सैषा तृतीया संस्था वागग्निमयी ।

अथैतस्यां वागग्निमय्यां सूर्य्यज्योतिः संस्थायामन्नादाग्निमयीयं पृथ्वी प्रजायते । तथाहि—सूर्य्यरश्मिगता आपो मरीचय उच्यन्ते । तासु परस्परसंघर्षकृयामूर्च्छिताः सौरप्राणवायवो रूक्षत्वादद्भ्यः स्निग्धाभ्यो विरुद्धस्वभावा वृद्धदरूपमापन्नाः परस्परोपमर्दाद् रूक्षस्निग्धतोभयसमन्वयाद् वायुगर्भितास्ता आपः क्रमेण—आपः, फेन, ऊषः, सिकता, शर्करा, अश्मा, अयो हिरण्यम् इत्यष्टाभिरक्षरैर्विपरिणमिताः पृथुतामागत्य पृथ्वीत्याख्यां लभन्ते ।

अद्भ्यः पृथ्वीति हि सृष्टिविदां सिद्धान्तः । इत्थमापोवायुमैथुनजन्माऽयमष्टावयवो ऽग्निर्मर्त्यो दृश्यते । स एव चित्याग्निः । पृथ्वीपिण्डमारभ्य सूर्य्यविम्बपर्य्यन्तं पञ्चधा चीयमानत्वात् । तदन्तर्गतः पुनरन्यो ऽयमन्नादाग्निः प्रकृतिसिद्धो नित्यः प्राणात्मा । स एष चितेनिधेयोऽग्निः । अस्मिन्नेव भूते प्राणाग्नावन्नादे ऽनवरतमन्नानि हूयन्ते । सोयं यज्ञपुरुषो वृषभारूढो भगवान् महादेवः । पशवो हि तान्यन्नानि यज्ञतश्चैतस्मादनवरतमेवैतानि भूतानि जायन्ते, रक्ष्यन्ते, संह्रियन्ते चेति कृत्वा स भगवान् पशुपतिश्च भूतपतिश्चाख्यायते ॥

अत्रेदमपरं बोध्यम् । यत्रायमत्ता चाद्यः सोमश्च समुच्चीयते तत्रायमत्तैवाख्यायते नाद्यमित्येतरेयश्रुतसिद्धान्तादेश सोमोऽप्यग्निगतोऽग्निरेवोपपद्यते नायं पृथगध्यवसीयते । उभयतो ऽग्निना परिगृहीतश्चाय सोमो ऽग्निभूयस्त्वादग्निरेवाख्यायते । तथा चैतयोरन्नान्नादभावयोरभेदेनोपसंग्रहणादयं महादेवः पञ्चमुखस्य ब्रह्मणश्चतुर्मुखत्वमुपकल्पयामास । पशुरन्नं स सोमः । श्रूयते हि—

"पशुरन्नं स सोमः । योऽयं वायुः पवते एष सोमः । अन्नं वै सोमः । एष वै देवानामन्नं यत् सोमो राजा" । श०. इति ॥

नान्तरेण सोमं सोऽग्निः स्वरूपं धत्ते । तस्मादनयोर्द्यावापृथिव्योर्मध्येऽन्तरिक्षे चन्द्रमा परिप्लवमानः पृथ्वीरूपमग्निमाप्याययति ।

१—सोमेन चन्द्रमसाऽयमन्नादाग्निरात्मा पृथ्वीशरीरो यज्ञं धत्ते स महादेवः ।

२—अथ-अद्भिः परमेष्ठिनाऽयं वागग्निरात्मा सूर्य्यशरीरो यज्ञं धत्ते स विष्णुः ।

३—एवमेव तु अविश्वमिन्वया विश्वविदा वाचाऽयं प्राणाग्निरात्मा स्वयंभूशरीरो यज्ञं धत्ते स ब्रह्मा ।

त्रयोऽप्येते यज्ञ प्रजापतयः । तेषां त्रीणीमानि विश्वरूपाणि, जीवशरीरे गात्रपर्वाणीवाश्वत्थैकवल्शाशरीरस्येश्वरस्य शरीरे गात्रपर्वाणि भवन्ति । तत्र यावदिदमधस्तनं रोदसी त्रैलोक्यं महादेवेनात्मनाधिष्ठितं तदुदरगुहालक्षणमन्नाधिष्ठानमिवस्यात् ।

अथ यावदिदं मध्यमं क्रन्दसी त्रैलोक्यं विष्णुनात्मनाधिष्ठितं तदुरोगुहालक्षणं प्राणाधिष्ठानमिवोपकल्प्यम् । अथ यावदिदं परमं संयती त्रैलोक्यं ब्रह्मणाऽऽत्मनाधिष्ठितं तच्छिरो गुहालक्षणं चेतनाधिष्ठानमिव नेयम् । अतएव —

"आत्मास्यजन्तोर्निहितो गुहायाम्"—इत्युक्तम् ।

इत्थं चेतनामादधानो मूर्द्धाऽयं स्वयंभूरीश्वरशरीरयष्टिमिमामश्वत्थैकवल्शां चैतन्यविभागेन, प्राणविभागेन, भूतविभागेन चानुगृह्णाति ।

इति स्वयंभूकृष्णरहस्यम् ॥

४—ब्रह्मसत्ये—परमेष्ठिकृष्णरहस्यम् ।

दिवः पृष्ठे परमेष्ठिस्थानम् ।

१—स्वयंभूः परमेष्ठी सूर्यश्चन्द्रः पृथ्वीत्येवं पञ्च प्रजापतयो ब्रह्माश्वत्थवल्शापुण्डीरा-ईश्वराधिष्ठात्मतया प्रदर्शिताः । तेष्वयं द्वितीयः परमेष्ठी यथा कृष्ण उपपद्यते तदाख्यास्यामः । एष खलु सूर्यमण्डलादुपरिष्टाद्दिवः पृष्ठे स्वयंभुवो ऽवस्तादवतिष्ठते । रोदसीसंस्थायाः परमे स्थाने तिष्ठतीति परमेष्ठी नाम ।

परमेष्ठिन आपोमूर्तित्वम् ।

२—यथासौ स्वयंभूः कं-खं-रं-संज्ञानां प्राणाकाशावाचां लोक एवमयं परमेष्ठी आपो वायुःसोमानां लोकः । परमेष्ठितो ह्येमे जायन्ते तमेवाश्रित्य तिष्ठन्ति । स एष यज्ञः प्रजापतिः सुब्रह्म । तस्यायं सुवेदः स्वेदो वा आवः । अप्सु चायं परमेष्ठिशब्दः श्रूयते—

"आपोऽभवन् । आपो वा इदं सर्वम् । ता यत् परमे स्थाने तिष्ठन्ति तस्मात्परमेष्ठी नाम" ॥ ११ ।१।६।१६। इति ।

ता आपः पुष्करपर्णं भूत्वा तेनैव रूपेणायमेकः पुरुषोऽभवत् । तथा च मन्त्रः श्रूयते—

"अश्वत्थे वो निषदनं पर्णे वो वसतिः कृता ।
गोभाज इत् किलासथ यत् सनवथ पूरुषम्" ।१०।९।७।५

अश्वत्थवल्शायां हि ता आपो गोसवत्वाद् गोभाजो दृश्यन्ते । पुष्करपर्णे चायमात्माऽधिशेते । स आपोमयत्वादेवायं प्रजापतिः परमेष्ठीनाम ।

परमेष्ठिनः परितः सप्तग्रहाः ।

३—क्रमेण वरुणो हंसः सविता ब्रह्मणस्पतिः ।
बृहस्पतिः सूर्य्ययमौ भ्रमन्ति परमेष्ठिनि ॥१॥
आपो वायुर्यमं सोमोऽङ्गिरा इन्द्रोऽवसानकृत् ।
अनुगच्छन्ति सप्तैते देवास्तं परमेष्ठिनम् ॥२॥
इन्द्रः सूर्य्यस्ततोऽधस्तान्मृत्युरूर्ध्वं ततोऽमृतम् ।
आयुर्दायं च मृत्युं च स प्रवर्तयते समम् ॥३॥
"आपो भृग्वङ्गिरोरूपमापो भृग्वङ्गिरोमयम् ।
अन्तरेते त्रयो वेदा भृगूनङ्गिरसः श्रिताः ॥४॥ (अथर्वः गोपथः)

परमेष्ठिन ऋतसत्योभयात्मकत्वम् ।

४—तदिदं परमेष्ठिमण्डलमृतं च भवति सत्यञ्च । अहृदयमशरीरत्वं हि ऋतशब्द-प्रवृत्तौ निमित्तमित्येतेषामापोवायुसोमानामङ्कदेन संकेतितानां तथात्वाद् ऋतत्वमुपपद्यते । ऋतमयत्वाच्चैष परमेष्ठा ऋतम् । तथा चाह—

"ऋतमेव परमेष्ठी ऋतं नात्येति किञ्चन ।
ऋते समुद्र आहित ऋते भूमिरियं श्रिता" ॥

अपि चैष सहृदयं शरीरं धत्ते । तस्मात् सत्यम् । आपो हि ता यदेष परमेष्ठी । ता आपः सत्यमसृजन्त । तत्सत्यमभवत् । तथाहि—

"कं स्विद् गर्भं प्रथमं दध्र आपः" इति जिज्ञासायां—
सत्यमेवाग्निलक्षणं प्रतिजानीते । अपि च श्रूयते—

"तद्यत् तत् सत्यम् । आप एव तत् । आपोह वै सत्यम । तस्माद् येनापो यन्ति निम्नं कुर्वन्ति तत् सत्यस्य रूपमित्याहुः । अप एव तस्य सर्वस्याग्रमकुर्वन् । तस्माद् यदैवा-पोयन्ति । अथेदं सर्वंजायते यदिदं किञ्च । श० ७।३।१।६।

यदि नापः सत्यं गर्भमधारयिष्यन् नेदं तर्हि सत्यं क्वचिदपि रूपमधारयिष्यत् । सर्वेषामेषां लोके सत्यभावानामद्भ्य एव मैथुन्या सृष्ट्या जनितत्वात् । आप एवैता जायाः सत्यो जनल्लोक उच्यते । तस्माद् ऋतञ्च भवति सत्यंचैष परमेष्ठी विष्णुः । अत एव महाभारते—

"स हि सत्यमृतञ्चैव पवित्रं पुण्यमेव च ॥१।१।२५३।
इत्येवमस्यविष्णो ऋतसत्यत्वमविशेषेणाख्यातम् ।

परमेष्ठिनो हिरण्यगर्भत्वम् ।

५—एष वा आपोमयः परमेष्ठी प्रजापतिः स्वगर्भेऽग्निमयं सूर्य्यं दिवि दृढं स्थिरं कुर्वन्नास्ते । तथाहि श्रूयते—

"मयि वर्चो अथो यशो अथो यज्ञस्य यत्पयः ॥ सामसं-आरण्यकां-अ-प्र-६।१२।५।
[1]परमेष्ठी प्रजापतिर्दिवि द्यामिव दृंहतु ॥ अथर्व सं-६।६६।३

दिवि आकाशे द्यां सूर्य्यप्रकाशमण्डलमिवेत्यर्थः ॥

"हिरण्मयेन सविता रथेना देवो याति भुवनानि पश्यन्" इति श्रुत्या सूर्य्यस्य हिरण्मयत्वाज्ज्योतिर्मयत्वात् तद्गर्भिणोऽस्य परमेष्ठिनो हिरण्यगर्भत्वविज्ञानम् ॥

---

[1] अथर्वसंहितायां परमेष्ठिशब्दस्थाने "तन्मयि" इति पाठः ॥ ६।६६।३॥

आपो वायुश्च सोमश्च ते स्निग्धा भृगवस्त्रयः" ।
तेजांस्यग्निर्यमादित्या हिरण्यं ज्योतिरुच्यते ॥५॥
ज्योतिर्गर्भो वेदगर्भो बहिरापोऽन्तरङ्गिराः ।
हिरण्यगर्भस्तेनासौ यज्ञो विष्णुरिति स्थितिः ॥६॥

परमेष्ठिनो विष्णुत्वम् ।

६—विष्णुत्वं परमेष्ठिनो यथोपपद्यते तद् ब्रूमः। परात्परप्रकृतिविशिष्टस्य षोडशिनः पुरुषस्य गर्भे-

'प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया ॥
"मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्" ॥ इति प्रतिज्ञानात् ।

पञ्चकलोभयप्रकृत्यवच्छेदेन पञ्च यज्ञाः प्रजापतयः पृथगेव संनिविशन्ते ॥ तत्र ब्रह्मा तावदयं प्राणमयः स्वयम्भूः । विष्णुरापोमयः परमेष्ठी । इन्द्रो वाङ्मयः सूर्य्यः । अग्निरन्नादः पृथिवी । सोमोऽन्नं चन्द्रमाः । इत्येवं प्रकृत्या व्यवतिष्ठन्ते । सर्वेषु च तेषु क्षराक्षराव्यय-परात्परपरामर्शात् षोडशकलत्वमुपपद्यते । स्वयंभ्वादिषु पञ्चसु षोडशीपुरुषेष्वेषु स परमेष्ठी विष्णो रूपं निष्कृष्यत इत्यतस्तस्यावतारपरम्परायां पञ्चमोऽयमवतारो मानुषकृष्णो विष्णुरित्यवधीयते ॥

विष्णोश्चातुर्विध्यम् ।

७—पृथ्वीसंबन्धेनैव विष्णुः पुराणेषु चतुर्विधो व्याख्यातः । स पुनरेकैको नाम[1] वर्णा[2]कार[3] योन्य[4]वस्था[5] कर्मा[6]धा[7]र धाम[8]भेदादष्टधाकृत्वा विविच्यते । तथाहि—

१—वैकुण्ठः[1], अनन्तः[2], सत्यः[3], कृष्णः[4], इति नामकः ॥ (१) ॥

२—तत्राद्यं सत्यस्तृतीयः स शुक्लः ॥ अन्येत्रयः कृष्णा इति वर्णतः ॥ (२) ॥

३—अथ चतुर्थो द्विभुजः ॥ अन्ये चतुर्भुजा इत्याकारतः ॥ (३) ॥

४—अथ सरस्वती[1] गङ्गा[2] लक्ष्मी[3] पृथ्वी[4] तुलसीभिः[5] स्वयंभू—परमेष्ठि-सूर्य्य-पृथ्वीचन्द्रमसां रसप्रकृतिभिः पञ्चपत्नीकः प्रथमः । द्वितीयो लक्ष्मीनारायणः । चतुर्थो राधारमणः । तृतीयः पुनरयमसङ्गत्वादपत्नीकः । इति योनितः ॥ (४)॥(४)

५—अथ प्रथमस्तावदष्टौ मासान् जागर्ति । चतुरो मासान् शेते । अथ द्वितीयो नित्यं शेते । तृतीयो नित्यं जागर्ति न शेते । अथैव चतुर्थः कृष्णो जागर्तीति विश्वं प्रवर्तते । स यदि शेते विश्वं तर्त्हि प्रक्षीयते—
इत्यवस्थातः । (५) ॥

६—अथैकब्रह्माण्डनियन्ता त्रिविक्रमकर्म्मा प्रथमः । सर्वोपद्रवक्षोभनिवर्त्तनः शान्तिस्वस्त्ययनकर्म्मा द्वितीयोऽनन्तः । तपःप्रवणस्तृतीयः सत्यः । अनन्तब्रह्माण्डनियन्ता सर्वप्रशास्ता चतुर्थः कृष्ण इति कर्मतः (६) ।

७—अथ गरुडाधारः प्रथमः । शेषपर्य्यङ्काधारो द्वितीयः । तृतीयश्चतुर्थौ स्वाधारौ । इत्याधारतः ॥ (७)

८- अथ वैकुण्ठस्थानः प्रथमः । क्षीरसमुद्रस्थानो द्वितीयः । श्वेतद्वीपस्थानस्तृतीयः । गोलोकस्थानश्चतुर्थः । इति धामतः (८)

एकविंशस्तोमस्य नाकतया तत्र कुण्ठितो न भवतीति वैकुण्ठत्वम् । द्वाविंशस्तोमात् त्रयस्त्रिंश स्तोमान्तमपां समुद्रः सरस्वान्नामास्तीति स द्वितीयो यज्ञः । सप्तदशस्तोमात् पञ्चविंशस्तोमान्तो नवाहयज्ञः सूर्य्येणाक्रान्तत्वात् तपोमयः श्वेतद्वीपः । द्वात्रिंशस्तोमात् षट्त्रिंशत् स्तोमान्तः पञ्चदशाहः स्वाराज्ययज्ञो गोसवोनाम सामवेदे विहितः । स गोलोकः । तस्योनत्रिंशस्तोमे प्रतिष्ठा । तत्रायं भगवान् गोविन्दः कृष्णः ।

वैकुण्ठो विष्णुः प्रथमः ।

८—अथेह वैज्ञानिकं धामाख्यास्यामः । सहृदयशरीरं सत्यम् । सति भवति सत्यम् । सच्च त्यंचेति समुच्चितं सत्यम् । स्वाधारं साकारं सत् । तदाधारं निराकारं त्यम् । मूर्त्तं चामूर्त्तं च संहितं रूपं सत्यम् । मूर्त्तं सत्-मेदनीसंज्ञा पिण्डपृथ्वी । तत्रामूर्तं त्यमुखासंज्ञा साहस्री पृथ्वी सा वाक् स वषट्कारः ॥

तत्रैतस्मिन् सत्ये परितः प्लवमानं लोक, वेद, वाग् भेदेन सहस्रत्रितयं सत्यस्य पोषो भवति । मनः प्राणगर्भिता वाचो याःसहस्रं भक्तयस्ता गावः । त्रिंशतस्त्रिंशतो गवामहः संज्ञा । साधिकानि त्रयस्त्रिंशदहान्येको वषट्कारः । प्रथमतस्त्रयाणां ततः षण्णां षण्णामह्नामेकैकः स्तोमः । इति षड् युग्माः स्तोमा भवन्ति । मनःप्राणगर्भितायां वाचि वौक् छन्दः । वैज्ञानिकनये मनसोऽकारेण प्राणस्य तूकारेण संकेतात् तद्गर्भितायां वाचि वौक्छन्दप्रवृत्तेः । तस्याः षोढा विभागो वौक् षट्कारः । तस्येदं परोक्षं रूपं वषट्कारः । अथवा उकारः प्राणः । अकारो मनः । सहैतयोर्वाचा षट्कारो वषट्कारः । मनः प्राणाभ्यां वागपि संगृह्यते । तदविनाभावात् । तस्य पूर्वार्धमग्निः । स ऊर्ध्वगतिः । उत्तरार्धं सोमः सोऽधोगतिः । उत्क्षेपणकर्म्माऽयमिन्द्रो ऽहरहर्न्नेत्राणां हृदयमभितोऽभितः प्रक्षिपति । किन्तु प्रतिष्ठेयमस्तीत्युच्छिन्नत्वोपपद्यते । तेनैतदुत्क्षेपप्रतिष्ठयोः शमन्वयो विकासो नाम जायते । प्रसारणं विकासः तदग्ने रूपम् । संयमनधर्म्मे निविडद्रव्ये धर्म्माणां विकासः संभवति । अद्भिरग्नेः संमूर्च्छनं निविडता । यावन्निविडता तावदग्निः । पिण्ड एवाग्निः । स भूयोऽप्युच्छिन्नोऽत्यन्तं विरलावस्थामागत्य सोमः संपद्यते । ब्रह्म वाग्निश्च सोमश्च । प्रतिष्ठालक्षणो ब्रह्मा सेन्द्रः

सोऽत्क्षेपोऽयमग्निर्भवति । तद्वै परीत्येनाऽनिन्द्रो निर्वीर्य्यः पशुः । सोऽशनायया विष्णुना गृहीतः सोमोऽन्नं भवति । पुनरागतः सोमो हृदयं गतः समुत्क्षिप्तं ब्रह्मणः स्थानमाप्याययति । इत्थं प्रति पुनरेतीति प्रतिष्ठालक्षणो ब्रह्मा न हीयते । तदेतद् ब्रह्मणि यातायातचक्रमनवरतं प्रवर्तमानं विष्णो रूपं भवति । सोऽयमहरहः सप्तदशस्तोमादुपरितनः सोमः सप्तदशादधस्तनेऽग्नौ हूयते । तस्मादयमग्निर्यज्ञः । सोऽयमग्निष्टोमो यज्ञस्त्रिवृत, पञ्चदश, सप्तदशै, कविंशभेद चतुष्टोमः संपद्यते । चतुष्टोमत्वाच्चायं विष्णुश्चतुर्भुजः । अग्निर्वा तस्मिन् ज्योतिष्टोमे अग्निर्होता । वायुरध्वर्युः । आदित्य उद्गाता । बृहस्पतिर्ब्रह्मा—इत्येवं चतुर्भिः कृतो यज्ञः सर्वं ब्रह्माण्डमभिव्याप्नोति । पृथ्व्यन्तरिक्षं द्यौरापः—इति चत्वारोलोका इदं ब्रह्माण्डम् । चतुर्षु लोकेष्वस्य कराः प्रसरन्तीत्येष यज्ञश्चतुर्भुजो नाम । अत एव चैतस्य षोडशिग्रहरूपत्वे चतुःस्रक्तिना पात्रेण तं गृह्णातीति भाव्यम् ।

स यज्ञो विष्णुस्त्रेधा विक्रमते—पृथिव्यास्त्र्यहादूर्ध्वं षडहेनाग्निदैवत्येन त्रिवृत्स्तोमः प्रथमो विक्रमः । ततः षडहेन वायुदैवत्येन पञ्चदशस्तोमो द्वितीयः । ततः षडहे ऽदित्यदैवत्यनैकविंशस्तोमस्तृतीयः । तत्र त्रिवृत स्तोमः पृथिवी । पञ्चदशस्तोमोऽन्तरिक्षम् । एकविंशस्तोमा द्यौ । विक्रमा एवैते त्रयो लोकाः । तैरयं यज्ञः पृथ्वीमारभ्य दिवं यावदभिव्याप्नोति ।

श्रूयते हि—

"यज्ञो वै विष्णुरिति । मही द्यौः पृथिवी च न इमं यज्ञं मिमिक्षताम् ।
पिपृतां नो भरीमभिरिति च ॥ यजुः सं. ८।३२॥
यस्मान्न जातः परो अन्योस्ति य आविवेश भुवनानि विश्वा ।
प्रजापतिः प्रजया संरराणस्त्रीणि ज्योतींषि सचते स षोडशी" ॥ यजुः सं. ८.३६।

इति च । त्रिर्हीदं विष्णुर्व्यक्रमत । तस्मादेष त्रिविक्रमो विष्णुः । तदेतेन यज्ञेनैते त्रयो लोकाः सुरक्षितास्तिष्ठन्ति ।

एतामेव त्रिलोकीमुखां नाम पृथिवीं विकुण्ठामाहुः । विकुण्ठेतिविष्णोर्मातुः संज्ञा । तद्गर्भस्थोऽयं चतुष्टोमो यज्ञो वैकुण्ठनारायणः । एतावान् वा एकविंशान्तप्रदेशो वैकुण्ठो लोकः । एकविंशो वा स्तोमो वैकुण्ठो लोकः । "इति स्तुतासो असथा रिशादसो येस्थ त्रयश्च त्रिंशच्च मनोर्देवा यज्ञियास" इति मन्त्रबोधितानां त्रयस्त्रिंशतो यज्ञियानां देवानां मध्ये परमस्य विष्णोस्तत्रैव परमस्थाने उपस्थानात् । "अग्निर्वै देवानामवमो विष्णुः परमः । तदन्तरेण सर्वा अन्या देवताः" इति श्रवणात् ।

तदधिष्ठाताऽयं चतुष्टोमो यज्ञ एव चतुर्भुजो वैकुण्ठनाथो विष्णुः । स इह प्रथमो विष्णुः । एष खलु (१) स्वयंभूजातया देववाचा सरस्वत्या (२) अथ परमेष्ठिजातया चापां

धारया गङ्गया (३) अथ सूर्य्यजातया प्रकाशलक्ष्म्या (४) अथैतत् पृथिव्या (५) अथ सोम-जातया त्वोषधिरूपया तुलस्या संयुज्य ताः संगृह्य ताभिः सह संचरन्नेव रूपं धत्ते इति पञ्च पत्नीको भवति।

स एष यज्ञो विष्णुः शुक्लयजुःसंहितायामष्टमाध्यायस्य त्रयस्त्रिंश्यादि. (३३-३७) पञ्च कण्डिकासु षोडशीस्तोमनाम्ना समाम्नातः। "त्रीणि ज्योतींषि सचते स षोडशी" तिश्रुत्याऽग्निविद्युदादित्यमयस्य त्रैलोक्यनाथस्य षोडशित्वात्। तस्यैषा स्तुतिर्भवति।

"न ते महित्वमनुभूदधत् द्यौर्यदन्यया स्फिग्या क्षामवस्थाः॥ इति॥

"नते विष्णो जायमानो न जातो देव महिम्नः परमन्तमाप॥

उदस्तभ्नान्नाकमृष्वं वृहन्तं दाधर्थ प्राचीं ककुभं पृथिव्याः"। ऋक्सं. ७।६६।२॥

इति वैकुण्ठनाथो विष्णुर्व्याख्यातः॥१॥

२—अथ अनन्तो विष्णुर्द्वितीयः।

६—अथैतस्माद् द्वाविंशादारभ्य त्रयस्त्रिंशं यावत् सूर्य्यं परितः समुद्रः प्लवते।

"या रोचने परस्तात् सूर्य्यस्य याश्चावस्तादुपतिष्ठन्त आपः" इति मन्त्रश्रवणात्। आ त्रिवृत्स्तोमादा त्रयस्त्रिंशादेष समुद्रः शेषं, प्रलये ऽप्यवशेषमनन्तं स्वयंभुवः परमाकाश-मन्तर्गृह्णाति। तस्मिंश्चानन्ते परमाकाशे संचरन्नेष संवत्सराग्निः शेते। अपां प्रतिद्वन्दितया ताभिः प्रत्यावरणादप्सु वरुणरूपेणापां द्रवणलक्षणं रूपं संपादयन् सोऽग्निरप्सु प्रतिष्ठब्धः स्तिष्ठति। तस्यैतस्याग्ने र्यज्ञस्याप्सु नाम प्रशमनं शयनं व्यवदिश्यते॥ तत्र षडहः, त्र्यह, अविवाक्या चेति दशाहानि–प्रायणीयोदयनीयाभ्यां द्वादशाहः संपद्यते। स एष द्वादशाहो यज्ञः शुक्लयजु संहितायामष्टमाध्यायेऽष्टत्रिंश्यादिषु (३८।४०) तिसृषु कण्डिकास्वाम्नातः। स एष यज्ञो ऽनन्तनारायणो विष्णुः। स इह क्षीरसागरशायी, समुद्रशायी, जलशायी, शेषशायी वा, द्वितीयो विष्णुर्द्वितीयो यज्ञः॥ आभ्यां वषट्कारः पृथिवीसंस्थात्मकः पर्य्याप्तः। पृथ्वीगर्भादेकविंशान्तो वैकुण्ठनारायणः। अथ द्वाविंशात त्रयस्त्रिंशान्तो ऽनन्तनारायण इति भेदो द्रष्टव्यः॥

३—अथ सत्यो विष्णुस्तृतीयः।

१०—अथैतत पृथ्वीवषटकारे एकविंशं यावदग्निर्वीर्य्यवानस्तीति स नित्यं प्रजागर्ति। तत्र यज्ञे त्रिवृत्सोमः पृथ्वीलोकौ ऽग्निर्ज्येष्ठैरष्टाभिर्वसुभिरग्निं धत्ते। पञ्चदशस्तोमोन्तरिक्षमेकाद-रुद्रै र्वायुम्। अथैकविंशस्तोमो द्यौर्विष्णुः परमैर्द्वादशभिरादित्यैरिन्द्रं धत्ते। द्यावापृथिशभी-

श्विनौ त्रयस्त्रिंश्यौ । तत्रा ऽयमग्निर्देवानां यज्ञियानामवमो विष्णुः परमः । तदन्तरेण सर्वा अन्या देवताः । एते वै यज्ञस्यान्ते तन्वौ यदग्निश्च विष्णुश्च । तत्राऽयं विष्णुर्यज्ञस्यान्ते तावदे कविंशे स्थाने प्रतिष्ठति । तस्यावस्ता च्चत्वारि परस्ताच्चत्वारीति सप्तदशादारभ्य पञ्चविंशं यावन्नवाक्षानि ऐन्द्राग्नयज्ञो भवति । तथाहि—योऽ पृथ्वीप्राण पार्थिवो रसो यश्चायमादि-त्यप्राणो द्यु रसस्तयोः संघर्षणात् सप्तदशस्तोमे कश्चिदग्निरुत्पद्यते ऽन्नादो वैश्वानरो नाम । तत्र वैद्यु तपुरुषेणाहूयमानः सोमो यज्ञाय संपद्यते । सप्तदशाऽग्न्यायतम् । पञ्चविंशस्तु वैद्यु त इन्द्रः । ताभ्यामेकविंशे हूयमानोऽयमैन्द्राग्नो यज्ञः । स आ सप्तदशा दापञ्चविंशान्न-वाहः प्रकल्पते । स इन्द्रेणाग्नौ हूयमानत्वादैन्द्राग्नः । अग्निः, पृथिवी, द्यौरिन्द्रः । उभयो रसाभ्यां योगाच्चायमैन्द्राग्नः । तस्यैकविंशे वीर्यम् । ब्रध्नस्य विष्टपे ह्येष एकविंशो यत्रायं सूर्य्यः प्रतपति । तथा चायमेकविंशो त्रिषुवदेकाहो दिवाकीर्त्यस्तोमः ततस्त्रयः स्वरसामानो ऽभिजिदेकाहश्चावस्तात् । अथ त्रयः स्वरसामानो विश्वजिच्चैकाहः परस्तात् । इति स नवाहः संपद्यते । एष शुक्लयजुः—संहितायामष्टमाध्यायस्यैकचत्वारिंश्यां कण्डिकायामाम्नातः ।

एष नवाहः श्वेतद्वीपः । तमसोऽत्यन्तापवारणात् तस्यैकविंशः प्रतिष्ठा । तत्रैष आदि-त्याना द्वादशो विष्णुरनवरतं तपश्चरति स इह भगवान् सत्यःतृतीयो विष्णुः । तमेतं श्वेतं विष्णुं सत्यनारायण इत्याचक्षते लोकाः । त्रयोऽप्येते यज्ञाः परमेष्ठिना प्रणीतासु अप्सु प्रचरन्तीति कृत्वा नारायणशब्देनोच्यन्ते ।

आह च—

"आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः ॥
अयनं तस्य ताः पूर्वं तेन नारायणः स्मृतः" ॥ इति

तेऽमी आपस्थानास्त्रयोऽग्नयो यज्ञदेवा द्रष्टव्याः ॥

४—अथ कृष्णो विष्णुश्चतुर्थः ।

११—अथैष आपोमयः परमेष्ठी विष्णुः कृष्णो नाम । अग्निर्वायुरादित्यश्चद्रमा इत्येतेषां चतुर्णां देवानां क्रमेण पृथिवी अन्तरिक्षं द्यौराप इत्येते चत्वारो लोका भवन्ति । एषामुत्तरोत्तरज्यायस्त्वं मैत्रिश्रुतिराह—

"उत्तर उत्तरो हि लोको ज्यायानिति" ।२।५।६।

तथाचैष त्रिभिर्लोकै गर्भी सोमदैवत्यो ऽयमापोमयश्चतुर्थः परमोलोकः तत्रायं परमेष्ठी विष्णुः पाङ्क्तो यज्ञः । स विष्णुरेव सन् ब्रह्मा[१] चेन्द्रश्चा[२]ग्निश्च[३] सोमश्च[४] । अथ स्वयंभ्वादयः पञ्च प्रजापतयः-ऋषीणां[१], पितृणां[२], देवानां[३], गन्धर्वाणां[४], मनुष्याणां[५], च क्रमेण लोका भवंतीति

सूर्य्यस्थानामादित्यानां परमाकाशे ऽवस्थानादेष परमेष्ठीनाम। अपि च देवानामशेष पणामेष परमो ऽधिष्ठाता स्वराड् भवति तस्मात्परमेष्ठी। तदुक्तम्।—

"परमेष्ठी वा एष देवानां यः परमेष्ठी।
परमेष्ठी राजन्यो मनुष्याणाम्"। तै० सं० २।२।५। इति।

अपि च श्रूयते—

"अयं वै इदं परमो ऽभूदिति तत् परमेष्ठिनः परमेष्ठित्वम्।
तं देवाः समन्तं पर्य्यविशन् वसवः पुरस्तात्। रुद्रा दक्षिणतः।
"आदित्याः पश्चात्। विश्वेदेव उत्तरतः। अङ्गिरसः प्रत्यञ्चम्।
साध्याः पराञ्चम्। स प्रजापतिरेव भूत्वा प्रजा आवयत्।
ताः सर्वतो मुखो भूत्वाऽवयम्। ततो वै तस्मै प्रजा तिष्ठन्त-
अन्नाद्याय" इति। तै०ब्रा० २।२।०।

एतेनापोमयस्यैतस्य परमेष्ठिनः सोममूर्तेः सर्वदेवातिशायित्वं सर्वलोकातिशायित्वं-चाख्यातं भवति।

सोयं पृथिव्यामवतीर्णः सन्-अर्जुनेति गुह्यनामकेन केनचिदिन्द्रे ण सहचरः संपद्यते। तथाहि ऊनत्रिंशस्तोमस्थः कश्चिदिन्द्रः पञ्चदशाहं यज्ञं तनुते, सप्ताहान्यवस्तात्। सप्ताहानि परस्तात्। ऊनत्रिंशं मध्यममहः प्रतिष्ठा। तथा चायमाद्वाविंशादाषट् त्रिंशादैन्द्रो यज्ञो गोसवो नामोपपद्यते।

तथाह ताण्ड्यश्रुती—

"अथैष गोसवः स्वाराज्यो यज्ञः। प्रजापति र्हि स्वाराज्यम्। सर्वः षट्त्रिंशः तेन गोसवः"। १६।१३। इति।

एतमेव गोसवं गोलोक इत्याचक्षते औपासनिकाः। आपो हि गवां योनिः। पञ्चविधा हि ता गावो भवन्ति।

तदुक्तं गोनामिके तैत्तिरीयके—

"प्रजापतेर्मनः। मनसो वाक्। वाचो विराट्। विराजो गौ। गोरिडा।
इडायाः सोमाः। भोगान् मनुष्या भुञ्जते" इति। तै०सं०२।३।

एतेनायमापोमयः पारमेष्ठ्यः प्राजापत्यो लोको वाक्[1], विराड्[2], गो[3] रिडा[4] भोगा[5] इत्येताभिः पञ्चविधाभिर्गोभिरापूर्णः। इति गोसवत्वाद् गोलोको भवति। सोमदैवतोऽयं गोसव इत्याह-

"तिलोसि सोमदैवत्यो गोसवो देवनिर्मितः।
प्रत्नमद्भिः पृक्तः स्वधया पितॄन् लोकान् पृणाहि नः" इति।

अमा पूर्णिमा भेदात् द्विविधः सोमः । कृष्णश्च शुक्लश्चेति । ताभ्यामेवैते कृष्णाश्च शुक्लाश्च तिला एतस्मादेव गोसवयज्ञात् प्रजायन्ते तेनैदाह "तिलोसि सोमदेवत्यो गोसवो देवनिर्मित:"—() इति ।

यावति प्रदेशे चैतद् गोसवयज्ञाभिव्याप्तिस्तत्र गोसंचरणभूमित्वाद् व्रजशब्दः गोसंचारप्रदेशे व्रजशब्दस्य निरूढत्वात् ।

"व्रजं गच्छ गोष्ठानम्" । १ । इति । श्रुतेः ।

एवं खलु गोसवो यज्ञः परमेष्ठी विष्णुः । स गोभिः सम्पन्नत्वाद् गोपालो गोविन्दः" इत्यादि शब्दैरभिष्टूयते ॥ ४ ॥

सोमवंशो यश्चैष भगवान् गोविन्दः कृष्णो भवति । अग्नीषोमाभ्यां विभक्ते पृथ्वी-वषटकारे उत्तरार्द्धस्य सोमलोकत्वसिद्धान्तात् । सोऽयं सूर्य्यज्योतिर्मण्डलाद्बहिर्धाऽभि-व्याप्तः सौम्यो वायुसमुद्रः कृष्णरश्मित्वात् कृष्ण इत्युच्यते । तमैवैतं कृष्णं सर्वतः परिप-श्यामि यमेतं नीलमाकाशं परिपश्यामि । एष खलु सूर्य्यप्रकाशमण्डलाद्बहिर्धाऽनन्तमाकाश-मभिव्याप्तः । केचित्त्वभावस्तम इति वदन्तोऽस्यनैसर्गिकस्य कृष्णप्रत्ययस्याऽपदार्थत्वं मन्यन्ते । तदवैज्ञानिकम् । वैज्ञानिकानां नये दृश्यमानस्यास्ति वस्तुत्वात् । अस्तिवस्तुनश्चा-वश्यं कुत्रचित्स्थाने स्थितिर्भवति । तस्मादेष दृश्यमानो नीलिमा वायुसमुद्रे ऽभिव्याप्तः सोमोरूपम् । अयमेव च कृष्णः सोम. यतो ऽन्तरतः प्रतपतः सूर्य्यस्य रश्मिप्राणेनाभियोगा-ज्ज्योती रूपेण परिणमते । तथाहि श्रुयते—

"त्वमिमा ओषधीः सोम विश्वास्त्वमपो अजनयस्त्वं गाः ।
त्वमाततनोरुर्वान्तरिक्षं त्वं ज्योतिषा वि तम ववर्थ ॥ ऋक्० १।६।२३॥ इति ।

कृष्णपत्नी राधा ।

१२—अथैषा राधा तस्य पत्नी भवति । येयं सूर्य्यप्रकाशमयी रोदसी नाम । सा चेयं द्यावापृथिवी स्वशरीरे सर्वतोऽभिव्याप्नुवानेन सूर्य्यज्योतिर्मण्डलेन गौरवर्णोपपद्यते । वृषा इन्द्रः, तस्य भानुर्मरीचिः । तत इयं सूयते तस्मादिमे द्यावापृथिव्यौ समुदिते एका वृषभा-नुसुता । सूर्य्यो वा भानुः । इन्द्रगर्भितसूर्य्यस्येयं प्रभा वृषभानुसुता । सूर्य्यज्योतिरवच्छे-देनैव चेयं द्यावापृथिवी जगतः प्रतिष्ठा भवति । तेनेयं रोदसी वृषभानुसुता ऽऽख्यायते । रोदसी प्रतिष्ठयैव चामी सर्वे जगदर्थास्तदुदरे राध्यन्ते संसिध्यन्तीति कृत्वा तामत्राधिकरणे राधे त्याचक्षते । तया राधया ऽयमनवरतं श्रीकृष्णो युक्तः प्रतिभाति । बहिर्धा समन्ततो-ऽभिव्याप्नुवानसमुद्रायतनपरमेष्ठिक्रोडेऽस्या द्यावापृथिवीरूपाया रोदस्याः संश्लिष्टत्वात् तस्याः कृष्णपत्नीत्वमारोप्यते । अपि चैतस्मिन् हिरण्मये सौरप्रभामण्डलेऽन्तरतो निगूढोऽयं

कृष्णः परमेष्ठिप्राणो विज्ञायते। नैतादृशः कश्चित्प्रकाशो वर्तते यत्रान्तरतः कृष्णो न स्यात्। यथा यथा प्रदीपमन्यान्यमादधाति तथा तथा प्रकाशोऽधिकाधिकः प्रवर्द्धते। चतुर्षु प्रदीपेषु सत्सु अन्तरतः स्थितस्य दण्डस्य तत्तद्दिक्षु च्छाया पृथक् पृथगवभासते। ततः प्रकाशेऽन्तर्निगूढं कृष्णं प्रतिपद्यामहे। प्रकाशः सूर्यप्रदीपादिप्रणेयो भवति। प्रदीपाद्यपनये स्वयं विभवन्नयं कृष्णः स्वस्य नैसर्गिकीं सार्वत्रिकीमभिव्याप्तिं गमयति। अविनाशिनोऽस्य भगवतः कृष्णस्य शाश्वतिकस्य हिरण्मयेन सौरप्रकाशेनावरणमस्तीति साधारणाः प्रकाशे तं कृष्णं न प्रतियन्ति। अङ्गान येनाव्रियन्ते तदङ्गावरणमेवाङ्गावरं भवति। वर्णागम वर्णविपर्य्यय, वर्णविकार, वर्णनाशेति चतुर्लक्षणनिरुक्तपरिभाषया गालोपात्तु तदम्बरं निष्पद्यते, हिरण्मया सूर्य्यांशवः पीतवर्णास्तस्यैतस्य परमेष्ठिकृष्णस्याङ्गावरणानि भवन्तीति कृत्वा स पीताम्बरः प्रतिपद्यते। तत्प्रकृतिकात्मत्वादेव चायं कृष्णोऽपिपीताम्बरपरिधाने कृतवृत्तिक आसीदिति भावयामः। हिरण्मयसूर्य्यांशुभिरस्य परमेष्ठिकृष्णस्य सत्याख्यस्यावरणं प्रत्यक्षतो दृश्यमानमेव श्रुतिरप्याह—

> "हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
> तत्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये"। इति।

प्रकाशाप्रकाशयोः साम्येनाविनाभूतः शाश्वतिकोऽयं सत्यात्मा कृष्णमूर्तिर्हिरण्मयेन सूर्य्यांशुनच्छन्नो न दृश्यते। अथ पूष्णा पार्थिवेन प्रकाशप्रतिबन्धकेन द्रव्येण छायाप्रवर्तकेन हिरण्मयपात्रपवारणादेष सत्यः श्रीकृष्णः पुनरेव दक्षिणचक्षुषि यथायथं दृश्यते। इति हि चाक्षुप पुरुषविज्ञानमनया श्रुत्याभिप्रेयते। सुर्य्य-पृथिवी-पशुवाचिना पूषशब्देन प्रकृते पृथिवीप्राणो विवक्ष्यते। प्रकाशे प्रच्छन्नतया नित्यं सर्वत्रावस्थानादेव चैतं दिव्यपुरुषं नर्म्मचौरत्वेनोपासते भावुकाः।

तथा च यद्ययं हिरण्मः प्रकाशो दृश्यते तर्हि कृष्णे समालिङ्गितां राधामुपासीत। प्रकाशाभावे त्वन्तर्निगूढप्रकाशं कृष्णमेवैतं प्रत्यक्षं सन्तमुपासीत। नचैतदुभयव्यतिरेकेण कश्चिदवकाशोऽवशिष्यते यत्र श्रीकृष्णो वा राधा वा नावलोक्येत।

उक्तं चाहोरात्रवादे—

> "नहि ध्वान्तमीदृङ् न यत्र प्रकाशः प्रकाशो न तादृङ् नयत्रान्धकारः।
> समो वा प्रकाशोऽपि वा यत्र तत्र प्रतीमस्तोऽपि प्रकर्षात् प्रकर्षम् ॥१॥
> ज्योतिस्तमश्चे त्युभयं परस्परं बहिर्बहिः श्लिष्यति चान्तरान्तरम् ॥
> तत्तारतम्यादिदमीदृशं जगत् स्वरूपसंस्थानविचित्रमीक्ष्यते ॥२॥

उपसंहारः।

१३—एतस्यैव तु भगवतः परमेष्ठिनः श्रीकृष्णस्य पूर्णकलाभिरयं यादवो मानुषशरीरे ऽवततारेति कृष्णद्वैपायनादीनामार्षेण चक्षुषाऽतीन्द्रियार्थान् परिपश्यतां विश्वासः। स

आवानसौ पारमेष्ठ्यः परमात्मावतीर्णः सन्नस्मिन् मानुषशरीरे महानयमात्मा भूत्वा विजहार तमृतमात्मानं परमेष्ठित्वेन भावयन्नुपासीतेत्यादिश्यते । एतमेव हि सत्यं भगवन्तं सोमवंश्य-कृष्णं प्रतीकेन वा, भावप्रति मानेन वा, निदानेन वाऽस्मिन् सोमवंश्ये वासुदेवकृष्णे राधा-सहचारिणि लोका उपासते इति भाव्यम् । अपि वा "इन्द्रस्य युजः सखा" इति श्रुतेरिन्द्र सखं विष्णुं तथा पञ्चदशस्तोमस्येन्द्रत्वात् पञ्चदशाहयज्ञस्य विष्णोरिन्द्रसखत्वोपपत्तेस्तमे-तमिन्द्रसखं परमेष्ठिनं कृष्णं तदवतारभूतं चैतमर्जुनसखं देवकीपुत्रं कृष्णमभेदेन भावयन् कश्चिदुपस्तौति—

"यो यज्ञो दिवि परमेष्ठि-गोसवात्मा विज्ञानं समुद्दिदेश गीतया यः ।
आनन्दं जनयतु विश्वतो ममायं गोविन्दः स हि मयि संनिधानमेतु ॥१॥

गोविन्द एष परमः परमेष्ठिगोसवो
यज्ञं विभर्ति स हि पञ्चदशाहमर्जुनम् ।
विष्णुः स यज्ञ इति पञ्चदशाह इत्यसा—
विन्द्रः स कृष्ण इति सोऽर्जुन इत्यवेयते ॥२॥

॥ इति परमेष्ठिकृष्णरहस्यं सम्पूर्णम् ॥

९-चाक्षुषकृष्णरहस्यम् ।

आदित्यपुरुषस्य चाक्षुषपुरुषत्वोपपादनम् ।

अथैतस्मिन् सूर्य्ये स भगवान् कृष्णो द्रष्टव्यः । ज्योतिष्मानेष सूर्यस्त्रेधाऽस्माकमात्मानमनुगृह्णाति—

"पञ्च ज्योतिरयं पुरुषः"

इति श्रुतेर्भूतज्योतिषा, ज्ञानज्योतिषोऽनुग्रहेणैकम्[१] । रूपज्योतिषा चक्षुरिन्द्रियप्राणद्वयानुग्रहेण द्वितीयम्[२] । वेदसमुद्रसत्यैः शुक्लकृष्णातिकृष्णैर्विभक्तस्य स्वविम्बस्य दक्षिणेऽक्षिण प्रतिबिम्बसमर्पणेन तृतीयम्[३] । तत्रैष तृतीयश्चाक्षुषपुरुष एवायं सूर्य्यः प्रकृते व्याख्यातव्यः । अत्रच्चाक्षुषे पुरुषे भगवतः श्रीकृष्णस्य प्रत्यक्षं दृश्यमानत्वात् । इह हि चाक्षुषेपुरुषेऽवतीर्णोऽयं भगवान् सत्यः श्रीकृष्णोप्यस्मि न्मानुषे कृष्णे उपासितो भवति ।

तत्र तावच्चाक्षुषपुरुषसम्बन्धेन कानिचित् सत्यान्यास्थेयानि ।

तथाहि—

सर्वं जगद् यद् बहिरीक्ष्यते क्वचित्
चक्षुर्द्वये तत् प्रतिबिम्बितं भवत्
चक्षुःस्थितः प्रज्ञमनः समर्पितं
स्थितं भवत्यात्मनि आसनात्मना ॥ १ ॥

अक्ष्णोर्द्वयोश्चाक्षुषपूरुषो यः
स प्राज्ञ आत्माऽथ ततः पृथग्वत्
यो दक्षिणेऽक्ष्ण्येव विभाति सोऽयं
वैज्ञानिकश्चाक्षुषपूरुषोऽन्यः ॥ २ ॥

प्रज्ञं मनश्चाक्षुषपूरुषो द्वयो—
रक्ष्णोः स्थितः पश्यति यत्र पश्यति
आत्मात्वयं चाक्षुषपूरुषः परो
यो दक्षिणे ऽक्ष्ण्येव स इन्द्र इष्यते ॥ ३ ॥

शिरो न्तनासान्तजवर्तुलान्त—
घ्राणस्य च भ्रूयुगलस्य सन्धौ
धामाभिमुक्तं प्रथतेऽस्य मध्ये
यः सोऽयमक्ष्णा बहिरीक्षतेऽन्यः ॥ ४ ॥

"अथ यत्रैतदाकाशमनुविषण्णं चक्षुः स चाक्षुषः पुरुषः।
दर्शनाय चक्षुः"। छा० उ० ८। १२।

"य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते एष आत्मा। एतदमृतमभयम्।
एतद् ब्रह्म च"। छा० उ० ८। ७।

"यद्यप्यस्मिन् सर्पिर्वोदकं वा सिञ्चति वर्त्मनी एव गच्छति।
एतं संयद्वाम इत्याचक्षते। एष उ एव वामनीः। एष उ एव भामनीः"। छा० उ०४।१५।

"यो ह वा इमौ पुरुषाविवाक्ष्णो एतावेवाश्विनौ।
अथ यत्कृष्णं तत्सारस्वतम्। यच्छुक्लं तदैन्द्रम्"।

इत्येवमादिभिः श्रुतिवचनैः श्रुताच्चक्षुर्द्वयसंनिविष्टाच्चाक्षुषपुरुषात् कश्चिदन्य एव दक्षिणेऽक्षिणि चाक्षुषः पुरुषो भवति। न स वामेऽक्षिणि संनिधत्ते। अपि च स एष चाक्षुषः पुरुषश्चक्षुषो बहिर्धा चक्षुःकृष्णकनीनिकाकेन्द्रकप्रादेशव्यासार्द्धोपकल्पितदूरतावर्त्माकाशे कस्मिंश्चिद्वर्तुलवृत्ते श्वेतकृष्णातिकृष्णगर्भे संचरन् दक्षिणेनैवाक्ष्णा प्रत्यक्षं दृश्यते न वामेनाक्ष्णा।

"यश्चाक्षुषोऽयं हृदयोत्थितोऽक्ष्णो—
वितस्तिमात्रे विततो बहिर्धा॥
तं रश्मिभिः सूर्य्य उपैत्ययं च।
प्राणैरमुं सोऽहमहः श्रितोऽस्ति॥५॥
तिलार्द्धतोऽप्यल्पतरं तु किञ्चित्
कदा च वामेऽक्षिणि बिन्दुमात्रम्॥
पश्यामि कृष्णावृतशुक्लरूपं
सा ह्रीन्द्रपत्नी हृदि सा युनक्ति॥६॥

तथाहि श्रूयते—

"इन्धो ह वैनामैष योऽयं दक्षिणेऽक्षन् पुरुषः। तमेतमिन्धं सन्तमिन्द्र इत्याचक्षते। अथैतद्वामेऽक्षणि पुरुषरूपम्। एषास्य पत्नी विराट्। तयोरेष संस्तावो यदेषोऽन्तर्हृदये आकाशः"। अथैनयोरेतदन्नं य एषोऽन्तर्हृदये लोहितपिण्डः। अथैनयोरेतत्प्रावरणं यदन्तर्हृदये जालकमिव। अथैनयोरेषा सृतिः संचरणी। यैषा हृदयादूर्ध्वा नाड्युच्चरति। यथा केशः सहस्रधा भिन्न एवमस्यैता हिता नामे नाड्योऽन्तर्हृदये प्रतिष्ठिता भवन्ति। ताभिर्वा एतदास्रवदास्रवति। तस्मादेष प्रविविक्ताहारतर इव भवत्यस्माच्छा-

रीरादात्मनः। तस्य सर्वा दिशः सर्वे प्राणाः। स एष नेति नेत्यात्मा अगृह्योनहि गृह्यते। अशीर्य्यो नहि शीर्य्यते। असङ्गो नहि सज्जते! असितो न व्यथते नरिष्यति" वृ०आ०४।२।४ इति

"संपातबिन्दुं समदृष्टिसूत्रयोः
प्रोतान्तमाहुस्तदधोऽङ्गुलित्रये॥
निसर्गतस्तिष्ठति तन्निबद्धवत्
चरत्यधश्चाक्षुष एष ईक्षितः॥"

वितस्तिमात्रान्तरिताद् दृष्टिसूत्रप्रतीकादधस्ता त्र्यङ्गुलप्राये‌ऽवकाशे दृष्टिसूत्रप्रतीकबद्ध एवाऽय चाक्षुषः पुरुषो नियम्यावतिष्ठते। अत एव यथा यथाऽयं दृष्टिप्रतीके न द्रष्टुमिष्यते तथा तथाऽयमधोधः संसरति। अनूकेनैवायं यथा कथंचिद् द्रष्टुं शक्यते नतु दृष्टिप्रतीकमस्मि-१ श्चाक्षुषपुरुषबिम्बे यथावदनुष्ठ्या प्रत्युपतिष्ठते। दृष्टिसूत्रचाञ्चल्यात्त्वयमेतत्प्रतीकबद्ध-श्चाक्षुषःपुरुष इतस्ततः सर्वासु दिक्षुतः चञ्चलः प्रधावति नतरामयमलसस्य क्वचिदेऽ स्थिरः प्रतितिष्ठति।

"असङ्ग एवास्ति स चाक्षुषोऽय
न सज्जते पार्थिवभूतजातैः॥
तथापि वर्णा बहवोऽस्य सूर्य्या—
शुसङ्गतोऽच्छे पटले भवन्ति॥७॥
ज्योतिर्वशाच्चाक्षुषपूरुषोऽयं
रूपाणि देवः कुरुते बहूनि॥
अल्पो भवत्यूर्ध्वमधश्च तस्मिन्
विद्युच्छटा भाति च कृष्णविन्दुः॥८॥
"नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः॥"

इत्येतद्वचनानुसारेण पार्थिवभूतजातैः सर्वथाऽयमसंस्पृष्टोऽपि नैकान्ततोऽयं निर्विकार एवोपपद्यते। दृश्यते ह्यस्मिन्नाकारविकारो वर्णविकारश्च।

"वितस्तिमात्रादर्वाक् तु बहिर्धा यदि चक्षुषः।
निधीयते भूतजातं तदाकुञ्चनमेत्ययम्॥९॥
वैचित्र्यमेति वैचित्र्यात् सूर्य्यचन्द्राग्नितेजसाम्।
यत्र तत्र प्रकाशो हि दृश्यते सोन्यथा न्यथा"॥१०॥

तथा च श्रूयतेबृहदारण्यके—

"तस्य हैतस्य पुरुषस्य रूपं यथा महारजवासः।
यथा पाण्ड्वाविकम्, यथेन्द्रगोपः, यथाऽग्न्यर्चिः,
यथा पुंडरीकम्, यथा सकृद् विद्युतम् ॥ अथात—
आदेशो नेतिनेति ॥ अथ नामधेयं सत्यस्य सत्यम्"। इति० बृ० आ०।

"स मक्षिकापर्णवदस्ति तस्मिन्
ज्योतींषि पञ्चावतरन्ति भेदात् ॥
आदित्यमाग्नेयमथैन्दवं वाग्
आत्मैव वा सत्यमयोन्धकारे ॥११॥

तत्रैके तावदाहुः—चतुःपटले ऽस्मिंचाक्षुषपुरुषे कदाचिदुपविष्टादधस्तान् मध्ये वा क्षणमात्रमकस्माद् दृश्यमानमिदं सकृद् विद्युतमिवाऽतिभास्वरं रूपमिन्द्रः। सोऽर्जुनो नाम। यस्त्वन्तरतमः कृष्णकनीनिकाविन्दुः स सत्यः स प्रजापतिः कृष्णो नाम। तावेतौ कृष्णार्जुनावित्युपासीतेति। परे त्वाहुः—तुरीयस्य त्वेवान्तरतरस्य कृष्णविन्दुस्तरस्यैते नाना वर्णा उपपद्यन्ते। सूर्य्यप्रकाशे, ऽग्निप्रकाशे, अर्धप्रकाशे, सावित्राऽग्निप्रकाशे, गायत्रीप्रकाशे, चैतस्याः कनीनिकाया एवैतानि नाना रूपाणि परिवर्तन्ते। तस्यैतस्य चाक्षुषपुरुषस्यैतानि सर्वाण्यैव रूपाण्यौपाधिकानि जायन्ते। अस्माभिरस्य चाक्षुषपुरुषस्यायतनपरिवर्तनाद् वर्णस्थानपरिवर्तनाच्चैकविंशतिधा रूपाणि दृष्टानि।

"निसर्गतश्चाक्षुषपूरुषोऽयं
चतुर्वृतिस्तत्र बहिर्वलक्षा ॥
नीलान्तरे ऽथान्तरतश्च शुक्ला
सर्वान्तरे कृष्णकनीनिकास्ति ॥१२॥
यो मध्यतस्तिष्ठति कृष्णबिन्दु—
र्वृतः सितेनावरणेन स प्राक् ॥
ततः स नीलेन ततो वलक्षे—
णेत्थं त्रिभिश्चावरणैर्वृतः स" ॥१३॥

"यो मध्यतस्तिष्ठति कृष्णबिन्दुः
शुक्लं यदस्यावरणं पुरस्तात्।
तयोर्विचित्रा गतिरत्र शुक्ले
हिरण्मयोंऽशुः प्रतिबिम्बवत्स्यात ॥१४॥

सूर्य्यप्रकाशे तु हिरण्मयेन
पात्रेण कृष्णोऽपिहितो न भाति ॥
स मध्यबिन्दुः पुनरीक्ष्यतेऽस्मिन्
सूर्य्यप्रकाशो यदि मान्द्यमेति ॥१५॥

एष हि चाक्षुषपुरुषस्य गर्भस्थः कृष्णकनीनिकाभागः सूर्य्यसावित्रीप्रकाशे निक्षिप्तो नतरांदृश्यते। सूर्य्यांशुप्रतिबिम्बवशाद् हिरण्मयभूतेन प्रथमावरणरूपेण पात्रेणैकान्ततः प्रच्छन्नत्वात। किन्तु पूष्णः पृथ्वीरसस्य छायायां सूर्य्यविशेषस्य वा पूष्णः पशव्यप्रकाशे दृष्टिर्निक्षिप्यते तर्हि स पुनः कृष्णमूर्तिः सत्य आत्मा हृदयस्थः साक्षात्क्रियते। तथा च श्रूयते—

"हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत् त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये"। इति
अयं वै पूषा योऽयं पवते, एष हीदं सर्वं पुष्यति।
एष उ प्राणः"। श०४।१।३२।४।१।५।६।

इत्येवं श्रुतस्य पूषाख्यप्राणस्य प्रभावेणाऽदो हिरण्मयमपिधायकं पात्रमपाक्रियते। अथ सत्यधर्मकृष्णमूर्तिरसौ चैतन्यात्मा पुनराविर्भूतो दृश्यते।

"पशवो हि पूषा"। शतपथ. (५।२।४।६॥) इति श्रुतेः पशुषु गोषु तस्य प्रसन्नत्वात् सोऽयं प्रत्यक्षदृष्ट एवार्थः श्रुत्याऽनूद्यते-इति बोध्यम्। यत्तु—

"हिरण्मये परे कोशे विरजं ब्रह्म निष्कलम्।
तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिस्तद् यदात्मविदो विदुः"।

इति मुण्डके हिरण्मयमण्डलान्तर्गतस्यैतस्य कृष्णमूर्तेर्ज्योतिष्ट्वं शुभ्रत्वं चाख्यायते तज्ज्ञानज्योतिष्ट्वाभिप्रायेण भाव्यम्। ज्योतिषां सूर्य्यचन्द्राग्निविद्युतां ज्योतिरित्युक्तेः। शुभ्रत्वमपि शोभनत्वलक्षणं विवक्ष्यते। न शुक्लत्वम् ॥

"न तत्र सूर्य्यो भाति न चन्द्रतारकं
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः॥
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति"॥

इत्युत्तरवचनेन प्रत्यक्षं ज्ञानं प्रकाशतात्पर्ये निर्णीते तत्र ज्ञाने शुक्लवर्णतायः असंभावितत्वात्।

"सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा
सम्यग् ज्ञानेन ब्रह्मचर्य्येण नित्यम्॥
अन्तः शरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो—
यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः॥"

इत्येवं मुण्डकेन—अन्यत्र ज्ञानमयमूर्तेरात्मनः शुभ्रत्वेनाख्यानादिहापि शुभ्रशब्देन ज्ञानज्योतिष एव भास्वरत्वे तात्पर्य्यावसायात्।

"सत्यः स विज्ञानमयः परात्मा
यः कृष्णमूर्तिर्हृदये स आत्मा॥
हृद्ग्रन्थितो यावदयं शरीरे
स्थितः स्थितं तावदिदं शरीरम्" ॥१६॥

तस्यैतस्य चाक्षुषपुरुषस्य य एष मध्यदेशस्थः कृष्णतारकामूर्तिः स सत्यः। श्रूयते हि—

"तद्यत् तत्सत्यम्। असौ स आदित्यः। य एष एतस्मिन् मण्डले पुरुषो यश्चायं दक्षिणेऽक्षन् पुरुषः। तावेतान्योन्यस्मिन् प्रतिष्ठितौ। रश्मिभिरेषोऽस्मिन्प्रतिष्ठितः। प्राणैरयममुष्मिन्"। इति। वृ. आ. १४ ५।

शाण्डिल्यविद्यायामप्ययमेव चाक्षुषः पुरुषः सत्यशब्देन व्याख्यातो द्रष्टव्यः। सा हि शाण्डिल्यविद्या छान्दोग्यश्रुतौ श्रूयते।

यथा—

"मनोमयः प्राणशरीरो भारूपः। एष म आत्माऽन्तर्हृदयेऽणीयान्, व्रीहेर्वा यवाद्वा, सर्षपाद्वा, श्यामाकाद्वा, श्यामाकतन्दुलाद्वा। ज्यायान् पृथिव्याः, ज्यायानन्तरिक्षात्। ज्यायान् दिवो, ज्यायानेभ्यो लोकेभ्यः। एष म आत्माऽन्तर्हृदये। एतमितः प्रेत्याभिसम्भवितास्मि" ॥इति॥

वाजसनेयश्रुतावप्यग्निरहस्ये तावदेषा विद्या श्रूयते।

यथा—

"सत्यं ब्रह्मेत्युपासीत। स आत्मानमुपासीत। मनोमयं प्राणशरीरं भारूपमाकाशात्मानं कामरूपिणं मनोजवसम्। यथा व्रीहिर्वा, यवो वा, श्यामाको वा, श्यामाकतन्दुलो वा, एवमयमन्तरात्मन् पुरुषोः हिरण्मयो यथा ज्योतिरधूममेवम् ज्यायानाकाशा, ज्ज्यायानस्यै पृथिव्यै। ज्यायान् सर्वेभ्यो भूतेभ्यः। स प्राणस्यात्मा। एष म आत्मा। एतमित आत्मानं प्रेत्याभिसंभविष्याभि" ।शतपथ.१०।४।६।२॥ इत्याम्नायते।

तत्रैवारण्यकेऽप्येष पुनराम्नायते। तद्यथा—

"मनोमयोऽयं पुरुषो भाः सत्यस्तस्मिन्नन्तर्हृदये। यथा व्रीहिर्वा, यवो वा। स एष सर्वस्येशानः सर्वस्याधिपतिः, सर्वमिदं प्रशास्ति, यदिदं किञ्चेति"। वृ. आ. १४.६।१४।८।८॥

अत्रैष सत्यः पुरुषो द्वेधा निरुच्यते—अणोरणीयांश्च महता महीयांश्च । तत्रायमेवाऽणीयान् योऽयं दक्षिणे ऽक्षिणि बिम्बहृदये कृष्णमूर्तिः प्रदृश्यते । अथासौ महीयान् भाव्यो योऽयमादित्यमण्डलहृदये कृष्णमूर्तिः पुरुषः । अस्ति चायमादित्यबिम्बोऽपि दक्षिणाक्षिपुरुषवच्चतुःस्तरः पुरुषः । तथाहि तत्रापि चाक्षुषपुरुषवच्छुक्लकृष्णादयो भागाः साम्येन श्रूयन्ते । यथा छान्दोग्ये तावत्—

"यदेतदादित्यस्य शुक्लं भाः सैवर्क् । अथ यन्नीलं परं कृष्णं तत् साम । तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढं साम । अथ य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते तस्योदिति नाम । स एष सर्वेभ्यः पाप्मभ्यउदितः । तस्यर्क् च, साम च गेष्णौ-तस्मादुद्गीथः । अथ य एतदक्ष्णः शुक्लं भाः सैवर्क् अथ यन्नीलं परं कृष्णं तत्साम । अथ तदेतदस्यामृच्यध्यूढं साम । अथ य एषोन्तरक्षिणि दृश्यते । तस्यैतस्य तदेवरूपं यदमुष्यरूपम् । यावमुष्यगेष्णौ तौ गेष्णो, यन्नाम तन्नामेति"

छा० उ० १।७।

अथैवं छान्दोग्यश्रुतौ मधुविद्यायामप्येतदादित्यस्य रोहितं च, शुक्लं च, परं कृष्णं चेति, त्रिविधं रूपंश्रूयते । छा०उ० (१।४।)

तथा चायं यः सूर्य्यबिम्बः प्रतपन् दृश्यते सोऽयं सर्वात्मना कृष्णमूर्तिरङ्गिरःप्राणः संभाव्यते । स च सत्योऽनेन हिरण्मयंपुरुषेण प्रत्यावरणात् स्वरूपेणाऽपिहितो हिरण्मय एव प्रतिभासते । एतच्च परितो ऽभिव्याप्तं हिरण्मयमण्डलमग्नीषोमीयं विद्यात् । सूर्य्यमण्डलादुत्थिताः कृष्णवर्णा अङ्गिरः प्राणाः परितोऽभिव्याप्तैः कृष्णवर्णैः सोमप्राणैः संसृज्येदं ज्योती रूपं भावयन्ति । तेनेदं सूर्य्यज्योतिः सोमज्योतिरपीष्यते । उभयसंयोगसिद्धान्तात् । तथा हि—सूर्य्यस्तावदयं न स्वतो ज्योतिष्मानस्ति । अपि तु—

"आ कृष्णेन रजसा वर्तमान" । इति मन्त्रश्रवणात् कृष्णमूर्तिः प्रतीयते ।

"सुप्रसिद्धपदार्था ये स्वतन्त्रा लोकविश्रुताः ।
शास्त्रार्थस्तेषु कर्तव्यो न शब्देषु तदुक्तिषु" ॥

इत्यभियुक्तोक्तेः कृष्णशब्दस्य कर्षणाद्यपूर्वार्थकल्पनापेक्षया लोकवेदप्रसिद्धवर्णविशेषपरतयैवोपमन्तुं युक्तत्वात् ।

अपि चैष चन्द्रोऽपि न स्वतो ज्योतिष्मानस्ति—

"ब्रह्मा कृष्णश्च नोऽवतु" । इति यजुर्मन्त्र व्याख्यायाम्—
"चन्द्रमा वै ब्रह्मा कृष्णः" । इति वाजिश्रुतौ चन्द्रस्य कृष्णत्वश्रवणात् ।

एवमुभयोः कृष्णत्वेऽपि सोमप्राणस्य दाह्यत्वादङ्गिरः प्राणस्य तु दाहकत्वादुभययोगादिदं ज्योतिरुपपद्यते।

"आदित्यो वा अत्ता, तस्य चन्द्रमा एवाहितयः"। इति। १०।४ २।३।

वाजिश्रुतेरादित्यप्राणे सोमप्राणाहुत्या ज्योतिरुपपत्तिसिद्धान्तात्। अत एव ज्योतिष्ट्वावुभयोर्हेतुत्वमविशेषाच्छ्रूयते।

तथाहि—

"ज्योतिर्वै हिरण्यम्" ।६।४।१।२।)

"अग्निरेतसं वै हिरण्यम्"। (३।७।४।१।)

इत्येवमेकत्राऽग्नेर्हेतुत्वामाख्याय पुनरन्यत्र चन्द्रस्य हेतुत्वं श्रावयति।

"सोमस्य सा अभिषूयमाणस्य प्रियातनूरुदक्रामत्।

"तत् सुवर्णं हिरण्यमभवत्"। तै. ब्रा. (१४।७।) इति॥

"यत्ते सोम दिवि ज्योतिर्यत् पृथिव्यां यदुरावन्तरिक्षे" (शतपथ.३।७।४।२२।)

त्वं ज्योतिषा वितमो ववर्थ"। ऋ.सं. ६।.।.। इति च।

तेनेदं हिरण्मयमण्डलमस्य सूर्यस्य वैकारिकत्वात् पराश्रितधर्मो न स्वरूपधर्मः। अत एव स्वरूपतः कृष्णस्यास्य परिमण्डलमूर्तेः सूर्यस्य हिरण्मयपात्रेणापिधानं सिद्धं भवति। अथै तस्य हिरण्मयमहामण्डलस्य बहिर्धा समन्तत् पारमेष्ठ्यो वायुसमुद्रो नीलाकाशरूपेण परिश्रूयते। तस्य पुनर्बहिर्धा विशुद्धः श्वेतवर्णो वेदः प्राणो वाङ्मयः समन्ताद् वृणुते। तस्मा च शुक्ल नीलहिरण्मयैस्त्रिभिरावर्णैः समावृतः कृष्णमूर्तिरयं सूर्योऽनुध्यातव्यः।

"आ कृष्णेन रजसा वर्तमानो निवेशयन्नमृतं मर्त्यं च।

हिरण्मयेन सविता रथेना देवो याति भुवनानि पश्यन्"।

इति मन्त्रश्रुत्या सवितुर्देवस्य हिरण्मयरथारूढकृष्णमूर्तित्वेनैवोपदिष्टत्वात्। तथाचाध्यात्मं तावदणीयानयं चाक्षुषः पुरुषः, अधिदैवतं तु महीयानयं सविता पुरुषः, इत्येवं सत्यात्मनः पुरुषस्य रूपद्वयं साम्येन सिद्धं भवतीतिनिष्कर्षः॥ तत्र सविताथं विश्वाधिष्ठाता महतो महीयान परमात्मा। अथायं चाक्षुषः पुरुषः शरीराधिष्ठाताऽणोरणीयान् जीवात्मा। तावेतावेकं रूपं सत्यमित्युपासीत। स एष भगवान् श्रीकृष्ण एवास्माकं जीवात्मा च परमात्मा च। स जीवात्मैवायं कृष्णः परमात्मानं कृष्णमभेदेन प्रत्याययितुमाह गीतायाम्।

"अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।

परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्"। इति॥

एतेन परमात्मन एव मानुषशरीरे प्रवेशाज्जीवात्मत्वमुपपद्यते। इत्यौपाधिकोऽयं घटाकाशवद् भेदो न वस्तुभेद इत्याख्यातं भवति। तथा चैतया शाण्डिल्यविद्यया सिद्धामर्थं भगवानप्याह—

"ईश्वर: सर्वभूताना हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया" ॥ इति ॥

हृद्देशे इति चाक्षुषपुरुषापेक्ष: शरीरापेक्षश्च । बृहदारण्यके चाक्षुषपुरुषस्य शरीरहृदये संस्थावोक्तेरिति भाष्यम् ।

यत्तु शुक्लकृष्णातिकृष्णैस्त्रिवृत्कृतेऽस्मिंश्चर्म्मचक्षुषि सर्वान्तरतो यन् मनोनाम चिन्मय: प्रज्ञाप्राण: प्रतितिष्ठति । स एवैतस्मिंश्चाक्षुषपुरुषबिम्बे गर्भस्थ: कृष्णमूर्ति: साक्षात् क्रियते । एष इन्द्र:, एष: सत्य:, एष ममात्मा, इत्येवं कश्चित्संभावयेत् । तत्र भ्रम: । एष खलु प्राज्ञ आत्मा पार्थिव: प्राणो नत्वयं दिव: साक्षादुपपद्यते ।

यद्यपि—

"अथो खल्विन्द्र: सत्यादेव नेयाय । इन्द्र उवा च । प्राणो ऽस्मि प्रज्ञात्मा । तं मामायुरमृतमित्युपास्व । प्राणो वा आयु: । प्राणोऽमृतम् । यो वै प्राण: सा प्रज्ञा । या वा प्रज्ञा स प्राण: । सह ह्येतावस्मिन् शरीरे वसत: सहोत्क्रामत:" । कौ० उ० ३।१।४।

इति श्रुत्या प्रज्ञाप्राणस्यापीन्द्रत्वं सत्यत्वमात्मत्वं चोपपद्यते । तथाप्ययं प्रज्ञात्मा पृथ्वीगर्भप्रविष्ट: परम्परयाऽध्यात्मं संपद्यते, न साक्षादयममुष्मात् सूर्य्यादिहोपतिष्ठते तेनाय भिद्यते । तथाहि द्विविध: खल्वयं चाक्षुष: पुरुषो भवति । प्रज्ञानात्माऽन्यो विज्ञानात्मा चान्य: ॥

"यत्रैतदाकाशमनुविषण्णं चक्षु: । स चाक्षुष: पुरुष: ।" छा० ८।१२।

इत्येवमाम्नातश्चक्षुर्द्वयसाधारण: प्रज्ञानात्मा । स एष खलु भ्रूनासाऽभ्यन्तरस्थश्चक्षुमूलकृताङ्गुल्योत्क्षिप्ते चक्षुषि ज्योतिर्म्मयमण्डलात्मना विद्युदिव विद्योतमान: क्षणमन्तर्दृश्यते । "अथ योय दक्षिणेऽक्षन् पुरुषस्तमिन्द्र इत्याचक्षते" । बृ०आ० ४।२। इत्येवमाम्नातस्तु चक्षुषो वहिराकाशे प्रत्यक्षं दृष्टो विज्ञानात्मा । स उभयो ऽप्ययमात्मा सत्य इन्द्र: । तत्र योऽयं चाक्षुषो बहिरन्तरिक्षे संचरति स सूर्य्यमण्डल, हिरण्मयप्रभामण्डल, समुद्रमण्डल, वेदमण्डलै: कृतमूर्तिना परमात्मना समानाकृतिरस्माकमात्मा भवति । परमात्मैवायं जीवात्मतामायात:—एतमात्मानमुपासीनस्तत्र प्रतिपत्तिमादधान: प्रक्षीण शरीरानरागो विगतज्वरोभवति ।

तथा च श्रूयते—

"आत्मानं चेद् विजानीयादयमस्मीति पूरुष: ।
किमिच्छन् कस्य कामाय शरीरमनु सञ्ज्वरेत्" ।
तं चाक्षुषं पूरुषमेव सत्यं
प्रत्यक्षदृष्टं परमेष्ठिनं वा

विभावयामीह तमेव राधा—
कृष्णस्वरूपेण विदन्नुपासे ॥ १ ॥

तमेतमादित्यपुरुषमेवाध्यात्मं चाक्षुषपुरुषं राधाकृष्णरूपेण भावयेत्। यस्तत्र मध्ये कृष्णः स सत्यः श्रीकृष्णः। या चेयं हिरण्मयपटली सा राधा। हिरण्मयप्रभारूपया राधया समालिङ्गितं कृष्णं द्वेधा पश्यन्ति—राधान्तर्हितं वा, अन्तर्हितराधं वा। ये त्वेतं सूर्ये सन्तं वा सत्यं कृष्णं राधा सद्वितीयं प्रत्यक्षमेव दृष्ट्वोपासितुं न समर्थन्ते ते खलु तमेव राधाकृष्ण-मात्मानं निदानेनाऽस्मिन् मानुषे कृष्णे राधा सद्वितीये प्रतिमादिभिरुपासते लोका इति भाष्यम्॥ सोऽयमुपासनाया अन्यतमः प्रकारोऽन्यत्र व्याख्यातः॥

॥ इति चाक्षुषकृष्णरहस्यम् ॥

६-वैहायसकृष्णरहस्यम् ।

अपि च—अस्मिन्नन्तरिक्षविहारिणि कृष्णचन्द्रे यः क्रमावतारः सत्यः सोऽयं भगवान् कृष्ण इत्युपासितव्यः ।

तथाहि—

"ब्रह्म कृष्णश्च नोऽवतु" । (यजुः २३।१३।) इति यजुर्मन्त्रव्याख्यायाम्—

"चन्द्रमा वै ब्रह्मा कृष्णः" । शत. १३।२।१।७। इति वाजसनेयश्रुतेरयं चन्द्रः कृष्ण इत्युपगम्यते । अकृष्ण इति महिधरव्याख्यानं त्ववैज्ञानिकम् । सूर्य्यप्रतिदिशि चन्द्रस्वरूपेण कृष्णतायाः प्रतीयमानत्वात् ।

"अत्राह गोरमन्वत" । (ऋ. १।८४।१५।) इति मन्त्रश्रुत्या चन्द्रस्य सूर्य्याधीन ज्योतिष्मत्वावगमाच्च । तस्मिंश्च वैहायसकृष्णचन्द्रे ऽवतीर्णोऽयं सत्यः कृष्णः क्रमावतारादिह मानुषकृष्णे संनिधत्ते । अत एवाऽयं मानुषः कृष्णः कालेनाऽप्सु समुद्रे द्वारकायां कृतायतनो निवसति स्म । तद्देवकृतात्मा मानुषस्तद्देवप्रकृतिको भवतीति सिद्धान्तात् । अस्य हि वैहायसकृष्णचन्द्रस्य—

"चन्द्रमा अप्स्वन्तरा सुपर्णो धावते दिवि" । ऋ. १।१५०।१।) इति मन्त्रश्रवणादन्तरिक्षेऽप्सु विहरणस्वाभाव्यानुगमात् । सचाऽयं वैहायसकृष्णचन्द्रेऽवतीर्णः सत्यः कृष्णः क्रमावतारादिह मानुषे कृष्णे ऽवतीर्णो मानुषस्वरूपेणैवोपास्यते । उपासकानां मनुष्यतया लोकान्तरस्थसत्यापेक्षया मानुषसत्यस्य सालोक्येनाऽतिसंनिधीयमानत्वात् ।

(राधा)

अथैतस्मिन् वैहायसे कृष्णे द्विविधा राधा विवक्ष्यते । कृष्णप्राणा च रासेश्वरी चेति । तत्रेयं प्रथमा कृष्णवक्षःस्थलान्नान्यत्रोपपद्यते ।

"कृष्णप्राणा हि देवी सा कृष्णप्राणाधिकप्रिया ।
कृष्णस्य सङ्गिनी शश्वत् कृष्णवक्षस्थलस्थिता ।।" देवी भा. ८।२।४६।

इति स्मरणात् । तत्र तावच्चन्द्रस्यार्द्धाङ्गसंपरिष्वक्ता गौरवर्णा चन्द्रिकेवेयं सा राधा प्रतिपत्तव्या । सेयं वृषभानुसुतानाम, इन्द्रो वृषा सूर्य्यात्मा ।

"यथाग्निगर्भा पृथ्वी तथा द्यौरिन्द्रेण गर्भिणी" इति मन्त्रश्रवणात्

तस्य भानू रश्मिरिमां राधिकां चन्द्रचन्द्रिकां प्रसूते इति कृत्वा सा वृषभानुसुतोच्यते । तामेतामाश्रितां भक्तिं सूर्य्यांशुतो राधितत्वाद् राधां नामाचक्ष्महे ।

"अत्राह गोरमन्वत नाः त्वष्टरपीच्यम् ।

इत्था चन्द्रमसो गृहे" । (ऋ. १।८४। १५। इति मन्त्रश्रुत्या सूर्य्यांशोरेव चन्द्रिकात्वे-नोपगन्तव्यत्वात् । तथा च पूर्णिमायामन्तर्हितकृष्णराधिकैवेयं भासते । अमायान्त्वन्तर्हितराधः कृष्ण एवोपपद्यते । अंशतस्तूभावन्यत्रेति भावयेत् । इत्येका प्रतिपत्तिः ॥ १ ॥

अथ रासेश्वरी राधा व्याख्यायते । सा हि गोलोकवासिनी रासावासनिवासिनी चेति स्मर्य्यते—

"रासेश्वरी सुरसिका रासावासनिवासिनी ।
गोलोकवासिनी देवी गोपीवेषविधायिका" देवी भा. ६।१।
"राध्नोति सकलान् कामान् तस्माद् राधेति कीर्तिता" । दे.भा ६।५०।१८।

इति सर्वकामसाधकत्वादस्या राधात्वं ब्रुवते । सेयं विशाखानक्षत्ररूपा भाव्या । तस्या ऐन्द्राग्नदेवताकतया लोकद्वयात्मकत्वेन सर्वार्थसाधकत्वोपपत्तेः । कृष्णप्राणामपरित्यजन्नेव तु भगवान् कृष्णो रासमण्डले रासेश्वर्य्यासंयुनक्ति । तेनेयमुभयी रासमण्डले खल्वेका संपद्यते ।

तथा च स्मर्य्यते—

"कृष्णप्राणाधिदेवी सा तदधीनो विभुर्य्यतः ।
रासेश्वरी तस्य नित्यं तया हीनो न तिष्ठति" । देवी भा. ८।५० १७।

(रासः)

अथेदं रासरहस्यं वक्ष्यामः "नक्षत्राण्यापः" इति सिद्धान्तादुडुशब्देन तानि व्यपदिश्यन्ते । दविष्ठान्यपि सूर्य्यज्योतिषाकृष्टानि तैजसानि संपद्येह रोदस्यां चन्द्रे पृथिव्यां चोपसन्नानि जायन्ते तदिदं नक्षत्रमण्डलमयं चन्द्रश्चतुर्धा परिक्रममाणो भुङ्क्ते । षष्टि-घटीमितस्य प्रत्याह्निकगत्यात्वेकधा । पृथ्वीप्रादक्षिण्येनाह्नां सप्तविंशत्या किञ्चिदधिकया त्वन्यथा । सूर्य्यप्रादक्षिण्येनाह्नां त्रिंशत्या चतुः पञ्चाशदधिकया चापरथा, अयनपरिभ्रमणेन पञ्चविंशतिसहस्राधिकवर्षपूगैश्चान्यथा, तेनैष चतुर्विधो मासः सम्पद्यते । (मसी परिणामे धातोर्णिवे प्रत्ययेन सान्तो मास् शब्दश्चन्द्रं वक्ति) तस्यायं चन्द्रस्य भूमण्डलभोगोपलक्षितः कालो मासः । स चतुर्विधिः—दैनिकः, पार्थिवः, सौरः, आयनिकश्च । तमेतमेव चतुर्विधं मासमिदैतं रासमाख्यास्यामः । रसप्रवर्षणो मण्डलपरिभ्रमो रास इति सिद्धान्तः । तत्राऽयं रस आनन्दो दधिमधुघृतामृताद्यन्नभावश्च । चन्द्रपरिभ्रमणेनैव हि सर्वत्र दिव्यरसोपरसानुगमादेषां सर्वेषां जगद्भावानामुत्पत्तेः शान्तिसमृद्ध्यानन्दोपपत्तेश्चैतस्य तारकमयगोपीमण्डलसंयोगेन कृष्णचन्द्रपरिभ्रमस्य राससंज्ञा ।

(तत्र तावद्—अयनरासः)

तत्रायनिकस्तावदुच्यते। एष खलु चन्द्रमसो मासो दार्शपूर्णमासिकत्वात्पूर्वपक्षाप-परक्षाभ्यां द्वेधा विभज्यते। तत्र पुरा दैवयुगे भरण्यन्ते तावदयनसत्वात्तत्र भरण्यन्ते ऽपरप-क्षान्तोदर्शः। ततो विशाखार्धान्ते यावदयनप्रवेशस्तावदयं पूर्वपक्षः शुक्लपक्षः।

"पूर्णा पश्चादुत्पूर्णा पुरस्तादुन्मध्यतः पौर्णमासी जिगाय"। तै० ब्रा० ३।१।

इति मन्त्रश्रुत्या राधापरनाम्न्या विशाखायाः पौर्णमासीत्वेन श्रूयमाणत्वात्। अथ भरण्यन्तोऽपरपक्षः कृष्णपक्षः। भरण्या अामावास्यात्वेन तैत्तिरीयब्राह्मणस्य तृतीयकाण्डी-यप्रथमाध्यायश्रुत्या ३।१। निर्धारितत्वात्। भरण्यां पक्षावसानं मण्डलावसानं च भवतीति कृत्वैवास्या भरण्या यमदैवत्वमाख्यायते।

"अदाद् यमोऽवसानं पृथिव्या"। [इति शतपथ.७।१।१।]
"यमो ददात्ववसानमस्मै"। शत [१३।४।५।४।)
"यमो ह वा अस्यावसानस्येष्टे"॥ [शत.७।१।१।]
"यमो ह्वा अस्यामवसानस्येष्टे"। (१३.४।५।४।)

इति श्रुत्या यमस्यावसानदेवतात्वात्। यच्चेदानीमुत्तरभाद्रे वसन्तसंपातः सोयमस्य तिथिकालः स्यात्। तथाचैवं कृत्तिकाद्ययनकाल एवाऽयं विशाखापूर्णिमाकालः। तत्र च राधाया ऐन्द्राग्नदेवतायाः पूर्णत्वाद् वेदविज्ञानघनः पूर्णः पृथिव्यां प्रचरति स्मेति गम्यते। एष तावन्महामण्डलपरिभ्रमः परमो रास इत्येका प्रतिपत्तिः ॥१॥

(अथ संवत्सररासः)

अथ सौरसाम्वत्सरिको मास एवापरो रासो वक्तव्यः। कृत्तिकातो विशाखार्धान्तः शुक्लपक्षः। तत्र पृथिवीचन्द्रौ सूर्य्यसमधरातलरूपाद् विषुवद्वृत्ताद्दक्षिणतोऽधस्तात् संचरतः। तत्रोत्तरोत्तर मिह पृथिव्यां सौरतेजःसंयोगाभिवृद्धिरिति कृत्वा सोऽयं शुक्लः पक्ष उच्यते विशाखा पूर्णमासी। अथ विशाखार्धात्पुनर्विषुवन्तमासद्य ततः पृथिवीचन्द्रौ सूर्य्यादुत्तरत ऊर्ध्वं संचरतस्तत्र क्रमादिह पृथिव्यां सौरतेजोबलापचयोऽनुभूयते। तस्मादयं कृष्णपक्षः। भरणी यमदैवत्याऽमावास्या। तथा चैतत् सूर्य्यप्रादक्षिण्यं चन्द्रमसः पुनरन्यो मासकालः संवत्सरात्मा। स मण्डलपरिभ्रमो रास इति द्वितीया प्रतिपत्तिः ॥२॥

(अथ मासिकरासः)

अपि च ब्रूमः—आण्यान्यपीमानि नक्षत्राणि सूर्य्यगोरसपानकर्तृत्वाद् गोसवयज्ञी-यपारमेष्ठ्यगोपालत्वाच्च गोप्यः स्युः। विशाखा हीयं राधा सूर्य्यगोभिरुत्पन्ना प्रकाशिता भवति। राधायामागता चेयं गौ वृषभानोरेव रेतो भवति। विशाखासमसूत्रायां कृत्तिकायां

योनौ प्रतपतः सूर्य्यस्य वृषभानुत्वात्। कृत्तिरिति नापितक्षुरसंज्ञा। तदाकाराकारिता तारका कृत्तिः। सैव कृत्तिका। कृत्तिकायां दृष्टः सूर्य्यो वृषभानुः। कृत्तिकाया वृषराशिभुक्तत्वात्। तेन कृतिगर्भे वृषभानुरेतसेयंराधा वैशाखपूर्णिमायां प्रजायते—इत्युक्तं भवति। यत्तु राधाया मातुः कीर्तिरिति नामाख्यायते तदेतद् विज्ञानमजानतां भ्रमकल्पितं रूपं संभावयामः। तथा च राधायां संश्लिष्यमाणः कृष्णचन्द्रो वैशाखपूर्णिमायां दृश्यते। स हि राधाया आधिदैविक्या अवतारकालो भाव्यः। भाद्रपदशुक्लाष्टम्यामनुराधायां तु राधाजन्माख्यानम्—

"केनचित्कारणेनैव राधा वृन्दावने वने।
वृषभानुसुता जाता गोलोकस्थायिनी सदा"। दे. भा. ८।५०।४३।

इति पुराणस्मरणाद् मनुष्यशरीराया आधिभौतिक्या द्रष्टव्यम्। आधिदैविकाधिभौतिकयोर्यथा कथंचित् सादृश्येनाप्यध्यवसायनिर्वाहः संभवति। अस्ति च कृत्तिकातो नवतारकविभागे नक्षत्रमण्डले फल्गुनी तत्रैव च तदानीं सूर्य्यस्यावस्थानात् स्वल्पदृष्ट्या राधायां सूर्य्यांशुयोग इति सन्तोष्टव्यम् ॥।॥

अथ यदा विशाखायां सूर्य्यः प्रतपति। कृष्णचन्द्रश्चायं कृत्तिकानक्षत्रे संनिधत्ते तदानीं राधामयः सूर्य्यरश्मिः कृष्णचन्द्रे पूर्णं संयुनक्तीति कृत्वा सर्वेतरपूर्णिमापेक्षया नुनमस्यां कार्तिक्यां पूर्णिमायामस्य कृष्णचन्द्रस्येयमर्द्धाङ्गिनी राधा रसप्रचुरं सुमधुरं रूपं धत्ते। अत एवाऽयमस्या राधाया महोत्सवकालः स्मर्य्यते।

"कार्तिक्यां पूर्णिमायां तु राधायाः स महोत्सवः।
कृष्ण, संपूज्य तां राधामुवास रासमण्डले"। दे. भा. ८।२।४७।

यत्तु कार्तिकपूर्णिमायामस्यां राधाया जन्माख्यायते, तद्रासेश्वर्य्या राधाया रासमण्डले कृष्णसङ्गमजन्माभिप्रायं भाव्यम् ॥

"यः कार्तिक्यां पौर्णमास्यां राधाजन्मोत्सवं बुधः।
कुरुते तस्य सानिध्यं दद्याद् रासेश्वरी परा"। दे. भा. ६।५०।४२।
"प्रथमं पूजिता राधा गोलोके रासमण्डले।
पौर्णमास्यां कार्तिकस्य कृष्णेन परमात्मना"। दे. भा. ६।१।१५२।

इति पौराणिकाक्षरस्वारस्येन तथैव प्रतिपत्तेः।

कृत्तिकातो नवतारकविभागस्य नक्षत्रमण्डलस्य मध्यमे विभागे रधामभितश्चतस्रश्चतस्रस्तारका राधाया अष्टौ सख्यः कल्पन्ते। तावति नवतारके प्रदेशे कृत्तिकाचन्द्रस्य ज्योत्स्नानुगते साधु संप्रतिपन्नत्वात्। इतरा त्वष्टादशगोप्यः परिचारिकाः स्युस्ताभिः सह चन्द्रमासानुसारात 'प्रत्यहं' कृष्णचन्द्रस्य परिचङ्क्रमणं दृश्यते। सोऽस्य रासविहारो भाव्यः।

तत्र हि स कृष्णचन्द्रः प्रत्यहमन्यान्यगोपिकायां सं निधत्ते । किन्त्वेतां रासेश्वरीं रासमण्डलानुप्रविष्टां राधां क्रमेण परित्यजन्नपि नैतां कृष्णप्राणां राधामेष विजहद् रूपं धत्ते ।

तथा च सर्वदा अष्टाभिरेव गोपिभिः सहितया राधया विहरंश्चन्द्रो यदनुदिनं प्लवमानः सर्वमाकाशमण्डलं भूयो भूयः परिक्रमते । कदाचिदुच्चैः कदाचिमुत्प्लवमानो नीचैः कदाचिदाश्रयते पुनरुच्चैरारोहति । काले काले स लघुमण्डलो भूत्वा महामण्डलो भवति । काले काले दक्षिणतः परिक्रममाणः परिवर्त्योत्तरतो भूयः परिक्रमते । सेयमस्य वैचित्र्येण गती रासक्रीडाऽऽधिदैविकी भवति । तदनुकृत्यैव चायं मनुष्यशरीरः श्रीकृष्णो राधया रासविहारं चक्रे । सोऽयमस्य रासविन्यासो वैज्ञानिकदिव्यरासाभिनयरूपो ज्योतिषविज्ञानानुशिक्षामात्रं द्रष्टव्यम् ।

एतेनैव हि दिव्यकृष्णचन्द्रस्य प्रकृतिसिद्धेन रासविहारेणाशेषाणामिह मनुष्यादिप्राणीनां मनोभावा अनुपलं भिन्नरसैः परिवर्त्तन्ते । उच्चैर्भावा नीचैर्भावाः सुखवृत्तयो दुःखवृत्तयः संकल्पविकल्पात्मका भिन्नरसा मनोभावा अतिरिच्यन्ते नैकरसास्तिष्ठन्ति । तदेतेषां नाना रूपाणां परिवर्तमानानां मनोविकाराणां मनःप्रभवचन्द्रकृता रासक्रीडैव हेतुर्विज्ञायते । अनन्तकाला हीयं रासक्रीडा वैज्ञानिकरूपेण विज्ञाता सती निःशेषप्राणीनां जीवनरसपरिवर्तनविज्ञानायोपकर्तुं क्षमते इति सिद्धान्तः । तदित्थमस्य सोमवंश्यस्य श्रीकृष्णचन्द्रस्य सोममयदिव्यकृष्णचन्द्रावतारत्वं बहुभिरनुचरितैः सौसादृश्यादनुभावयन्तीति भाव्यम् ॥०॥

॥ इति वैहायसकृष्णरहस्यं संपूर्णम् ॥

७—विश्वम्भरकृष्णः ।

विश्वम्भरकृष्णोऽग्निरक्षरपुरुषः ।

"यदिदं दिवो, यददः पृथिव्याः, सं जज्ञाने रोदसी सं बभवतुः ।
उषान् कृष्णमवतु, कृष्णमूषाः, इहोभयोर्यज्ञियमागमिष्ठाः"। तै.ब्रा. १।२।१।

अत्र यावन्तोऽमीश्चेता उषाः सा राधा दिव्या पृथिवीस्थं कृष्णमासज्जते ।

॥ इति विश्वम्भरकृष्णरहस्यम् ॥

त्रिसत्ये दिव्यकृष्णरहस्ये-प्रजापति सत्यम् ।

तत्रादौ प्रजापतिसामान्यनिर्वचनम् ।

"ब्रह्मैवेदं सर्वम् खल्विदं ब्रह्म"। यतो जन्म, यस्मिन्नवस्थितिः, यत्रलयोऽस्य सर्वस्य तद् ब्रह्म ।

तदिदं ब्रह्म द्वेधा विवर्तते-परात्परं-प्रजापतिश्चेति । असीमं परात्परं, ससीमं प्रजापतिः ।

"प्रजापतिश्चरतिगर्भे अन्तरजायमानो बहुधा विजायते ।
योनिं परिपश्यन्ति धीरास्तस्मिन् ह तस्थुर्भु f " ॥

अयंभावः। असीमस्य परात्परस्य गर्भे प्रजापतिरन्तश्चरति। स्वशरीराच्छेदेन, महिमावच्छेदेन वान्तर्विभर्वात न ततो वहिर्धाऽस्य किञ्चिदस्ति। सोऽयमजायमानोऽपि नानाभावैर्विजायते। स्वस्मिन् नाना प्रजा जनयति "स आत्मन्त्येव प्रजातिमधत्त" तस्य प्रजापतेर्योनिमुत्पत्तिस्थानं परात्परं धीराःपरिपश्यन्ति । सर्वत्राव्यावृतं पश्यन्ति प्रजापतेः शरीराद् बहिर्धा चान्तरतश्च विद्यमानं भावयन्ति ।

तस्मिन्नेवास्मिन् प्रजापतियोनौ परात्परे भिन्नभिन्नानन्तप्रजापत्यधिष्ठितानि सर्वाणि भुवनानि तस्थुः। अथवा-तस्मिन् ससीमेऽस्मिन् प्रजापतौ सर्वाणि दहरभुवनानि तस्थुः स्वयम्भुपरमेष्ठ्यादीनि भुवनानि प्रजापतौ तिष्ठन्ति । अणोरणीयाँश्चायं प्रजापतिः, महतोमहीयाँश्च । महतोमहीयानीश्वरः अणोरणीयान् वा इतरः । अतएव—

"प्रजापतिरेवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम्", एकैका व्यक्तिरियमेकैकः प्रजापतिः ॥इति॥ स एष पुरुषप्रजापतिर्द्विविधः—ईश्वरो, जीवश्च ।

तत्र पञ्च पञ्चजनैः, पञ्च पुरञ्जनैः, पञ्चाधियज्ञैः परात्परेण षोडशिना च कृतरूपोयमीश्वरः प्रत्येतव्यः ।

परात्परः, अव्ययः, अक्षरः, क्षरश्चेति चतुःसंस्थो जीवप्रजापतिः ॥
अत एव "षोडशकलं वा इदं सर्वम्" इत्युक्तम् ॥
ते चैते उभे पृथक् पृथक् व्याख्यातव्ये ॥

१—उक्ता इमे वैकारिकाः पञ्चाधियज्ञात्मानः प्रतिमाप्रजापतयः—स्वयम्भूः, परमेष्ठी—सूर्य्यः, चन्द्रः, पृथ्वी चेति । तानीमान्यश्वत्थस्य सहस्रवल्शस्यैकवल्शायाः पञ्च पुण्डीराणि ।

२—अनन्तमायावलगभितमेकं बलं महामाया। तद्गर्भसंभूतान्यनन्तानि मायाबलानि योगमाया। पञ्चभिर्योगमायाभिः क्लृप्तानीमानि पञ्च पुण्डीराणि। पञ्चविधाश्चैता योगमायाः कयाचिद्रक्रया महामाययाऽन्तर्यामेण गृहीता भवन्ति। योगमायाबलावच्छिन्नात्मसाराणि हीमानि पुण्डीराणि। एषामयमेकैक आत्मा त्रिपुरुषः पुरुषः।

३—सोऽयमेतावान् महामायाबलावच्छिन्नात्मसारः प्रजापतिरीश्वरः। तस्यैकस्येश्वरस्यैतानि शरीराणि भवन्तीति नैतानि पुण्डीराणीश्वरादतिरिच्यन्ते। यद्यप्येतानि भिन्नाव्ययसंस्थानि परस्परतो भिद्यन्ते तथापि तेषु भिन्नेष्वभिन्नः कश्चिदेको ऽव्ययपुरुष ईश्वरो नाम। स वैतेषु स्वयंभ्वादिषु सर्वेष्वनुस्यूतोऽस्तीति स एको गूढोत्मा परमः प्रजापतिर्द्रष्टव्यः।

४—इदंत्वपरं बोध्यम्। पुण्डीरेषु चैतेषु त्रयोऽग्नयो द्वौ सोमावित्यस्ति—किञ्चिद् वैचित्र्यम्-प्राणः, वाक, अन्नाद-इत्यग्नयः॥ आपः, अन्नम्-इति सोमौ॥ तत्रायमग्निरत्ता, सोम आद्यम्। यत्रेदमाद्यमत्ता भुनक्ति तत्रायमत्तैवाख्यायते नाद्यमित्यैतरेयश्रुतिराह। तेनैतयोः सोमयोरग्निभिः संगृहीतत्वादग्नित्रयकृतास्तिस्र एव संस्था निष्कृष्यन्ते—

१—प्राणनाथः स्वयंभूर्ब्रह्मा प्रथमा संस्था।

२—अथ-देवनाथो हिरण्यगर्भो विष्णुर्द्वितीया संस्था।

३—अथ-भूतनाथोऽयं सर्वभूतान्तरात्मा महादेवस्तृतीया संस्था।

तत्र च वाक्प्राणमनोमयी वाग्देवी ब्रह्मशक्तिः स्वयंभूमण्डलमभिव्याप्नोति। आपो वायुः सोमइत्यापयोमयी क्षीराब्धितनया रमादेवी विष्णुशक्तिर्हिरण्यगर्भमण्डलमभिव्याप्नोति। अग्निः, वायुः, आदित्यः- इत्यग्निमयी दुर्गादेवी महादेवशक्तिः—रोदसीत्रैलोक्यमण्डलमभिव्याप्नोति॥ तत्रैतां वाचं सरस्वतीमाहुः, द्विविधा हीयं वाक् अव्ययरूपाऽन्या, शुक्ररूपा चान्या। तयोरव्ययरूपा ब्रह्मणः पत्नी। शुक्ररूपा तु ब्रह्मणः कन्या भवति॥ अथैतासामपां द्वे रूपे-भृगुमयी तावदन्या। अङ्गिरोमयी चान्या। "आपो भृग्वङ्गिरोरूपम्" इत्यथर्वश्रवणात्। तयोर्भार्गवी श्रीः। आङ्गिरसी तु प्रकाशमयी लक्ष्मीः। सेयमुभयी विष्णुपत्नी। "श्रीश्चतेलक्ष्मीश्चपत्न्याविति" यजुःश्रुतेः॥

एवमस्याग्नेरपि द्वे तन्वौ-घोराऽन्या च, शिवाऽन्या च। तयोर्या घोरा सा काली या पुनरियं शिवा सा गौरीति भाव्यम्॥.॥

यथैकस्य जीवस्य शरीरयष्टौ तिस्रो गुहा भवन्ति-शिरोगुहा, उरोगुहा, उदरगुहा चेति प्रतिगुहा-संचालकश्चात्मा भिद्यते।

शिरोगुहायामिन्द्रश्चिदात्मा ब्रह्मकपालस्थः प्रधानः । उरोगुहायां वायुः प्राणात्मा हृदयस्थः प्रधानः । उदरगुहायामग्निरन्नादोऽन्नात्मा नाभिस्थः प्रधानः । त्रयोऽप्येते परस्परसापेक्षा नान्येनविनाऽन्यः स्थितिं लभते । एकव्यपाये च त्रितयं व्यपैति । अत एव—

"अणोरणीयान् महतो महीयानात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्"

इत्याह । एवमेवेश्वरस्यैतस्य शरीरयष्टिरूपायामश्वत्थवल्शायामिमास्तिस्रः संस्था भवन्ति । वाक्संस्था, अग्निसंस्था, आपः संस्थाचेति । प्रतिसंस्थासंचालकश्चात्मा भिद्यते—

१—वाक्संस्थाया आत्मा–स्वयंभूर्ब्रह्मा पितामहः ।

१—आपः संस्थाया आत्मा–हिरण्यगर्भो विष्णुर्नारायणः ।

३—अग्निसंस्थाया आत्मा–सर्वभूतान्तरात्मा महादेवो महेश्वरः ।

त्रयो ऽप्येते परस्परसापेक्षाः । नान्येन विनान्यः स्थितिं लभते । यत्तूपासका हृदि ब्रह्माणं, नाभौ विष्णुं, शीर्ष्णि महादेवं ध्यायन्त उपासते तद्रहस्यमन्यत्रोपासनारहस्य-प्रकरणेषूपपादितं द्रष्टव्यम् ॥

॥ इति प्रजापतिसामान्यनिरुक्तिः ॥

८—प्रजापतिसत्ये ईश्वरकृष्णरहस्यम् ।

"यत् सत्यम् तद् ब्रह्म" इतिश्रुतेः सत्यमूर्तिरयमीश्वरो वक्तव्यः । सत्यश्चायं नवधा विज्ञायते । तस्मान्नवधाविभक्तसत्यस्वरूपोऽयमीश्वरः सत्यप्रजापतिः । स च भूतज्योतिर्विषयो नास्तीति चक्षुरयोग्यत्वात् प्रत्यक्षं न भातीतिकृत्वा भवत्यनिरुक्तः कृष्णः । सोऽयमीश्वरः कृष्णो द्वेधा व्याख्यातव्यः—प्रजापतिविशेषोऽयमेक ईश्वरोऽस्तीति प्रजापतिरूपेणायमेकः कृष्णः । अथ नवधाविभक्तसत्यस्वरूपोऽयमीश्वरोऽस्तीति नवसत्यरूपेणायं नवधा कृष्णः । तत्रादौ—

१—प्रजापतिशरीरनिरुक्तिः ।

सगुणः सशरीरः सद्रविणः सोपग्रहः सत्यः प्रजापतिः । तत्र षोडशकलोऽयमात्मा सत्यः । प्रतिष्ठाज्योतिर्यज्ञा आत्मगुणाः तान्यन्तरङ्गवीर्याणि । बीजदैवतभूतानि शरीराणि । वित्तानि वीर्याणि । ब्रह्मक्षत्रविडिति बहिरङ्गानि वीर्याणि द्रविणानि । आत्मबलं ब्रह्मवीर्यम् । मनोबलं क्षत्रवीर्यम् । अन्नबलं विड्वीर्यम् । बीजाश्रितं क्षत्रम् । भूताश्रिता विट् । एतान्येव वित्तानि । वेदा-लोका वाचश्चेति त्रीणि साहस्राण्युपग्रहः । महिमान उपग्रहाः । यावद्वित्तं तावदात्मा स्वे महिम्नि प्रतिष्ठितः । गुणशरीरद्रविणोपग्रहाः परिग्रहाः । एषामालम्बनं विशुद्ध आत्मा । सर्वपरिग्रहविशिष्टस्त्वात्मा प्रजापतिः । प्रजापतिर्द्विविधः—ईश्वरो जीवश्चेति । तत्रेश्वरस्तावद् व्याख्यायते ।

"यः सर्वज्ञः सर्वविद् यस्य ज्ञानमयं तपः ।
तस्मादेतद् ब्रह्म नामरूपमन्नं च जायते ।"

इतिश्रुतेस्तपोमयः सत्य एवायमात्मा त्रयीब्रह्मलक्षणप्रतिष्ठया, नामरूपलक्षणज्योतिषा, अन्नलक्षणयज्ञेन च कृतरूपो विश्वशरीरो वेदमयो लोकमयः सन्नीश्वर इत्युच्यते । विश्वशरीराधिष्ठाता विश्वव्यापी सत्यः । स गूढात्मात्वीश्वरसत्यात्मा भवतीति परिग्रहविशिष्टादस्मादीश्वरात् सोऽतिरिच्यते । अथ तस्मिन्नात्मनि प्रतिष्ठितं पञ्चयज्ञक्षरविकारजातमेवेदं विश्वं, तच्चात्मस्थं वैकारिकं रूपमस्मादात्मन्यपि च ईश्वरादतिरिच्यते । अथैताभ्यामुभाभ्यां यदेकभाव्यं सोऽयं विश्वविशिष्टः परमात्माऽयमीश्वरः प्रतिपत्तव्यः । तमितः परमत्र व्याख्यास्यामः । "सत्यं हि प्रजापतिः" ४।१।६।२६ इति श्रूयते स ईश्वरः । आत्मानः प्राणाः पशवः—इत्येतैस्त्रिभिर्भावैस्त्रिवर्गोऽस्य शरीरं भवति । वैकारिकाः पञ्चाधियज्ञा आत्मानः—प्राणा अग्नितयः । लोकाः, वेदाः, देवाः, प्राणाः—इत्येता अग्नितयः । तत्र तावत्—

२—प्रजापतिशरीरभूताः सप्तलोकाः ।

भूः, भुवः, स्वः, महः जनः, तपः, सत्यम् इति सप्त लोका भवन्ति । प्रजापतेर्नामित्वादेता व्याहृतयः । वाचो विभक्तयो वाच एवैता इति कृत्वाऽप्येताः सप्त व्याहृतयः सप्ताप्येता व्याहृतयः सत्यस्य रूपाणि । तथा च वाजिश्रुतौ श्रूयते—

वाग् वै ब्रह्म तस्यै वाचः सत्यमेव ब्रह्म । ता वा एताः सत्यमेव व्याहृतयो भवन्ति । भूरिति वै प्रजापतिरिमामजनयत् । भुव इत्यन्तरिक्षम् स्वरिति दिवम् । एतावद् वा इदं सर्वं यावदिमे लोकाः" वाजि २।१।४। इति ।

तैत्तिरीयश्रुतिरप्याह —

"प्रजापतिर्वाचः सत्यमपश्यत् । भूर्भुवः स्वरित्याह । एतद्वै वाचः सत्यम् ॥" इति । तै. ब्रा. १।१।२०। इह सत्यशब्दो नामरूपाभिप्राय पर इत्याहुः ॥

मैत्रश्रुतिरप्येवमेवाह—

"भूर्भुवः स्वः—एतद्वै ब्रह्म । एतत् सत्यम् । एतद् ऋतम् । न वा एतस्माद् ऋते यज्ञोऽस्ति ।" ।१।८ ४। इति ।

इह ब्रह्मशब्दस्त्रयीविद्यापरः । सत्यशब्दः शरीरिपरः । ऋतशब्दः प्रतिसत्यं परमेष्ठिसंस्थापरः ।

अथ यत् सत्यस्य सत्यं स स्वयंभूः प्रजापतिरीश्वर इत्याहुः । इदं तु बोध्यम् । प्राणमयापोमयवाङ्मयादि पञ्च प्रजापतिषु प्राणमये तावदयं प्रातिस्विकः स्वयंभू शब्दः । अथैतस्मिन् स्वयंभुवि प्रतिमाप्रजापतिचतुष्टयानुग्रहणापेक्षः प्रजापतिशब्दः । प्रतिमाप्रजापतिचतुष्टयवैशिष्ट्यापेक्षस्त्वीश्वरशब्दः । परमप्रजापतिर्हि स ईश्वरः प्रतिमाप्रजापतीन् प्रत्याभुप्रजापतिर्भूत्वा तानात्मनि गृहीतानीष्टे—इति भाष्यम् । अथवायमेक एव स्वयंभूरन्यथा त्रधा प्रतिपत्तव्यः । वदयमव्यक्तप्रकृतिलक्षणः प्राणमयः स प्रतिमाप्रजापतिसाम्योपेतत्वात् तच्छ्रेणीभुक्तो नातिरिच्यते तेभ्यः । अथ यावदयं षोडशकलः पुरुषो भवति तेनायमाभुः परमः प्रजापतिः । अथ स पुरुष एवायं यावता सर्वविकारोपेतः परोरजा विवक्ष्यते स तदानीमीश्वरो नामाख्यायते । स इत्थमयमेक एवार्थस्त्रेधोपपद्यते इति बोध्यम् ।

स यावदयमव्यक्तप्रकृतिलक्षणो विविच्यते तावता गुढोत्माधिष्ठितो वैकारिकात्मा स पञ्चानां प्रथमो भवति । स प्राणमयोऽपि प्राणस्य वागायतनत्वाद् वाङ्मयो निरूप्यते । नचायं प्राणो मनसा विनाकृतो भवति । तस्मादयमेष वैकारिका आत्मा वाङ्मय प्राणमयो मनोमयः प्रतिपत्तव्यः । वाचोऽन्तरतः प्राणः, तदन्तरतो मन इति कृत्वा वाचो ग्रहणेनेदं

त्रितयं गृहीतं भवति तात्स्थ्यात् ताच्छब्द्यमिति न्यायात्। वाक्प्राणमनोमयश्चैष प्रजापतिस्त्रिधा भूत्वा स्वरूपं धत्ते भूः भुवः, स्वरिति। तथा चैते त्रयो लोका वाङ्मयत्वात् सत्यशब्देनाख्यायन्ते।

यत्तु श्रुतौ "एतावद्वा इदं सर्वं यावदिमे लोकाः" इति श्रूयते, तेनैतत्त्रैलोक्यादतिरिक्तं नास्तीति प्राप्नोति। श्रूयते त्वस्मादपि त्रैलोक्यादूर्ध्वं कतिपये लोकाः 'अस्ति वै चतुर्थो देवलोक आपः"। "वाक् पञ्चमो लोकः"। इति। तेनैतस्याः श्रुत्या अयमर्थोऽध्यवसीयते। भूः, भुवः, स्वरिति हि त्रैलोक्यमिदं सर्वम्। तत्र प्रत्येकं पुनस्त्रेधा—भूर्भुवःस्वरिति। तथा चैतास्त्रिलोक्यस्तिस्रोऽभिनिष्पद्यन्ते—रोदसी, क्रन्दसी, संयतो चेति। यमेव पृथ्वी पृथिवी। यः सूर्यः सा द्यौः। इयं हि पृथ्वी सूर्यं प्रदक्षिणी कुरुते। तयोरन्तरतो योऽवकाशस्तदन्तरिक्षम्। सैषा त्रिलोकी रोदसी नाम।

अथेयं रोदसी पृथिवी। तदूर्ध्वमवस्थितः परमेष्ठी द्यौः। इयं हि रोदसी सूर्यात्मा परमेष्ठिनं प्रदक्षिणी कुरुते। तयोरन्तरतो योऽवकाशस्तदन्तरिक्षम्। सैषा त्रिलोकी क्रन्दसी नाम।

अथैषा क्रन्दसी पृथिवी। तदूर्ध्वमवस्थितः स्वयंभूर्द्यौः। इयं हि क्रन्दसी परमेष्ठ्यात्मा स्वयंभुवं प्रदक्षिणी कुरुते। तयोरन्तरतो योऽवकाशस्तदन्तरिक्षम्। सैषा त्रिलोकी संयती नाम।

यथा चन्द्रः पृथ्वीं परिक्रममाणःपृथिव्या सह सूर्यं प्रदक्षिणी कुरुते, एवं पृथ्वी सूर्यं परिक्रममाणा सूर्येण सह परमेष्ठिनं, सूर्योऽपि परमेष्ठिना सह स्वयंभुवं प्रदक्षिणी कुरुते। इत्थं च तिस्रः पृथिव्यः, तिस्रो दिवः, त्रीण्यन्तरिक्षाणि सिध्यन्ति। अत एव श्रूयते—

> "तिस्रो मातृस्त्रीन् पितॄन् बिभ्रदेक ऊर्ध्वस्तस्थौ नेमवग्लापयन्ति।
> मन्त्रयन्ते दिवो अमुष्य पृष्ठे विश्वमिदं वाचमविश्वमिन्वाम्" ऋ० १।१६४।१०।इति

त्रैलोक्यत्रयादूर्ध्वः कश्चिदेकः परोरजाः प्रजापतिः, तिस्रः पृथिव्यः, तिस्रो दिवो बिभ्राणस्तस्थौ। ताश्चैता धार्यमाणाः पृथिव्यो दिवश्चेमं प्रजापतिं स्वभारेण न व्यथयन्ति विनैव श्रमेणायं प्रजापतिस्ताः सर्वाः पृथिव्योदिवश्च धत्ते अपि चैताः पृथिव्यो दिवश्च अमुष्य द्युलोकस्य पृष्ठे विश्वतोऽप्यपरिमितां विश्वमभिव्याप्नुवानां वेदत्रयरूपां वाचं मन्त्रयन्ते। ऋग्यजुःसामानीति वेदाः सत्यम्। सत्यलोके एवैकत्राविर्भूय त्रैलोक्यत्रयादपि बहिर्धा विभवन्तः सर्वाः पृथिव्यः सर्वा दिवश्च पृथक् पृथक् प्रातिस्विकरूपेणानुषज्जन्ते। परोरजसः प्रजापतेर्वाचं पृथगिवैताः सर्वाः पृथिव्यो दिवश्च गृह्णन्तीत्याह "मन्त्रयन्ते" इति। अन्यसम्बन्धिन्या वाचो गुप्तं ग्रहणं मन्त्रणम्। सत्यलोके

ब्रह्मनिश्वसिता वेदवाक् । सूर्य्ये तु सा गायत्रीमातृकानाम । (१६४ । १० ।) इति मन्त्रतात्पर्यं भाव्यम् । पुनश्च श्रूयते—

"तिस्रो भूमीर्धारयन् त्रीरुत द्यून् त्रीणि व्रता विदथे अन्तरेषाम् ।
ऋतेनादित्या महिवो महित्वं तदर्यमन् वरुण मित्र चारु ॥ (२।७।८)"
"तिस्रो द्यावो निहिता अन्तरस्मिन् तिस्रो भूमीरुपराः षड् विधाना ।
गृत्सो राजा वरुणश्चक्र एतं दिवि प्रेङ्खं हिरण्मयं शुभेकम् ॥ (५।६।६।)"
"तिस्रो द्यावः सवितुर्द्वा उपस्थां एकायमस्य भुवने विराषाट् ।
आणिं न रथ्यममृता तस्थुरिह ब्रवीतु य उ तच्चिकेत" (१।३।६।)"

एकैकस्यां त्रिलोक्यां पृथिवी दिवं परिक्रमते । एकैकां दिवं बह्व्यः पृथिव्यः परिक्रामन्ति । तथा च तां तां पृथिवीमेवापेक्ष्य नाना त्रिलोक्यः संभाव्यन्ते । अस्माभिस्तु स्वामेतां पृथिवीमेवापेक्ष्येयमेका त्रिलोकी त्रिवक्ष्यते । तथा च त्रिलोकीनामानन्त्येऽप्यस्माकं तिस्र एव त्रिलोक्यो ऽपेक्षिता भवन्ति । तत्र च लोकानां नवत्वे प्राप्तावपि मध्यमयोर्द्वयोर्दिवोः पृथिवीत्वात्सप्तैवावशिष्यन्ते । तेनैते सप्तैव लोकाः ॥

तत्र प्राणमयः स्वयम्भूः प्रजापतिः सत्यलोकः ॥ १ ॥ आपोमयः परमेष्ठी जनल्लोकः ॥ २ ॥ वाङ्मयः सूर्य्यः स्वर्लोकः ॥ ३ ॥ अन्नादमयी पृथ्वी भूर्लोकः ॥ ४ ॥ पृथ्वी सूर्य्ययोरन्तरमन्तरिक्षलोकः ॥ ५ ॥ सूर्य्यपरमेष्ठिनोरन्तरं महर्लोकः ॥ ६ ॥ परमेष्ठिस्वयम्भुवोरन्तरं तपोलोकः ॥ ७ ॥ तथा चैते सप्त व्याहृतयः सिद्धाः । भूः[1], भुवः[2], स्वः[3], महः[4], जनः[5], तपः[6], सत्यम्[7]—इति ॥ तत्र भूर्भुवः स्वरित्येका त्रिलोकी पृथिवी । स्वर्महर्जन इति द्वितीया त्रिलोकी अन्तरिक्षम् । जनस्तपः सत्यमिति तृतीया त्रिलोकी द्यौः । ता एतास्तिस्रस्त्रिलोक्यः सप्त लोका भवन्ति ॥ ० ॥ तत्र भूप्रभृतीनि षडिमानि रजांसि संचारीणि सप्तमेनासंचारिणा स्वयम्भुवा सत्येन संस्तब्धानि नेतस्ततो विप्लवन्ते । स्वयम्भुवि निबद्धाः सन्तो नियतेऽस्मिन् विश्वरूपे परितः संचरन्ति न ततो विच्यवन्ते । तथा च श्रूयते—

"अचिकित्वांश्चिकितुषश्चिदत्र कवीन्पृच्छामि विद्मने न विद्वान् ।
वियस्तस्तम्भ षडिमा रजांसि, अजस्य रूपे किमपि स्विदेकम्" ॥१।१६४।६। इति ।

सप्तस्वेतेषु लोकेषु परमेष्ठी, सूर्य्यः, पृथ्वी, चन्द्रमा इति चत्वारः प्रतिमाप्रजापतयः । स ऐक्षत प्रजापतिः—इमं वा आत्मनः प्रतिमामसृक्षि, यत् संवत्सरमिति । तस्मादाहुः—प्रजापतिः संवत्सर इति । ता वा एताः प्रजापतेरधिदेवता असृज्यन्त अग्निः, इन्द्रः, सोमः, परमेष्ठी, प्राजापत्यः, परमेष्ठी स आपोऽभवत् । आपो वा इदं सर्वम् । प्रजापतिः स

प्राणो ऽभवत् । प्राणो वा इदं सर्वम् । इन्द्रः स वागभवत् । वाग् वा इदं सर्वम् । अन्नाद एवाग्निरभवत् । अन्नं सोमः । अन्नादश्च वा इदं सर्वमन्नं च" ।।११।१।६।१३।१६॥

इति श्रुत्या परमेष्ठ्यादीना परमप्रतिमात्वावगमत् । स्वयम्भूस्त्वेकः परमः प्रजापतिः । तस्मिन्नेव प्रजापतौ परमेष्ठ्यादीनां परमप्रजापतिप्रतिकृतिरूपेणावस्थितत्वात् । तत्रैतस्यां पृथिव्यां वयं प्रतितिष्ठाम इति कृत्वा पृथिव्यन्तैवेयं वल्शा व्याख्यातव्या भवतीति चन्द्रोऽयं कदाचिदुपेक्ष्यते कदाचिद्वा सूर्य्यपृथिव्योरन्तरतः समुपनीयते चन्द्रपरित्यागाच्चैतां पृथिवीमारभ्य स्वयम्भूपर्य्यन्ताः सप्तैव लोका उपपद्यन्ते ॥

(सप्तलोकानामृतसत्याभ्यां द्वेधा विभागः)

ते चैते सप्तलोकाः संहत्य द्वेधा विभज्यन्ते । ऋतं च सत्यं चेति । अहृदयमशरीर-मृतम् । सहृदयं सशरीरं सत्यम् । स्वयम्भूः, परमेष्ठी, सूर्य्यः, पृथ्वीति चत्वारि ब्रह्मपुराणि सायतनत्वात्सत्यानि तेषामन्तराणि तु त्रीणि निरायतनत्वाद् ऋतानि ॥

(ऋतसदनानां त्रिपर्वत्वम्—)

तेषामेकैकमृतं त्रयस्त्रयो भृगवोऽधितिष्ठन्ति । आपो वायवः सोमाश्चेति । अशरीरत्वाच्च ऋतसदनत्वाच्चैतानि त्रीणि ऋतानि संज्ञायन्ते ॥ "अहमस्मि प्रथमजा ऋतस्य" इत्यादिषु ऋतशब्देनैतेषामेव त्रयाणां विवक्षितत्वात् । अपां विशेषाणां प्रतिष्ठानाच्चैते त्रयोऽवकाशाः समुद्रा उच्यन्ते—अर्णवः सरस्वान्नभस्वांश्चेति । वायुविशेषाणां प्रतिष्ठानात्वेते त्रयः पृथगाकाशाः स्युः—सागरः,पुराणः, परमश्चेति । सोमविशेषाणां प्रतिष्ठानाच्चैतानि त्रीण्यन्तरिक्षाणि=भुवः, महः, तपश्चेति एष्ववकाशेष्वमो सलोका अव्यभिचारिणो भावाः स्वभक्तिभिः सहोपतिष्ठन्ते ॥

(सत्यानां चतुःपर्वत्वम्—)

अथ स्वयम्भूः, परमेष्ठी, सूर्य्यः, पृथ्वी इति चत्वारि पञ्चमेन चन्द्रमसा सह पञ्च ब्रह्मपुराणि भवन्ति । तेऽमी प्रत्येकं चातुर्विध्येन विभक्ता द्रष्टव्याः—पुरुषः, विभूतिः, पदं, पुनःपदं, चेति "चतुष्टयं वा इदं सर्वम्" इति, अनुगमः श्रूयते—

तत्र सर्वावलम्बः सर्वान्तरतमोधिष्ठाता परापरप्रकृतिविशिष्टो मनःप्राणवाङ्मयो ऽव्ययः पुरुषः । अथ प्रतिष्ठा, ज्योतिर्यज्ञ, इति त्रयी पुरुषविभूतिः । ऋक्सामयजूंषीति त्रयीब्रह्म प्रतिष्ठा । नामरूपे, कर्म्म चेति त्रयं ज्योतिः । आदानं[1], दान[2], मुत्सर्गो[3], भैषज्यं[4] विकाश[5], इति पञ्चविधान्यन्नग्रहण कर्म्माणि यज्ञाः । अथ मनःप्राणवाचां विकारेण कृता धामच्छन्मूर्तिः पदम् । पदावलम्बेनैव तु परितोऽतिदूरं विततः वाक्प्राणमनसां वितानाः पुनःपदम् ॥ तथा चैतेन पुरुषेण विभूत्या पदपुनःपदाभ्यां चोपपन्नं भुवनसंस्थामण्डलं वैश्वरूप्यं नाम ॥

(प्रकारान्तरेण वैश्वरूप्यस्य पञ्चविधत्वम्—)

तदिदमेकैकं वैश्वरूप्यं प्रकारान्तरेण पञ्चधा कृत्वा विविच्यते। १आत्मा, २शरीरं, ३विभूतिः, ४महिमा,५नाडी चेति तत्र परापरप्रकृतिविशिष्टः तुरुष आत्मा। तथा हि—आनन्दो, विज्ञानं, मनः प्राणो, वागिति पञ्चधातव्यो ऽव्ययः पुरुषः। तस्य मर्त्यामृताभ्यां क्षराक्षराभ्यामेकैकशो द्विधा विभक्ताः ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्रः, अग्निः, सोमः इत्येते पञ्च भावाः प्रकृतिः। सा परापरा चेति द्विविधा॥ ब्रह्मादयः पञ्च धातवोऽक्षरो ऽव्यक्तोऽव्ययस्य परा प्रकृतिः। प्राणादीन्पञ्च विधान् विकारभावान् जनयन्तो ब्रह्मादय एव पञ्चक्षरभावा अपरा प्रकृतिः। परात्परेण षोडशेन षोडशी स प्रजापतिः पुरुष आत्मा। तत्रैतेषां क्षरभावानां प्राणः, आपः, वाक्, अन्नादः, अन्नमित्येते पञ्च विकाराः पञ्चभिरेतैः संपरिष्वज्यमानाः सन्तः पञ्च पञ्चजना भवन्ति। तदिदं पञ्चविधं विकारकूटं पञ्चविधेऽस्मिन् क्षरे समन्वितं भवति। अथैते पञ्चक्षराः परस्परसंयुक्तैः पञ्चजनैरपि युक्ताः सन्तो यत्किञ्चित्सत्यस्य सत्यमभि संवहन्तीति तत्सत्यस्य सत्यं यत्र युज्यते तत्राव्यये पुरुषे सर्वे देवा एकं रूपं भवन्ति। तदेतच्छ्रूयते—

> "यदक्षरं पञ्चविधं समेति युजो युक्ता अभि यत्संवहन्ति।
> सत्यस्य सत्यमनु यत्र युज्यते तत्र देवाः सर्व एकी भवन्ति" ॥१॥(ऐ.आ.१.३.८.)

अपि च श्रूयते—

> "यस्मिन्पञ्च पञ्चजना आकाशश्च प्रतिष्ठितः।
> तमेव मन्ये, आत्मानं विद्वान् ब्रह्मा ऽमृतोऽमृतम्" ॥इति॥

आकाश इत्यक्षराभिप्रायः। क्षरश्चाक्षरश्च यत्र प्रतितिष्ठन्ति सोऽव्ययः पुरुष आत्मा। आनन्दो विज्ञानं मनः प्राणो वागिति पञ्चकलो ऽव्ययः पुरुषः। ब्रह्मादिभिः पञ्चकलोऽक्षरः। पञ्चकल एवायं क्षरः। इत्येताभिः पञ्चदशकलाभिः सहितः परात्परः षोडशी भवति सोऽयं षोडशकलः पुरुष आत्मेति विद्यात्॥

(प्रकृतिक्षरत्रैविध्यम्—)

अथामी क्षरा विकुर्वाण स्वाभाव्यात् त्रिविधा उपपद्यन्ते—आत्मक्षराः, विकारक्षराः, यज्ञक्षराश्चेति। ब्रह्मा, इन्द्रः, सोमः, अग्निरित्यात्मक्षरा अधिष्ठातारः पञ्च प्रजापतयः। तेऽपि अक्षरसनामानो ऽक्षराणामेव मर्त्या भक्तिविशेषा इष्यन्ते। अत एवैतेऽक्षरेषु संपरिष्वक्ता एव नित्यमवतिष्ठन्ते। विकुर्वाणस्वाभाव्यात्प्रतिक्षणं स्वतो विकारानुद्गिरन्ति। तेच प्राणः, आपः, वाक्, अन्नादः, अन्नमिति विकारक्षराः पञ्चयोनयो विश्वसृजो नाम।

ब्रह्मा: प्राणः। विष्णुरापः। इन्द्रो वाक्। अग्निरन्नादः। सोमो ऽन्नम्॥ पञ्चानामेषां विश्वसृजां तेष्वेव पञ्चस्वन्योन्यमाहवनात्पञ्चान्ये यज्ञचरा उत्पद्यन्ते।

एकस्यार्द्धे परमर्द्धे चतुर्भिरितरैर्निष्पद्यते। वैशेष्यात्तु तद्वादन्यायेन ते यज्ञचरा अपि प्राणः, आपः, वाग्, अन्नमन्नाद इत्येवोच्यन्ते। पञ्चसु पञ्चानामुपजननाच्चैते पञ्चजना नाम। सर्वं सर्वात्मकं भवतीति सर्वकृताश्चैते भवन्ति। इत्थं त्रिविधा एते चराः सिद्धाः॥

(पञ्च पञ्चजनाः—)

उक्तं पूर्वमात्मा, शरीरं, महिमा, चेति, त्रितयमनुसंहितं वैश्वरूप्यं भवतीति तत्रैतस्मिन्नात्मविभागे तावदात्मचराणामुपसंग्रहः। विश्वसृजस्तु विकारचरा विशुद्धरूपा न क्वचिदुपलभ्यन्ते, पञ्चजनत्वेनैव तेषां सर्वत्रोपलम्भात्। तस्मादेभ्यः पञ्चजनेभ्य एवैतच्छरीरं महिमा चोत्पद्यते इति भाव्यम्॥

(पञ्चजनेभ्यः पञ्चचितिकं पदम्—)

तत्रैतेभ्यः पञ्चजनेभ्यः क्रमाः पञ्च चितयः शरीरमात्मनो जायन्ते। १

१—वेदचितिः, २—अग्निचितिः, ३—भूतचितिः, ४—देवचितिः, ५—बीजचितिरिति। छन्दोवेद, वितानवेद, रसवेदभेदाद्वेदत्रैविध्ये प्रकृते छन्दोवेदः शरीरारम्भको द्रष्टव्यः। शरीरस्योपलब्धिर्वेदः। अस्तीति भातिरूपलब्धिः। वयो यजुः। विष्कम्भः पृष्ठं चेति द्वावेतौ वयोनाधौ ऋक्सामे। एतदेव त्रितयं वयुनमुपलभ्यमानस्योपलब्धिः। स वेदः। स प्राणो ब्रह्मा सा वेदचितिः॥ १॥ अथ पृथ्वीजलतेजोवाय्वाकाशैः पञ्च महाभूतैरुपजायमानास्त्वगसृङ्मांसमेदोऽस्थिमज्जशुक्रादय उत्पाटिका दारु-किसारु-पर्ण-पुष्प-फल प्रभृतयो वा भौतिका विकारा उपचीयमाना भूतचितिः। ता आपो विष्णुः॥ २॥ तदनन्तरतो दिव्यान्तरिक्षपार्थिव रसानां त्रिश्वानराणामन्योन्यसंवर्षादुपसंपद्यमानो वैश्वानरो ऽग्निरग्निचितिः। चत्वारः पुरुषा आत्मा, द्वौ पक्षौ, पुच्छमेकम् सप्तानामेषां मुद्धारश्रीभिः शिरः। स इत्थमष्टपुरुषोऽयमेकः पुरुषो ऽग्निचितिः सोऽन्नादोऽग्निः॥ ३॥ तस्मिन्नग्नौ प्रचीयमाना अग्निवाय्वादित्यास्त्रयो ऽग्नयो, दिग्भास्वरौ द्वौ सोमाविति पञ्च देवा देवचितिः। यथेह चेतनशरीरे वाक्प्राणचक्षुःश्रोत्रमनोरूपैरन्यरूपैर्वा परिणममानाः प्राणा देवचितिः। तदन्नं सोमः। तथा अचेतनेष्वपि त्रयोऽग्नयो द्वौ सोमौ नित्यमवतिष्ठन्ते। अग्नीषोमीयत्वात्सर्वेषाम्॥ ४॥ अथ विद्याऽविद्याविकाराभ्यामुपसंपद्यमाना बुद्धिभेदा बीजचितिः। स वागिन्द्रः॥ ५॥ उक्तं च—

"बीजदैवतभूताग्निवेदानां चितयः पदमिति"

(पञ्च चितीनां पदपुनःपदयोर्भेदेन सिद्धः—)

अथ पञ्चानामप्येषां त्तगणां पञ्चस्वाहुतिभिः पञ्चैते पञ्चजना यज्ञाः प्रजायन्ते। स चैते पञ्चापि यज्ञक्षराः पदेऽन्यथा पुनः पदेऽन्यथा रूपं धत्ते। पदे तावद्बीजचितिः, देवचितिः, भूतचितिः, अग्निचितिः, वेदचितिरिति पञ्च चितयो भवन्ति। वागिन्द्रो बुद्धिविद्या चाविद्या च सा बीजचितिः,। एतदाधारेणेतरासां चितीनामुपधानाद्बीजत्वम्। वाक्प्राणचक्षुः—श्रोत्रमनांसि प्राणा देवचितिः। अचेतनेष्वपि त्रयो ऽग्नयो द्वौ सोमौ नित्यमवतिष्ठन्ते। अग्नीषोमेयत्वात्सर्वेषाम्। आकाशवायुतेजोजलपृथ्वीविकारैरुपजनितो-ऽयमापोमयः पाञ्चभौतिकः पिण्डो भूतचितिः। चत्वार आत्मा द्वौ पक्षौ पुच्छमेकमथ सप्तोद्धारं शिर इत्यष्टपुरुषश्चित्याग्निः प्रजापतिरन्नादोऽग्निचितिः। अथ यावन्त्येवास्य-कानिचिदुपकरणानामम्न्याण्युपनमन्ते, तान्यन्नानि वित्तचितिः। एताभिर्धातुभिः कृतमिदं सर्वं पदं भवन्ति। तदिदमात्मनः शरीरमाख्यायते॥

(पुनःपदे पञ्चाचितयः)

अथ पुनः पदे—वेदाः, लोकाः, देवाः, वषट्कारस्तोमाः, पशव इति पञ्चैतेऽक्षितिनामानो यज्ञक्षराः स्युः। प्राणमयः प्रजापतिर्वेदाः। आपोमया गावो लोकाः। अग्निमया अन्नादा देवाः। वाङ्मयानि देवपात्राणि वषट्कारस्तोमाः। सोममयान्यन्नानि पशवः। तदेतत्पञ्च-कमात्मनो महिमाख्यायते। तदित्थमात्मा, छन्दः, शरीरं, नाडी, महिमेत्येतत्पञ्चकमेकैकं वैश्वरूप्यं भाव्यम्॥

(पञ्चाक्षरैकात्म्ययत्वात् पञ्च वैश्वरूप्यैकनिकायः परमःप्रजापतिरीश्वरः)

पञ्चैतानि वैश्वरूप्याणि भवन्ति—स्वायम्भुवं, पारमेष्ठ्यं, सौरं, चान्द्रं, पार्थिवं, चेति। तैरेतैः पञ्चभिर्भुवनैः पृथक्त्वेन भावितास्तेऽमी पञ्चात्मानोऽयमेक आत्मा स. ईश्वरः। तत्रायं तावत्प्रत्यक्षः सोमशरीरश्चन्द्रमा अन्नमयः केनचित्कालेनेमामग्निमयीं पृथ्वीं परिक्रामति।

पृथ्वी चेयमन्नादमयी केनचित्कालेनैनमिन्द्रमयं सूर्य्यं प्रदक्षिणी कुरुते। सूर्य्यश्चायं वाङ्मयः केनचित्कालेनामुं विष्णुमयं परमेष्ठिनं प्रक्रमते। परमेष्ठी चायमापोमयः केनचित्कालेनामुं ब्रह्मप्रजापतिमयं स्वयम्भुवं प्रदक्षिणी कुरुते। स एष प्राणमयः स्वयम्भूरेवैतान् सर्वान्पारमेष्ठ्यादीनुरोदधानोऽविचाली पर्य्यवतिष्ठते न कंचित्प्रदक्षिणी कुरुते, स परोरजा ईश्वर इत्याख्यायते॥

(अथ परिनिष्ठितैकान्तराश्चत्वारः प्रतिमाप्रजापतयः)

अथ योऽयं परमेष्ठी, ये वा सूर्य्यपृथ्वीचन्द्रमसस्त एते चत्वारः प्रतिमाप्रजापतयः । ईश्वरप्रतिमानेनेश्वरशरीरे तेषां प्रतिबुद्धित्वात् ॥ ते चैते चत्वारोऽपि परिनिष्ठितैकान्तरात्मानो द्रष्टव्याः । स्वयम्भूर्ब्रह्मा । परमेष्ठी विष्णुः । सूर्य्य इन्द्रः । पृथ्वी, अग्निः । चन्द्रः सोम इति ॥

(ऋतपरिवेष्टितानि सत्यानीश्वरशरीरम्)

अथ चैतं यमेकं सत्यस्य सत्यमाचक्षते, तस्मात्परमप्रजापतेरेतानि प्रतिमाप्रजापतिरूपाणि चत्वारि सत्यान्यसृज्यन्ते । तानीमानि सत्यानि ऋतेनाभिवेष्टितानि इति विद्यात् ॥

"ऋतमेव परमेष्ठि ऋतं नात्येति किञ्चन ।
ऋते समुद्र आहित ऋते भूमिरियं श्रिता" ॥ १ ॥

इति श्रुतेर्ऋतस्य परमेष्ठित्वावगमात् । परमे व्योम्नि तिष्ठतीति परमेष्ठी । परमत्वं निरतिशयावकाशत्वं च । सोऽयं परः परमावकाशो निरायतनानामबादीनां यथोपपन्नावकाश एवोपपद्यते ॥ १० ॥ सायतनानां तु सत्यानां भावानां तत्तदायतनावसानं विवक्ष्यते । तद्यथा—"अर्को देवानां परमे व्योमन्, अर्कस्य देवाः परमे व्योमन्" इति मन्त्र व्याख्यायाम्—

"एतद्वै देवानां विशतां प्रजापतिरुत्तमोऽविशत् । तस्मादाह—अर्को देवानां परमे व्योमन्निति" अयं वा अग्निरर्कः । तस्यैतदुत्तमायां चित्तौ सर्वे देवा विष्टाः । तस्मादाह—अर्कस्य देवाः परम व्योमन्निति" । (शत. ८।३।७।१६) इति वाजिश्रुतौ सायतनानामायतनावसानस्यैव परमाकाशत्वेनभिप्रेतत्वात् ।

एतेन च परोवरीणः प्रजापतिर्देवेभ्योऽवस्ताच्चोपरिष्टादवतिष्ठते । इत्युक्तं भवति । तथा च परमेष्ठित्वाख्यानाद् ऋतस्यापि सत्यानां पुनःपदावकाशे संनिवेशो लभ्यते । अशरीरे हि ऋतशब्दः । आपो, वायुः, सोम, इत्यशरीरत्वाद् ऋतानि । ऋतत्वाच्च तत्र परमेष्ठिशब्दः प्रवर्तते । ता ह्यापः सत्यानामेषां परमे व्योम्नि तिष्ठन्ति । तथा हि—

स्वयम्भुवः सर्वतो वाचामृक्साम्यजुषां त्रयः समुद्राः नभस्वन्नामानः ॥ १ ॥ परमेष्ठिनः समन्तादपां समुद्राः सरस्वन्नामानः ॥२॥ सूर्य्यस्य समन्ताद्वायूनां सप्त समुद्रा मृत्युनामानः॥३॥ पृथिव्याः समन्ताद्रसानां सप्त समुद्रा अर्णवनामानः ॥ ४ ॥ इत्थं चतुर्धा विभक्ताः सर्वे समुद्रा भवन्ति । अथवा चतुर्णामप्येषां सत्यानां त्रिविधैरपि ऋतैः परिश्रयणं प्रतिपत्तव्यम् ।

वाक्प्राणमनोभिः कृतात्मनां सत्यानां वाक्प्राणमनोभिरेव कृतमहिमत्वात् । तत्र वाचो रूपमापः । प्राणरूपं वायुः । मनोरूपं चन्द्रमाः । आपो वायुः सोम इति ऋतानि । ऋतमेव परमेष्ठीत्याहुः ॥ प्रतिसत्यं परमे व्योम्नि तेषां त्रयाणामवस्थानात् । श्रूयते च—"ऋतेनादित्या महिवो महित्वम्" (ऋ० १२।२७।८) इति त एते चत्वारः सत्यावतारा भवन्ति तेऽमी ब्रह्मावतारा आख्याताः । स्वयम्भुवा तु प्रजापतिना पञ्च यज्ञाः प्रतिपद्यन्ते । तान्येव पञ्च सत्यानि । तत्र चतुर्णां परमेष्ठ्यादीनां क्रमिकसत्यावतारत्वादयमेकः स्वयम्भूः सत्यस्य सत्यं भवति । चत्वारोऽपि ते परमेष्ठ्यादयः कथंचित्प्रत्यक्षं दृश्यन्तः प्रकाशा भवन्ति । एष त्वेकः स्वयम्भूर्निगूढ आत्मा नेद्धा दृश्यते, इत्यतः कृष्ण इति प्रतिपद्यामहे । तं प्रत्येव चैते परमेष्ठ्यादय उपाहितास्तिष्ठन्तीत्येष यज्ञो भवति स ईश्वरः कृष्ण इति विद्यात् ॥

इति—प्रजापतिकृष्णरहस्ये—ईश्वरकृष्णरहस्यम् ॥
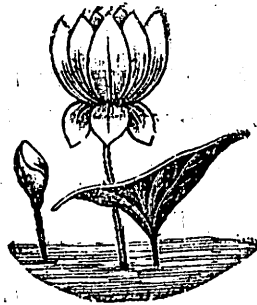
जीवप्रजापतिः ।

यथेश्वरो महामायावलावच्छिन्नात्मसारस्थैव योगमायावलावच्छिन्नात्मसारोऽयं जीवोऽन्यः सर्वप्रजापतिः । स एष एको गूढोत्मा तदन्तर्गताः पञ्चविधाः प्रजापतयो जीवाधियज्ञा अन्वाभक्ताः स्युः । ते यथा—

अव्यक्तात्मा, महानात्मा, विज्ञानात्मा, प्रज्ञानात्मा, शरीरात्मेति । पञ्चस्वेतेष्वधिष्ठितः- कश्चिदेको ऽव्ययो जीवात्मा । यथा भूत्स्यभयप्रतीकविशेषोऽयमीश्वराव्ययस्तथेश्वराव्ययप्रतीकविशेषोऽयं जीवाव्ययः । अयमत्र विशेषः—ईश्वरस्त्वेकविधः,विश्वविशिष्टैकाव्ययपुरुषस्य सर्वैकात्म्यात्तद्व्यतिरिक्तार्थानुपलब्धेः । अनन्तविधश्चायं जीवः ।

"यथा सुदीप्तात् पावकात् सहस्रशो विस्फुलिङ्गाः प्रभवन्ते सरूपाः ।
तथाऽक्षराद् विविधाः सौम्य भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति ॥"

इति श्रवणात् ।

अथ ये पुनरमी जीवा अव्ययात्मानस्तेऽपीश्वराव्ययस्यैव योगमायावच्छेदेनावच्छेदात् क्षुद्ररूपाःइच्छाशक्ति, क्रियाशक्ति, ज्ञानशक्त्या वरणशक्तिभिः क्लेशकर्म्मविपाकाशयादिभिः पाप्मभिरूपसृज्यमाना नानारूपा विभिन्नधर्म्मोपपन्ना जायन्ते । अतश्चायमीश्वरः सर्वेषु जीवात्मस्वविशेषेणाभिव्याप्तोऽपि योगमायावरणादनुलवणोऽस्तीति न ते जीवाः सर्वज्ञाः सर्वशक्तिमन्तः सर्वधर्म्मोपपन्ना दृश्यन्ते । तस्मात् क्षुद्रसीमोऽयं जीवाव्ययः । षडूर्म्मिकः षड्वस्थः पुरुषविशेषो जीवः । ज्ञानकर्म्मप्रचितो जीवः ॥ सोऽयमन्यो जीवविशेषः सत्यः । सत्यस्येश्वरस्यैवांशभूतत्वात् । तथा चोक्तम् "अंशो नानाव्यपदेशात् ।" "ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः" ॥ इत्यादि ॥

जीवेश्वरयोर्भेदमतम् ।

अथायं जीवो महामायोपशमगृहीतयोगमायावलावच्छिन्नात्मसारः प्रजापतिः । तस्मादीश्वरगूढोत्मातिरिक्तोऽयं जीवो नाम गूढोत्मा । जीवेश्वरोभयानुगतयोरभिन्नत्वेऽपि मायाभेदाद् कारिकात्मपञ्चकसृष्टिभेदाच विशिष्टः प्रजापतिरयमीश्वरो वा जीवो वा परस्परतोभिद्यते । तेनेश्वरादयं जीवो जीवाच्चेश्वरो वीर्य्यगुणावस्थातारतम्येन भिन्नः प्रतीयते । विश्वनिर्माणादि महावीर्य्योऽसावीश्वरः । गृहनिर्म्माणाद्यल्पवीर्य्योऽयं जीवः तथाहि—

"सर्वाननशिरोग्रीवः सर्वभूतगुहाशयः ।
सर्वव्यापी स भगवान् तस्मात् सर्वगतः शिवः ॥ १ ॥

सर्वतः पाणिपादं तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥ २ ॥

इत्याद्युक्तो महावीर्य्य ईश्वरः । एकतो नियतपाणिपादान्तस्त्वयमल्पवीर्य्यो जीवः ।

"गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत् ।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम्" ॥

इति द्वादशगुणोऽसावीश्वरः । ईश्वराधिकरणेऽव्ययस्य द्वादशधाभेदेनोपपन्नत्वात् ।

"उपद्रष्टाऽनुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वर ।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः" ॥ २६ ॥

इति षड्गुणोऽयं जीवः । जीवाधिकरणे ऽव्ययस्य षोढा भेदेनोपपन्नत्वात् ।

१—परमात्मा—षोडशी ।
२—महेश्वरः—स्वयम्भूः................चित्तम् ।
३—अनुमन्ता—महानात्मा...........अहङ्कारः ।
४—उपद्रष्टा—विज्ञानात्मा क्षेत्रज्ञः........बुद्धिः ।
५—भोक्ता—प्रज्ञानात्मा....................मनः ।
६—भर्ता—शरीरात्मा.........................देहः ।

क्षुधापिपासाभ्यांशोकमोहाभ्यां जरामृत्युभ्यामिति षडूर्म्मिभिरस्पृष्टः सत्यकामः सत्यसङ्कल्पः—इत्यष्टगुण ईश्वरः । तद्वैलक्षण्येनाष्टगुणो जीवः ।

"क्लेशकर्म्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः" । परामृष्टस्तु तैरयं जीवः ॥ ॥ जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिमोहमूर्छामृत्युभिः षड्भिरवस्थाभिरपरिवर्तनीय ईश्वरः । परिवर्तनीयस्त्वयं जीवः । पूर्णेन्द्रोऽसावीश्वरः । पतिपत्नीभ्यामर्द्धवृगलाभ्यां द्विधाभावादर्द्धेन्द्रस्त्वयं जीवः । । इत्थमनेकधा भेदोपलम्भाज्जीवेश्वरयोर्भेदः प्रतिपत्तव्यः—इत्येकं मतम् ॥१॥

भिन्नयोरीश्वरजीवयोः सधर्म्यम् ।

प्रतिमाप्रजापतिगर्भित्वं, पञ्चाधियज्ञत्वं, पञ्चाक्षरत्वं, चैतदामुप्रजापतित्वमित्युक्तम् । स द्विविधः- ईश्वरो जीवश्चेति । तत्रेश्वरशरीरमेते स्वयंभ्वादयः पञ्चाधियज्ञा अधिकुर्वन्ति जीवसरीरंत्वव्यक्तादयः पञ्च । अंशांशिनश्चैते जीवेश्वरयोर्नातीवातिरिच्यन्ते । पुरुषस्तु स एक एवायं षोडशकलोऽमुष्मिन्नीश्वरे जीवे च । महामायायोगमायाविभेदेन मात्राभेदेऽप्यव्य-

थकलयोर्ज्ञानकर्म्मणोरुभयत्राभेदेन प्रतिपन्नत्वात् । संपूर्णगीतोपदेशतात्पर्य्यभूतोऽयमर्थो गीताहृदये वैशद्येन प्रदर्शयिष्यामः ॥

यत्त्वेतदाक्षिप्यते । यथैकस्मिन्नीश्वरप्रजापतौ स्वयंभ्वादयः पञ्चाधियज्ञा अन्तर्भाव्यन्ते । एवमिमे जीवप्रजापतावव्यक्तादयः पञ्चयज्ञा अप्यन्तर्भाव्यन्ते । तथा च कुतो नैषां जीवानां प्रतिमाप्रजापतित्वमाख्यायते—इति । तत्रोच्यते । अपञ्चाक्षरत्वं हि प्रतिमाप्रजापतित्वमाख्यातम् । पञ्चाक्षरा हीमे जीवा ईश्वरवदेवोपसंपद्यन्ते । अव्यक्त[१]महद्[२]बुद्धि[३]मनो[४]भूतात्मनामधियज्ञात्मनामीश्वराधियज्ञांशभूतानामीश्वरसाधर्म्यैणैवेह दृष्टत्वात् । तस्मादीश्वर इवाभुप्रजापतयो जीवा इति सिद्धम् ॥

१ पंचाक्षरः परमप्रजापतिः । २ एकाक्षरः प्रतिमाप्रजापतिः ।			आभुप्रजापतिः । अधियज्ञप्रजापतिः ।	
स्वयंभूः—ब्रह्मा	प्राणः		अव्यक्तम्—शान्तात्मा	सहस्रम्
परमेष्ठी—विष्णुः	आपः		महत्—त्रैगुण्यात्मा	त्रैगुण्यम्
सूर्य्यः—इन्द्रः	वाक्		बुद्धिः—विज्ञानात्मा	अष्टौ धर्म्माः
चन्द्रः—सोमः	अन्नम्		मनः—प्रज्ञानात्मा	इन्द्रियाणि
पृथ्वी—अग्निः	अन्नादः		अग्निः—भूतात्मा	मात्रास्तिस्रः

ईश्वरजीवयोर्भूतात्मग्रामसाम्यम् ।

अथ भूतग्रामविशिष्टरूपात्मग्राम एवायमीश्वरश्च भवति जीवश्च । तत्रात्मग्रामाधिष्ठानममृताग्निः । भूतग्रामाधिष्ठानं तु मर्त्याग्निरित्याहुः ।

तत्र तावदीश्वरशरीरे—

१	स्वयंभूः	परमेष्ठी	सूर्य्यः	चन्द्रः	पृथ्वी	इति पञ्चात्मग्रामः
२	प्राणाः	आपः	वाक्	अन्नम्	अन्नादः	इति पञ्च भूतग्रामः
३	ऋषयः	पितरः	देवाः	मनुष्याः	पशवःअसुराः	इति पञ्च प्राणभेदाः
४	दिग्	अम्भः	मरीचिः	श्रद्धा	मरः	इत्यपां भेदाः
५	सत्या	सुब्रह्मण्या	बृहती	आम्भृणी	अनुष्टुप्	इति वाचो भेदाः
६	वृत्रः	वाजः	राजा	ग्रहः	हविः	इत्यन्नभेदाः
७	विश्वकर्म्मा	वरुणः	इन्द्रः	रुद्रः	संवत्सरः	इत्यन्नादभेदाः

...जीवास्तु विभिन्नजीवनतया बहिर्धातवश्चेतनाः पशवः ।
ध्रुवः, धर्त्रः, धरुणः, धर्म्म—इति चतुर्विधोऽयं वृत्रसोमः ॥

अथ पुनर्जीवशरीरे—

१	अव्यक्तम्	महान्	बुद्धिः	मनः	भूतात्मा	इति पञ्चात्मग्रामः
२	आकाशः	वायुः	तेजः	आपः	पृथ्वी	इति पञ्च भूतग्रामः
३	शिरोगुहा	कण्ठगुहा	हृदयगुहा	उरोगुहा	वस्तिगुहा	इत्याकाशभेदाः
४	प्रसरणम्	धावनम्	उत्थानम्	संचरणम्	सङ्कोचः	इतिवायुभेदाः
५	निद्रा	पिपासा	क्षुधा	क्रान्तिः	आलस्यम्	इति तेजो भेदाः
६	लालः	स्वेदः	रक्तम्	वीर्य्यम्	मूत्रम्	इत्यपां भेदाः
७	लोम	त्वचा	नाडी	मांसम्	अस्थि	इति पृथ्वीभेदाः

भ्रूणास्तु विभिन्नजीवनतया बहिर्धातवश्चेतनाः पशवः ॥

भूतात्मा द्विविधः—बाह्यात्मा, अन्तरात्मा च । तत्र बाह्यात्मा द्विविधः—हंसात्मा, शरीरात्मा च । तयोरयं हंसात्मा लोकान्तरं नैति । इहैव पृथिव्यामाचन्द्रलोकादधस्तात् संचारी भवती । स हि वायुशरीरो वायुविधः । शरीरात्मा तु पञ्चभौतिकशरीरः प्रत्यक्षं दृश्यते पृथिव्यामेवेदं पञ्चत्वमेति । उभयोरेवायमन्तरात्मा कर्मात्मा । स त्रिधातुः । तस्य वैश्वानरः, तैजसः, प्राज्ञ इत्येते त्रयो धातवो भवन्ति । ते च क्रमेणामी अग्निवाय्विन्द्राः पृथिवीसंबन्धिलोकत्रयप्राणा भाव्याः । अथ मनः प्रज्ञानात्मा । स च ज्ञानेन्द्रियपञ्चकं कर्मेन्द्रियपञ्चकमन्तः करणचतुष्टयं चेति चतुर्दशेन्द्रियाधिष्ठाता चन्द्रप्राणमय इन्द्रः । अथ बुद्धिर्विज्ञानात्मा । स हि धर्मो ज्ञानं वैराग्यमैश्वर्य्यं तद्विपर्य्ययाश्चेत्यष्टधातुकः सूर्य्यप्राणइन्द्रः । अथ महानात्मकृतिःप्रकृतिरहंकृतिरिति त्रिधातुः परमेष्ठिप्राणो ब्रह्मणस्पतिसोममयः । अथाव्यक्तं वाय्वाकाशात्मा यजुःप्राण इत्यध्यात्मं भेदाः प्रतिपत्तव्याः ।

"यस्मादन्यो न परो अस्ति जातो य आ बभूव भुवनानि विश्वा"।
प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परिता बभूव।
"सर्वं वा इदं प्रजापतिर्यदिमे लोका यदिदं किञ्च॥

सर्वं वै प्रजापतिः, सर्वं वा अनिरुक्तम्" अनिरुक्तो वै प्रजापतिः, प्रजापतिर्वा इदमग्र आसीदेक एव। प्रजापतिरेवेमान्लोकान् सृष्ट्वा पृथिव्यां प्रत्यतिष्ठत् ॥

इत्येवमादिभिः श्रुतः स एक एवायमनिरुक्तप्रजापतिर्द्वेधा कृत्वा निरूप्यते ईश्वरो जीवश्चेति। अथवा प्रजापतिरेवायमीश्वर—इति कृत्वा जीवानामपि तत एवोत्पत्तिः संभवति। ईश्वरांश एव केनचिदंशेन योग मायावरणाद् पाप्मानमासाद्य जीवभूतो दृश्यते। तथा चोक्तम्। "अंशो नाना व्यपदेशात्"। "ममैवांशो जीव लोके जीवभूतः सनातनः"। इति। तस्मात् सर्व एवैते जीवा ईश्वरविभूतयः स्युः॥ अतश्च षोडश कलोऽयमीश्वरः सर्वा सृष्टिमभिव्याप्नोतीति कृत्वा जीवेष्वप्येतेषु न न पर्य्याप्नोति सर्वेषामेवैषां मनुष्याणां षोडशकलापूर्णावतारत्वेन सौसादृश्यदर्शनात्। तथाहि—

समानं तावदीश्वरस्य जीवस्य च षोडशकलत्वम्। तत्रादौ ईश्वरे षोडश कलाः—परात्परेऽमुष्मिन्नसीमे परमेश्वरे सहस्रवल्शः कश्चिदश्वत्थो महेश्वरः प्रतिपत्तव्यः। स च मायामितत्वादव्ययपुरुषो विज्ञायते। श्रूयते हि—

"मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्"।
"तस्मात्परं नापरमस्ति किञ्चित्तस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति किञ्चित्"।
वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्"। इति।

पञ्चपुण्डीरैकवल्शो ब्रह्माश्वत्थो नामाव्ययो भवति। स ईश्वरो नामाख्यायते। परमेश्वरभिन्नाभिन्नेन महेश्वरेणायं भिन्नाभिन्न ईश्वरः। सोऽयं परमः प्रजापतिः। तस्मिन् पञ्चान्ये प्रजापतयः संनिविशन्ते। त एवैते पञ्च पुण्डीराः स्वयंभूः, परमेष्ठी, सूर्य्यः, पृथ्वी, चन्द्र इति संज्ञायन्ते। स ईश्वरस्तावत् परमः प्रजापतिः पञ्चभिरक्षरकलाभिः, पञ्चभिरव्ययकलाभिः, परात्परेण षोडशिना षोडशकलो विज्ञायते। तस्यैवासां कलानामुत्तरोत्तरमेषु पुण्डीरेष्ववतीर्णतया पुण्डीराणामपि षोडशकलत्वमुपपद्यते। एवमेव—"यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह"।

"यथाण्डे तथा पिण्डे"। इति सिद्धान्ताज्जीवस्यापि षोडशकलत्वं निर्बाधम्। तथाहि—

उभयविधोऽप्येष प्रजापतिः पृथगिव षाट्कौशिको द्रष्टव्यः—परात्परः[1], पुरुषः[2], प्रकृतिः[3], प्राणः[4], अन्नम्[5], अधियज्ञश्चेति[6] भेदात्। अपि च—

"अर्द्धं वै प्रजापतेरात्मनो मर्त्यमासीदर्धममृतम्" । इति श्रूयते । तेन उभयविधो ऽप्येष प्रजापतिरमृतमर्त्यविभागाभ्यां पुनर्द्वेधा विभज्यते—तत्र परात्परः, पुरुषः, प्रकृतिः, प्राणः,—इति चत्वारः कोशा अमृतम् । अथान्नमधियज्ञश्चेति द्वौ कोशौ मर्त्यभागः ।

तत्रेश्वरे जीवे चेत्युभयत्रापि—अविशेषेणायममृतश्चभागो मर्त्यश्च पृथक् पृथगेव साम्येन षोडशभिः षोडशभिः कलाभिरुपपन्नो ऽभिज्ञायते । तत्र तावदीश्वरो व्याख्यायते—

१—भूमैककलः परात्परकोशः प्रथमः ॥ १ ॥
२—अव्ययः, अक्षरः, क्षरश्चेति त्रिकलः पुरुषकोशो द्वितीयः ॥ २ ॥
३—प्राणः, आपः, वाक्, अन्नम्, अन्नादश्चेति पञ्चकलः प्रकृतिकोशः । तृतीयः ॥ ३ ॥
४—चत्वारः पुरुष आत्मा । द्वौ पुरुषौ पक्षौ । पुच्छमेकं प्रतिष्ठा ।
इति सप्तलोकम् एकक्रतः सप्तकलः प्राणकोशश्चतुर्थः ॥ ४ ॥

तदीत्थमीश्वरे चायं जीवे चाविशेषेणामृतविभागस्तावच्चतुः कोशः षोडशकलो विज्ञायते । श्रूयते चैवं—"चतुष्टयं वा इदं सर्वम् । षोडशकलं वा इदं सर्वमिति" ।

अथैवंमर्त्यभागोऽप्युभयोः सप्तकलेनान्नकोशेन, नवकलेन चाधियज्ञकोशेन द्विकोशः षोडशकलो भवति । तत्र तावत्—

मनः, प्राणः, वाक्, वायुः, तेजः, आपः, पृथ्वी-इति सप्तकलोऽयमन्नकोशः पञ्चमः ॥ ५ ॥ तथाहि-'सदेवेदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' । सोऽहङ्कारः । अहङ्कारिकं हीदं सर्वं विज्ञायते । गुणत्रयभेदभिन्नाच्चैतस्मादहङ्कारादहङ्कारिकाणि भूम्नः सम्बन्धादुत्तरोत्तरस्थूलानि विरलावयव, तरलावयव, निविडावयवस्वभेदात्त्रिविधानि भूतानि जायन्ते-तेजः, आपः, अन्नमिति । तत्रैतस्मिन्नन्ने एषामेव त्रयाणां पृथक् चयनादेतदेवान्नं त्रेधा रूपं धत्ते-तेजः, आपः, अन्नं चेति । अथास्मिन् द्वितीये पर्य्यायेऽपि यदन्नं तत्राप्येषां पुनस्त्रिवृतौ तदप्यन्नं पुनस्त्रेधा रूपं धत्ते-तेजः, आपः, अन्नमिति । तथा चैवं प्रस्तारादुत्तरोत्तरस्थूलाः सप्तैता विकृतयो जायन्ते-मनः, प्राणः, वाक्, वायुः, तेजः, आपः, पृथ्वीति भेदात् ।

मनोमात्रया ह्येमानि उत्तरोत्तरं भूयस्त्वेन मेयानि—

तेजः	आपः	अन्नम्	अन्नम्	अन्नम्	अन्नम्	अन्नम्
....	....	तेजः	आपः	अन्नम्	अन्नम्	अन्नम्
....	....	....	....	तेजः	आपः	अन्नम्
मनः	प्राणः	वाग्	वायुः	तेजः	आपः	पृथ्वी
I	II	IIII	IIIII	IIIIIII	IIIIIIII	IIIIIIIII
१	२	४	५	७	८	६

एकगुणं मनः, द्विगुणः प्राणः, चतुर्गुण आकाशः, पञ्चगुणो वायुः, सप्तगुणं तेजः अष्टगुणा आपः, नवगुणा ह्येयं त्रिवृत् पृथ्वीति भाव्यम् । मनः प्राणापेक्षया वागादिषु भूयस्त्वमुत्तरोत्तरं गुणानां वर्द्धते—इति कृत्वा वागादीनि पञ्चभूतानि । वागेवेह भूतसंस्थायामाकाशशब्देनाख्यायते । त्रयो ह्येमे विवर्त्तपर्य्याया भवन्ति । तत्र यः प्रथमे प्राणः, स द्वितीये वायुः, स तृतीये नीरभावः । त्रयोऽपीमे भावा एको भात्र आप एव । प्राणः संयत्यां, वायुः क्रन्दस्यां, नीरं रोदस्यामुदेति । ऊर्ध्ववाही प्राणः । तिर्य्यग्वाही वायुः, अधोवाही नारभावः । अत्र मनः प्राणौ ब्रह्मणो रूपे । ते चैते स्वतो ऽनवच्छिन्ने ऽप्युपाधिरूपावच्छिन्ने भवतः ॥ १ ॥ अथ मध्ये—वाग् वायुः तेजासि ति त्राणि शुक्राणि देवरूपाणि । त्रिविधा ह्येमे शुक्रिया देवाः—नाभसाः, आम्भसाः, तैजसाश्चेति ।

प्राणमया वाग्रूपा नाभसाः ; रसमया वायुरूपा आम्भसाः । ज्योतिर्मया अग्निरूपास्तैजसाः । त्रिविधा अप्यमी देवा आकाशप्रचरणस्वभावा दृष्यन्ते ॥ २ ॥

अथापः पृथ्वीति द्वे स्थूलतमे एतल्लोकपरायणत्वादधःपतनशीले अग्निशरीरारम्भके भूतरूपे भवतः ॥

अन्नानि ह्येमानि सप्तेष्यन्ते । श्रूयते हि—

"यत् सप्तान्नानि मेधया तपसाऽजनयत् पिता ।
एकमस्य साधारणं द्वे देवानभाजयत् ॥
त्रीण्यात्मनेऽकुरुत पशुभ्य एकं प्रायच्छत् ।
तस्मिन् सर्वं प्रतिष्ठितं यच्च प्राणिति यच्च न" ॥१॥ इति ॥

"तत्रैतेषु त्रीण्यात्मनि कुरुतेति मनो वाचं प्राणम् । एतन्मयो वाऽयमात्मा । वाङ्-मयो मनोमयः प्राणमयः ॥१॥ त्रयो लोका एत एव । वागेवायं लोकः । मनोऽन्तरिक्ष-लोकः । प्राणोऽसौ लोकः ॥ २ ॥ त्रयो वेदा एत एव । वागेव ऋग्वेदः । मनो यजुर्वेदः । प्राणः सामवेदः ॥ ३ ॥ देवाः पितरो मनुष्या एत एव । वागेव देवाः । मनः पितरः । प्राणो मनुष्याः ॥ ४ ॥ पिता माता प्रजा एत एव । मनः पिता । वाङ् माता । प्राणः प्रजा ॥ ५ ॥ तस्यै वै वाचः पृथ्वी शरीरम्, ज्योतीरूपमयमग्निः । तद् यावती वाक् तावती पृथ्वी तावानयं वाक् तावानयमग्निः । अथैतस्य मनसो द्यौः शरीरम्, ज्योतीरूपमसावादित्यः । "तद् यावन् मनस्तावती द्यौः, तावानसावादित्यः, तौ मिथुनं समैताम् ! ततः प्राणोऽजायत—स इन्द्रः । अथैतस्य प्राणस्य आपः शरीरम् । ज्योतीरूपमसौ चन्द्रः । तद्यावानेष प्राणस्तावत्य आपः तावानसौ चन्द्रः ॥ ६ ॥ त एते सर्व एव समाः सर्वेऽनन्ताः ॥ बृ. आ. । १ । ५ । १-१३ ।

अथाऽध्यात्मम् । द्वे देवानभाजयत्—वायुं च तेजश्चेति । वायुना च तेजसा च भुक्तेनैते शरीरस्था देवतास्तृप्यन्ति । यत्तु श्रुतौ—

हुतं च प्रहुतं चेत्याम्नातं तदीश्वरशरीरसापेक्षम्—

अधिदैवतं देवेभ्यो हुतप्रहुताभ्यामेवान्नसमर्पणात् । अध्यात्मं वा यदिदं देवेभ्यो वायुश्च तेजश्च हूयते तदपि हुतप्रहुताभ्यां नातिरिच्येते इति विद्यात् ।

"अथैकं पशुभ्यः प्रायच्छदिति" । पशवो भूतानि । यदिदं पार्थिवं किञ्चिदन्नमद्यते तेनैतेन शरीराम्भका भूतधातवः सर्वे पुष्यन्ति । "अथैकमस्य साधारणमिति" तदापः । अद्भ्यो हि भूतग्रामश्च, देवग्रामश्च, आत्मग्रामश्चोपपद्यन्ते । "सर्वमापोमयं जगदित्याहुः । इत्थं चायं सप्तकलोऽन्नकोशो भूतकोशो वा व्याख्यातः ।

अथ मनसा प्राणेन चाकाशेन चेदं स्वयंभूमण्डलं पर्य्याप्तमिति सप्ताप्येते लोका एतैस्त्रिभिर्भावैः पर्य्याप्ताः द्रष्टव्याः । सप्तानामपि लोकानां स्वयंभूमण्डलान्तर्भुक्तत्वात् । अथापोमये परमेष्ठिमण्डले वायुसमुद्रः प्रादुर्भूयाभिव्याप्नोति । सूर्य्यमण्डले तेजःसंस्थानम् । चन्द्रमण्डलमन्तरिक्षमपां स्थानम् । अथायं पृथ्वीलोको भवत्यन्नानां प्रभवः । सप्ताप्येते लोका ईश्वरशरीरमिती कृत्वायमीश्वरो यथा षोडशकलस्तद्वदिमे जीवा अपि सम्भवन्त्येव षोडशकला पूर्णा इति साम्यं भाव्यम् ॥

अत्रेदं वोध्यं । पुरुषः प्रकृतिर्विकृतिरित्येतदेव त्रितयमीश्वरशरीरेऽश्वत्थविद्यायां—अमृतं, ब्रह्म, शुक्रं चेति त्रितयमाख्यायते । तत्रेदममृतं पुरुषरूपं न प्रकृतिर्न विऽकृतिः अथेदं ब्रह्म प्रकृतिः । तस्यैतस्य ब्रह्मणः पञ्च रूपाणि—प्राणः, आपः, वाग्, अन्नं, अन्नादश्चेति ।

तानीमानि रूपद्वयविभक्तानि—ऋतं च सत्यं चेति। अग्निः सत्यम्। सोम ऋतम्। सहृदयं सत्यम्। अहृदयमृतम्। प्राणो ब्रह्माग्निः। वाग् देवाग्निः। अन्नादो भूताग्निः। तानीमानि त्रीणि सत्यान्यग्निरूपाणि। अथैता आपश्चेदमन्नं चे—त्युभयोऽप्येक एवार्थः सोम एव। तस्यैते द्वे रूपे ऋते। एभ्य एव च पुनः शुक्राणि त्रीणि रूपाणि जायन्तेऽमृतानि च मर्त्यानि च तानि भवन्ति—

प्राणः, आपः वागिति त्रीण्यमृतानि। वागापोऽग्निरिति त्रीणि मर्त्यानि। तत्रामृतेन प्राणेन स्वयंभूः। अमृताभिरद्भिः परमेष्ठी रूपं धत्ते। अथ मर्त्याभिरद्भिश्चन्द्रमाः। मर्त्येनाग्निना पृथ्वी रूपं धत्ते। अथ यः पुनरेष मध्यमः सूर्य्यः सोऽमृतया वाचा वेदमयो, मर्त्यया तु वाचा देवमयः संपद्यते। अत एवाम्नायते—

"आ कृष्णेन रजसा वर्त्तमानो निवेशयन्नमृतं मर्त्यं च।
हिरण्मयेन सविता रथेनादेवो याति भुवनानि पश्यन्"॥

तदित्थमीश्वरशरीरे हृदयस्थादस्मात् सूर्य्यादूर्ध्वं सर्वममृतम्। सूर्य्यादर्वाक् सर्वं मर्त्यमिति विद्यात्। अथैतस्मिन् जीवशरीरेऽपि हृदयादूर्ध्वा उरोगुहा शिरोगुहाप्राणाः सूर्य्यानुगा अमृताः। अथ हृदयादधस्तादुदरगुहा वस्तिगुहाप्राणाः पृथिव्यनुगा मर्त्या भाव्याः॥.॥

अथ नवकलोऽयमधियज्ञकोशो जीवशरीरे नवकला ईश्वरात्माऽयं ब्रह्माश्वत्थस्त्रिधातुर्भवति—अमृतं ब्रह्म शुक्रं चेति। तदुक्तम्—

"ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते॥
तस्मिन् लोकाःश्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन॥ इति।

तत्र वाग्-आपः-अग्नि-रिति त्रीणि शुक्राणि। तदुपपन्नश्चायं शुक्रियात्मा नवधोत्पद्यते। तद्यथा—

१—शरीरात्मा—भूतमयः।
२—हंसात्मा—वायुमयः।
दिव्यात्मा—प्राणमयः। इति त्रिविधो बाह्यात्मा। तत्रैष तृतीयो दिव्यात्मा त्रेधा विवर्त्तते—

३—वैश्वानरो—ऽग्निः।
४—तैजसो—वायुः।

प्राज्ञ—इन्द्रः । इति । स एष प्राज्ञः पुनरयं त्रेधा विवर्तते ।

५—कर्म्मात्मा—संस्कारमयः प्रथमः । स ईश्वरजन्यो रश्मिभृद्दश्मजाताग्निवत् ।....

६—अथ प्राज्ञे प्रतिबिम्बितश्चिदाभासो द्वितीयः । स ईश्वरांशः प्रतिबिम्बितसूर्य्य-वत् । अथ सर्वव्यापीश्वरभागो घटाकाशवदनुस्यूतश्चिदात्मा तृतीयः । स जीवैकतां गतः साक्षादेवेश्वरः सूर्य्यातपभक्तिवत् । अथैष तृतीयश्चिदात्मा-ऽध्यात्मिकः ।

७—ईश्वरः पुनरध्यात्मं त्रेधा विवर्तते । विभूतिमान् कश्चिदन्यो महायशा वा योगी-श्वरो वा तपस्वी वा प्रभावशाली ब्रह्मवीर्य्यः ॥

८—अथ श्रीमान् कश्चिदन्यः श्रेष्ठी वा महाजनो वा विड्वीर्य्यः ॥

९—अथोर्जितः—कश्चिदन्यो महायशाः सम्राट् वा राजा वा शूरवीरः क्षत्रवीर्य्यः ॥ उक्तं च-

"यद् यद् विभूतिमत् सत्वं श्रीमदूर्जितमेव वा ॥
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंशसम्भवम्" ॥ इति ॥

स एष नवकलः शुक्रियात्मा भूतात्मा द्रष्टव्यः । भूतग्रामाभिमानित्वात् । इत्थं चायं द्विकोशो मर्त्यविभागः षोडशकलो व्याख्यातः ॥

आत्मा त्रिविधो वा, अष्टादशविधो वा—

(१) अमृतात्मा= १ परात्पर:
पुरुषः=
२ . . . अव्ययः
३ . . . अक्षरः
४ . . . क्षरः

(२) ब्रह्मात्मा= १ प्राणः=याजुषाग्निः ब्रह्माग्निः
२ आपः सोमः
३ वाक्=अङ्गिरसाग्निः देवाग्निः
४ अन्नम् सोमः
५ अन्नादः=रुद्राग्निः भूताग्निः

(३) शुक्रियात्मा= १ शरीरात्मा=अग्निः
२ हंसात्मा=वायुः
३ दिव्यात्मा=इन्द्रः=वैश्वानरः अग्निः
४ . . . . . तैजसः वायुः
५ . . . . . प्राज्ञः इन्द्रः= कर्मात्मा
६ . . . . चिदाभासः
७ . . . . चिदात्मा= विभूतिः
८ . . . . श्रीः
९ . . . . ऊर्क्

(१८)

बाह्यात्मा, (भूतात्मा) शुक्रियात्मा नवकलः—

१—शरीरात्मा भूतमयः ।

२—हंसात्मा वायुमयः ।

३—दिव्यात्मा प्राणमयः । वैश्वानरोऽग्निः ।

४— . . . . . . तैजसः वायुः ।

५— . . . . . . प्राज्ञ इन्द्रः । कर्म्मात्मा संस्काररूपः

६— . . . . चिदाभासः प्रतिविम्बरूपः

७— . . . . चिदात्मा ईश्वररूपः विभूतिलक्षणः

८— . . . . श्रीलक्षणः

९— . . . . उर्क् लक्षणः

अन्तरात्मा (देवात्मा) ज्ञात्मा पञ्चकलः—

१	२	३	४	५
अव्यक्तात्मा	महानात्मा	विज्ञानात्मा	प्रज्ञानात्मा	प्राणात्मा
शान्तात्मा	गुणात्मा	सत्वात्मा	प्राज्ञात्मा	इन्द्रियात्मा
प्रकृतिः	महत्	बुद्धिः	मनः	प्राणः
स्वयंभूः	परमेष्ठी	सूर्य्यः	चन्द्रः	पृथ्वी
प्राणः	आपः	वाक्	अन्नम्	अन्नादः

सप्तकलोऽन्नकोशः—

७—मनः	प्राणः	वाक्	वायुः	तेजः	आपः	पृथ्वी
तेजः	आपः	अन्नम्	अन्नम्	अन्नम्	अन्नम्	अन्नम्
तेजः	आपः	अन्ने तेजः	अन्ने आपः	अन्ने अन्नम्	अन्नम्	अन्नम्
तेजः	आपः	अन्ने तेजः	अन्ने आपः	अन्ने तेजः	आपः	अन्नम्

सप्तकलः प्राणकोशः—

७—आत्मा	आत्मा	आत्मा	आत्मा	पक्षः	पक्षः	पुच्छम्
प्राणः	प्राणः	प्राणः	प्राणः	प्राणः	प्राणः	प्राणः

पुरुषस्य षोडशकलाः—

१ (१६) परात्परः

३—अव्ययः अक्षरः क्षरः ।

१ आनन्दः	६ ब्रह्मा	११ ब्रह्मा
२ विज्ञानम्	७ विष्णुः	१२ विष्णुः
३ मनः	८ इन्द्रः	१३ इन्द्रः
४ प्राणः	९ सोमः	१४ सोमः
५ वाक्	१० अग्निः	१५ अग्निः

१६ परात्परः भूमा ।

१	२	३	४		४	५
परात्परकोशः	पुरुषकोशः	प्रकृतिकोशः	प्राणकोशः		भूतानिकोश	भूतात्माकोशः
१	३	५	७		७	६
अमृतानि १६					मर्त्यानि १६	

१ भूमा ५अव्यः प्राणः१ आत्मा१ मनः शरीरम्

५अक्षरः आपः२ आत्मा२ प्राणः हंसः

५क्षरः वाक्३ आत्मा३ वाक् दिव्यः वैश्वानरः

अन्नम्४ आत्मा४ वायुः तैजसः

अन्नादः५ पक्षः५ तेजः प्राज्ञ-हंसात्मा

पक्षः६ आपः चिदाभासः

पुच्छम् चिदात्मा

विभूतिः

श्रीः

ऊर्क्

उक्तं च—

"यद्यद्विभूतिमत् सत्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंशसंभवम्" इति।

स एष नवकलः शुक्रियात्मा भूतात्मा द्रष्टव्यः। भूतग्रामाभिमानित्वात्। इत्थं चायं त्रिकोशो मर्त्यविभागः षोडशकलो व्याख्यातः। अमृतात्मैवासौ मर्त्यग्रामानुस्युतत्वादौपाधिकं मर्त्यत्वं भजते। भूतात्मकोशस्यैतस्य नवकलस्याध्यात्मत्वात्त् सप्तकलान्नकोशाव्यतिरिक्तस्य सर्वस्याप्यध्यात्मभावस्यात्मत्वे प्रतिपन्ने पञ्चविंशतिकलत्वमात्मनः संप्रतिपन्नं भवति। तथा चाम्नायते"—

"यस्मिन् पञ्च पञ्चजना आकाशश्च प्रतिष्ठितः॥
तमेव मन्ये आत्मानं विद्वान् ब्रह्मामृतोऽमृतम्"॥ इति॥

सिद्धमेतावता जीवस्यापीश्वरवत् षोडशकलत्वं पञ्चविंशतिकलत्वं वा॥

जीवेश्वरयोरभेदमतम्।

अपर आह। नैते जीवा ईश्वराददतिरिच्यन्ते—जीवानामीश्वरकारणकत्वात्। कारणतश्च कार्याणामभिन्नत्वात्। ईश्वरस्यैवायं गूढोत्माऽव्ययः केनचिद्देशेन पाप्मानमासाद्य तत्तत्पाप्मावच्छेदेन भिन्नवत् प्रतीयते। तेनैतेषां क्लेशाद्युपसर्गभेदानां भेदकत्वेऽपि चतुर्विधबुद्धियोगनिबन्धनविद्याविशेषोदयप्रभावेण क्लेशादिपाप्मनां विनिवृत्तौ जीवविशेषस्यैतदीश्वरेणाभेदः संपद्यते। तत्रैतदीश्वरसत्यत्वमञ्जसोपपद्यते। तस्मादयमौपाधिकः स्वरूपभेदः। वस्तुतस्तु नैते जीवा ईश्वराद् भिद्यन्ते। इति भाष्यम्। तथाहि—

यद्यप्याऽऽत्मनिकायोऽयं द्वैविध्येनैव दृश्यते।
ईश्वरः प्रथमो विश्वव्यापी जीवस्तु तद् गतः॥१॥
अमृतं ब्रह्म शुक्रं च विकारांश्च यथेश्वरे।
तथा चत्वारि पर्वाणि जीवे तान्येव भावयेत्॥२॥
एकमेवो भयत्रात्मममृतं पुरुषत्रयम्।
किन्तु ब्रह्म साम्येन विषमत्वं ब्रह्मपञ्चकम्॥३॥
उभयत्रापि साम्येन शुक्रं पञ्चविधमातनम्।
"यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह॥४॥
मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति।"
स्युर्विकारविधा नानाऽन्यथा जीवेऽन्यथेश्वरे॥५॥

विकारास्तत्र पाप्मानो जीवे सन्ति न चेश्वरे ।
तस्मादाव्रियते विद्या ज्योतिर्जीवे तु नेश्वरे ।६।।
नेश्वराद्भिद्यते जीवो यत्र पाप्मा निवर्तते ।
< बुद्धियोगप्रभावेण पाप्मा जीवान्निवर्त्यते ।।७।।
मनुष्यतो वासुदेवाद् बुद्धियोगैश्चतुर्विधैः ।
पाप्मानोऽशेषतो नष्टाः सोभूदच्युत ईश्वरः ।८।।
तेनेश्वरं वासुदेवं मनुष्यं चाप्यभिन्नवत् ।
वेदव्यासादयः प्रोचुर्गुणान् बहु परीक्ष्य च ।।९।।

इति जीवेश्वरयोरभेदमतम् ।

———

जीवेश्वरयोर्भेदाभेदसिद्धान्तः ।

अथान्ये पुनराहुः—ईश्वरादिमे जीवा नैकान्ततो भिन्नाः स्युरभिन्ना वा । तथाहि योऽयमव्ययः षोडशी वा महामात्रः स ईश्वरस्वरूपाधायकः । यस्त्वल्पमात्रकः स जीवस्वरूपाधायकः । ईश्वरे तावदधियाज्ञानुबन्धा वाऽन्यथा प्रजायन्ते जीवेत्वन्यथा । तेनैष प्रजापतिर्द्वेधा भिद्यते—भिन्नधर्माऽयमीश्वरो भिन्नधर्म्मा स जीवश्च । किन्तु नोभयोरयमभयो निर्विशेषो वा भिद्यते । तेनायमेक एव प्रजापतिरीश्वरश्चैष जीवश्च । स इत्थं विवक्षानिबन्धनोऽयमनयोर्भेदश्चाभेदश्च प्रतिपत्तव्यः ।

अपि च—द्वेधा हीश्वरस्य जीवेषूपयोगो विभूत्या च योगेन च । ईश्वरांशमादाय कृतात्मत्वं विभूतिः । पृथक्त्वेनोपपन्ने पुनः सम्पर्को योगः । तेजसः प्रतिबिम्बो जलस्य फेनो विभूतिः । सूर्य्य प्रतिबिम्बोपरि सूर्य्यरश्मिः, फेनोपरि जलाप्लवो योगः ।

"एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्वतः ।
सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः" ।।

इति प्रतिज्ञाय भगवता विभूतियोगयोः कानिचिदुदाहरणानि दर्शितानि । तथा चैतद् विभूतियोगवैलक्षण्यादिमे प्रतिबिम्बा बिम्बतो भिन्नाभिन्नाः । फेनाश्चेमे जलतो भिन्नाभिन्नाः । विभूतियोगाभ्यां द्वेधागृहीतानां भेदसहिष्णवभेदोपपत्तेः सिद्धान्तात् । सत्यविश्वाभ्यां द्वेधा विभक्तं हीदं सर्वं नातोऽन्यत् किञ्चिदस्ति । सत्यमयं हीदं विश्व प्रजापतिः ।

"यस्मादन्यो न परो अस्ति जातो य आ बभूव भुवनानि विश्वा । प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वाजातानि परिता बभूव ।" सर्वं वा इदं प्रजापतिर्यदिमे लोका यदिदं किञ्च ।"

इत्येवमादिभिः श्रुतः स प्रजापतिरेवायमीश्वर इति कृत्वा जीवानामपि तत एवोत्पत्तिः संभवति। तस्मात् सर्व एवैते जीवा ईश्वरविभूतयः स्युः। अतश्चषोडशकलोयऽमीश्वरः सर्वां सृष्टिमभिव्याप्नोतीति कृत्वा जीवेष्वप्येतेषु न न पर्य्याप्नोति। तथा चैतस्मिन् जीवशरीरे जीवात्मा चायमीश्वरात्मा चासौ पृथगिवार्थविधातारौ भवतः। तत्रायं जीवोंऽशतः स्वतन्त्रो भूयसा परतन्त्रश्च।

यथाह भगवान्—

"ईश्वरः, सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया" ॥ इति ॥

दृश्यते चैतज्जीवशरीरे द्विविधा सृष्टिः। यदेष मनसा मनुते वक्ति करोति सा जीव सृष्टिः। ये त्वेते स्नायुशिराधमनीनाडीसंचाराः श्वासोच्छ्वासौ त्वगसृङ्मांसमेदोऽस्थिमज्जशुक्रादिधातुविकाराः मनःप्राणवाचां सृष्टयः तानीमानि सर्वाणीश्वरचेष्टितानि। तमेतमीश्वरात्मानं जीवात्मायमभेदेनालम्बते। ईश्वराव्ययस्यैवांशतो जीवाव्ययत्वेनोपपन्नत्वात्। वैकारिकौ तु पुनरेतयोरात्मानौ पञ्च पर्वाणौ जीवेश्वरयोर्भिद्येते सृष्टिभेदेन भिन्नत्वात्। महामाया योगमाया भेदात्तु यद्यपि गूढोत्मापि तयो भिन्नोऽवकल्पते तथापि मात्रातारतम्यस्य विशिष्य भेदानतिशायितया नातितरां भेदः शक्यः कल्पयितुम्। वैकारिकस्तु पञ्चपर्वा जीवस्यात्मा प्रक्रमभेदादीश्वरवैकारिकात् पञ्चपर्वणो भिद्यन्ते। अतश्चैते जीवाईश्वराद् भिद्यन्ते, व्यपदिशन्ति हि तयोर्भेदं महर्षयः—

"द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति" ॥

इति। मनुष्यविग्रहो वृक्षत्वेनोपकल्प्यते। शरीरस्थोऽपीश्वरः कर्म्मफलं न भुङ्क्ते। भगवानप्याह—

"न च मां तानि कर्म्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्म्मसु ॥६६॥
अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते। १३।३२॥
यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते।" १३।३३॥

यद्यपीदं वचनमव्ययपरं नश्वरपरं तथापीश्वरस्याव्ययसारत्वादीश्वरेऽव्ययधर्म्मा अञ्जसोपनीयन्ते-इति कृत्वेदं वचनमीश्वरेऽपि शक्यं सामञ्जस्येनोपनेतुम्। यत्तु कर्म्मफल-भोक्तृत्वमव्ययस्य स्मर्य्यते—

"भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ।५।२९॥
अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च।
न तु मामभिजानन्ति तत्वेनातश्च्यवन्ति ते ।९।२४॥
सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च। १३।१५॥
उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन् पुरुषः परः।" १३।२३॥

तदिदं जीवाव्ययपरं द्रष्टव्यम्।

"तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्तीति" जीवाव्ययस्य फलभोक्तृत्वश्रवणात्। ननु चोक्तमी-श्वराव्ययजीवाव्यययोरनन्यत्वमिति-चेत् सत्यमुक्तम्। सत्यपि तयोरभेदे गुणसङ्गादौपा-धिकं कर्म्मफलभोक्तृत्वं जीवाव्ययस्य नापोद्यते। बिम्बप्रतिबिम्बयो रात्यन्तिकाभेदाध्यव-सायेऽपि जलसङ्गादौपाधिकानां वाय्वादिकर्म्मजनितभङ्गादिदोषाणां वस्तुतोऽसतामप्यस्मिन् प्रतिबिम्बे प्रतीयमानत्वात्।

"मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ।२।१४॥
कार्य्यकारणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते।
पुरुषः सर्वदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ।१३।२१॥
पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान् गुणान्।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु।" १३।२२॥

अत्र जन्मपदं जात्यायुर्भोगादिसर्वविधकर्म्मविपाकोपलक्षणम्। यत्तु निर्गुणं गुणभोक्तृ चेत्यव्ययस्य निर्गुणत्वमाख्यायते तदव्ययान्तर्य्यामित्वं गुणानां प्रतिषिध्यते न तु बहिर्य्या-मत्वमुपयामत्वं वा। गुणभोक्तृत्वास्यथानुपपत्तेः। "कारणं गुणसङ्गोऽस्ये" त्यादिना तथैव तात्पर्यावगमाच्चेति बोध्यम्।

जीवानामन्योन्यं भेदाभेदयोरभेदसिद्धान्तः।

इत्थं चेश्वरजीवयोर्भेदाभेदो व्याख्यातः। जीवानामप्येवमन्योन्यं भेदाभेदो द्रष्टव्यः। वैकारिकात्मनां भेदेन भेदोपपत्तावपि गूढोत्माऽव्ययपुरुषस्यैकत्वेन सर्वेषामभेदोपपत्तेः। अत एव च सृष्टिभेदकृतं भूतपृथक्त्वमादधानं सत्यमिमं गूढात्मानमेकत्वेन भगवा प्रतिजानीते—

"समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति॥.॥
सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्विकम्॥.॥
अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च॥
यदा भूतपृथक्भावमेकस्थमनुपश्यति॥
तत एव च विस्तारं ब्रह्म सम्पद्यते तदा" ॥.॥

तथा चायं क्षराक्षराभ्यां प्रकृतिभ्यां विशिष्टोऽव्ययः पुरुषः सर्वजीवसाधारणो जीवेश्वर साधारणश्चैक आत्मा। जीवेषु अन्योन्यभेदप्रयोजकानां योगमायाभेदानां जीवेश्वरभेद-प्रयोजकस्य महामायायोगमायाभेदस्य चातितुच्छतया भेदबुद्धेरनवसरदुःस्थत्वात्। स एष सत्योगूढोत्मा।

(ईश्वराव्ययाभिन्नसर्वजीवैकाव्ययस्य कृष्णत्वम्।)

तमेवैतमीश्वराव्ययाभिन्नं सर्वजीवैकाव्ययपुरुषं कृष्ण इति प्रतिपद्यामहे गीतायां भगवतस्तस्याव्ययपुरुषस्याहंत्वेन प्रतिज्ञातत्वात्। तथाहि—

"अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपिसन्
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया॥४६॥
सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम्।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम्॥९ ७॥
प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात्॥९।८॥
न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु॥९।९॥

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम् ।
मत्त एवेति तान् विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि ॥७।१०॥
यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन ।
न तदस्ति विना यत्स्यात् मया भूतं चराचरम् ॥१०।३९॥
त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत् ।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम् ॥.॥
यस्मात् क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ।.॥
यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम् ।
स सर्वविद् भजति मां सर्वभावेन भारत" ॥.॥ इति

एषु सर्वत्रायमस्मच्छब्दो जीवेश्वरसाधारणं तमव्ययपुरुषमेवाह । तत्रैवोपपत्तेः । सोऽन्वेष्टव्यः । स विजिज्ञासितव्यः । सोऽनुध्यातव्यः । स उपासितव्यः ॥

॥ इतीश्वरजीवसाधारणप्रजापतिकृष्णरहस्यम् ॥
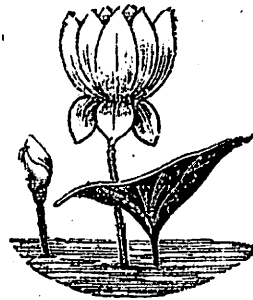
अथ वैकारिकात्माऽधियज्ञात्मा।

अथैतस्मादव्यक्तात् पञ्चविंशतिकलोऽयमधियज्ञात्मा व्याख्यायते। तथाहि वाक् प्राणाभ्यां द्वेधा विभक्तं यजुर्ब्रह्म प्राणाः। तस्मिन् पञ्च पञ्च जनाः सत्राहूयन्ते ततोऽन्योऽधियज्ञो जायते ॥ १ ॥

अथ भृग्वङ्गिरोभ्यां द्वेधा विभक्तमथर्वा ब्रह्म आपः। तस्मिन् पञ्च पञ्चजनाः सत्राहूयन्ते। ततोऽन्योऽधियज्ञो जायते ॥ २ ॥

अथ विद्याविद्याभ्यां द्वेधा विभक्तं ज्योति र्ब्रह्म वाक्। तस्मिन् पञ्च पञ्चजनाः सत्राहूयन्ते। ततोऽन्योऽधियज्ञो जायते ॥ ३ ॥

अथान्नादे यज्ञब्रह्मणि पञ्च पञ्चजनाः सत्राहूयन्ते। ततोऽन्योऽधियज्ञो जायते ॥ ४ ॥
अथान्ने यज्ञब्रह्मणि पञ्च पञ्च जनाः सत्राहूयन्ते। ततोऽन्योऽधियज्ञा जायते ॥ ५ ॥

तेषामेषां पञ्च पञ्चजनानामधियज्ञानामध्यक्षरमधिक्षरमधिदैवतमध्यात्मं चाधिभूत च नामानि भिद्यन्ते। तद् यथा—

	१	२	३	४	५
१	ब्रह्मा	प्राणः	स्वयंभूः	अव्यक्तम्	सत्यम्
२	विष्णुः	आपः	परमेष्ठी	महान्	आपः
३	इन्द्रः	वाक्	सूर्य्यः	बुद्धिः	ज्योतिः
४	सोमः	अन्नम्	चन्द्रः	मनः	अमृतम्
५	अग्निः	अन्नादः	पृथ्वी	भूतात्मा	रसः
	इत्यध्यक्षरम्	इत्यधिक्षरम्	इत्यधिदैवतम्	इत्यध्यात्मम्	इत्यधिभूतम्

यज्ञः प्रजापतिरित्याहुः। यज्ञा हीमेऽधियज्ञाः पञ्च प्रजापतयः। तैरेतैः पञ्चभिः कृतात्मा चाऽन्योधियज्ञः प्रजापतिः। तथा चायं प्रजापति र्द्विविधः संपद्यते प्रतिमाप्रजापतिः, आभुप्रजापतिश्चेति।

स्वयंभूवमारभ्य चन्द्रान्ता हीमेऽधियज्ञा अन्तरान्तरीकृता संनिविशन्ते तेनायमेकाक्षरश्चन्द्रः। द्व्यक्षरा पृथ्वी। त्र्यक्षरः सूर्य्यः। चतुरक्षरः परमेष्ठी। पञ्चाक्षरः स्वयंभूः। तथा च स्वयंभूवो वैश्वरूप्ये चतुरक्षरादयश्चत्वारोऽधियज्ञा अन्तर्भवन्ति। तेऽमीगर्भचराश्चत्वारः प्रतिमाप्रजापतयः। आभुप्रजापतिधर्माणां पूर्णरूपेणैतेष्वनुपलब्धावप्यधियज्ञत्वेन प्रजापतित्वप्रतिपत्तेः। अथ यस्त्वेकः पञ्चाप्येतानि भुवनान्यविशेषमाभवति स

आभुप्रजापतिः । सर्वेषां भुवनजातानामन्तैकान्तभर्भावात्‌ परस्तात् किञ्चिद्विश्वरूपं प्रजायते तथा चायमाभुप्रजापतिः श्रूयते—

"यस्मादन्यो न परोऽस्ति जातो य आ बभूव भुवनानि विश्वा ।
प्रजापतिः प्रजया संरराणस्त्रीणि ज्योतींषि सचते स षोडशी" ।

संरराण इत्यत्र संविदान इति पाठान्तरं समानार्थम् । ज्ञानज्योतिः, सोमज्योतिरग्निज्योतिरिति त्रीणि ज्योतींषि । ज्ञानज्योतिष एवोपसंक्रमणान् महानात्मा, विज्ञानात्मा प्रज्ञानात्मेति वा त्रीणि ज्योतींषि । प्रजापतिस्वरूपे ऽव्ययपुरुषः परप्रकृतिविशिष्ट एवोपनिषदस्तीत्यावेदयितुमाह षोडशीति । स षोडशी पुरुषो ऽव्यक्तात्मजानितथा ऽधियज्ञात्मकवैकारिकात्मसंपत्त्या संपन्नः प्रजापतिराख्यायते । इत्यर्थः । प्रजावैशिष्ट्यापेक्षायामपि षोडशिनोऽव्ययपुरुषस्यैव प्रजापतित्वमिष्यते इत्यत एवास्य प्रजापतेस्त्रैविध्यमन्यथा श्रूयते । अनिरुक्तः प्रजापतिः । सर्वः प्रजापतिः । उद्गीथप्रजापतिरिति ॥ अव्ययपरप्रकृतीनां ब्रह्मेन्द्रविष्णूनां मध्ये ब्रह्मणस्त्रैविध्येन संनिवेशापेक्षया होमे त्रयो भेदा भवन्ति, यावदयं हृदये प्रतितिष्ठति तेनायमनिरुक्तो हृदयप्रजापतिः । यावदयं कृत्स्नं वषट्कारं विश्वानि भुवनानि अभिव्याप्नोति तेनायं सर्वो नाम विश्वप्रजापतिः । यावच्चायं वषट्कारात्मकानां त्रयस्त्रिंशदहर्गणानां मध्यं सप्तदशमहः संधत्ते सोऽयं सप्तदशः प्रजापतिरुद्गीथः ।

योऽयमनिरुक्तः स सर्वः स एवोद्गीथः । पुरुष एव यथा कर्म यथा विद्यं विविधतः प्रणिधीयते । तदेतत् त्रैविध्यं प्रतिमाप्रजापतीनां प्रातिस्विकमन्यदन्यच्च द्रष्टव्यम् आभुप्रजापतेस्त्वन्यदिति दिक् ॥।

इत्थं वैकारिकात्मनां पञ्चाधियज्ञानामाभुप्रतिमाभेदेन द्वैविध्ये स्थिते प्रतिमाप्रजापतिः शुक्लं रूपम् । अथाभुप्रजापतिः कृष्णं रूपम् । स आभुरात्मा प्रतिमानामस्यात्मा कृष्णः । सोऽन्वेष्टव्यः । स विजिज्ञासितव्यः । स उपासितव्यः ॥

इति दिव्यकृष्णो वैकारिकसत्यकृष्णदृष्टिः ॥

॥ तदित्थममृतं-ब्रह्म-प्रजापतिश्चेति त्रिसत्यं दिव्यकृष्णरहस्यं संपूर्णम् ॥

गीताकृष्णः ।

१—गीताप्रयुक्तस्यास्मच्छब्दस्य विवक्षितार्थनिरुक्तिः ।
२—गीतोपनिषदो विज्ञानशास्त्रत्वसिद्धान्तः ।
३—विशुद्धाव्ययस्य गीताकृष्णत्वनिरुक्तिः ।
४—गीताकृष्णस्य शून्यपूर्णस्थानविवेकः ।
५—योगमायाप्रभावात् शून्यसत्यस्थाने पूर्णसत्यावतारः ।
६—गीताकृष्णस्य नवधा भक्तिः ।
७—अद्वैतकृष्णस्य योगमायावशान्नानात्वोपपादनम् ।
८—आंशिकयोगमायानिवृत्तौ शेषयोगमायान्तर्हितः सत्योऽव्ययपुरुष (आत्मा) ।
९—योगमायात्यन्तापवर्गे कृष्णाद्वैतसिद्धिः ।
१०—कृष्णत्रयैकात्म्ययोपपादनम् ।

गीताचार्यरहस्ये पञ्च प्रकरणानि ।

(१) कृष्णत्रैविध्योपपत्तिः—

कृष्णस्त्रिविधस्तत्र च मानुषकृष्णो जगद्गुरुः प्रथमः ।
जीवोल्पगुणो गोकुलवासी योगेश्वरो निरुक्तो यः ॥१॥
१ पर ईश्वरो महागुण उक्तो गोलोकवासी यः ॥
२ अनिरुक्तः परमेष्ठी दिव्यः कृष्णस्त्रिसत्यात्मा ॥ २ ॥
निरुपाख्योऽव्यय आत्मा गीताकृष्णः परं ब्रह्म ।
जीवहृदयवासी यः स निर्गुणस्त्वन्तरात्मान्ते ॥ ३ ॥

मानुषकृष्णः	दिव्यकृष्णः	गीताकृष्णः
१-जीवः	१-ईश्वरः	१-परं ब्रह्म
२-अल्पगुणः	२-महागुणः	२-निर्गुणः
३-योगेश्वरः	३-त्रिसत्यात्मा	३-अन्तरात्मा
४-जगद्गुरुः	४-परमेष्ठी	४-पुरुषोत्तमः
५-गोकुलवासी	५-गोलोकवासी	५-हृदयवासी
६-निरुक्तकृष्णः	६-अनिरुक्तः कृष्णः	६-निरुपाख्यकृष्णः

कृष्णत्रैविध्यनिरुक्तौ त्रयोदशधा गीताप्रमाणवचनानि—

१—मानुषकृष्णपरोऽस्मच्छब्दः ।
२—ईश्वरकृष्णपरोऽस्मच्छब्दः ।
३—अव्ययकृष्णपरोऽस्मच्छब्दः ।
४—मानुषेश्वरसाधारणो ऽस्मच्छब्दः ।
५—मानुषाव्ययसाधारणो ऽस्मच्छब्दः ।
६—ईश्वराव्ययसाधारणो ऽस्मच्छब्दः ।
७—मानुषेश्वराव्ययैतत् त्रितयसाधारणोऽस्मच्छब्दः ।
८—मानुषकृष्णवादिनां पक्षे युक्तिः ।
९—अव्ययकृष्णवादिनां पक्षे युक्तिः ।
१०—पक्षत्रये ऽपि विप्रतिपत्त्या ऽस्मच्छब्दस्यानिर्णीतार्थत्वम् ।
११—मनुषकृष्णस्याव्ययात्मनि सर्वेषां सामञ्जस्यम् ।
१२—कृष्णत्रैविध्यसिद्धान्तः ।
१३—जीवाव्ययेश्वराव्ययविशुद्धाव्ययभेदात् कृष्णत्रैविध्यम् ।

१—गीताप्रयुक्तस्यास्मच्छब्दस्य विवक्षितोऽर्थः ॥

(१) ननु गीतायामहंशब्देनोपात्तत्वाद्देवकीपुत्री वासुदेवो नाम कश्चन मानुष एवायं गीतोपदेष्टा कृष्ण आसीत्–इत्येवं तावदितिहासमर्य्यादया लभ्यते। इह तु भवान् सत्यं नामाऽव्ययपुरुषं कृष्णमाह। सोऽयमर्थः कथमुपपद्यते ? इति चेद्—

(२) अत्र ब्रूमः। अवश्यं तावदसौ देवकीपुत्र एवैतद् गीताशास्त्रस्योपदेष्टासीदिति मन्यामहे। किन्तु गीतायामहंत्वेनोपात्तः कृष्णः स सत्यो नामाऽव्ययपुरुष एवेति वैज्ञानिकमर्य्यादया पश्यामः। गीतायामहंशब्देन सर्वत्र देवकीपुत्रस्याविवक्षितत्वात्। नहि गीतावाक्येनोपदिश्यमानो विज्ञानार्थः सामञ्जस्येन देवकीपुत्रे तदात्मविशेषे वा यथावत् संघटते।

(३) तथाहि–एतस्यां भगवद् गीतायां भगवानेष कृष्णो भूयसा ऽहंशब्देनात्मानमेवोपलक्षयन् कृष्णमाहात्म्यं वर्णयामास। तत्र किमेतावतावसुदेव[१] जनितशरीरविशिष्टो व्यक्तिविशेषो ऽभिप्रेयते; तच्छरीरोपहितो[२] जीवात्मा वा; जीवात्मसा[३] मान्यं वा, सर्वजीवात्मानुस्यूत ईश्व[४]रात्मा वा, जीवेश्वरसाधारणमा[५]त्मसामान्यं वा ? ॥

नाद्यः—

"इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।
विवस्वान् मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवे ऽब्रवीत्" ॥.॥

इति कृष्ण वचने ऽर्जुन आह—

"अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः ॥
कथमेतद् विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति" ॥.॥

इत्थं प्रश्ने भगवान् कृष्णः समाधत्ते—

"बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।
अजो ऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरो ऽपि सन्
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया ॥ इति" ॥

इत्थेवं प्रतिजानानेन भगवता तच्छरीरभक्तिव्यतिरेकेण विशुद्धे प्रत्यगात्मन्यव्ययेऽहं शब्दवृत्तेर्विवक्षितत्वात् ॥ १ ॥

अत एव न द्वितीयः । विवस्वत्संप्रदानकोषदेशकाले तदात्मनो वासुदेवशरीरानुपहित-त्वात् ॥ २ ॥ अतएव न तृतीयः । विवस्व द्वैवस्वतेक्ष्वाकुराजर्षीणामैकात्म्यप्रतिपत्तौ गुरुशिष्यव्यवहारनवक्लृप्तेः ॥ ३ ॥ अतएव न चतुर्थः । "बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन"—इत्येवं प्रतिपादयता भगवता स्पष्टमीश्वरभावव्यतिरेकेणात्मनि जन्ममरण-धर्म्मिजीवात्माभिमानव्यपदेशात् ॥ ४ ॥

नाप्येष पञ्चमः पक्षः । ईश्वरात्मन एकत्वेन सर्वज्ञत्वसर्वशक्तिमत्त्वाद्यसाधारणधर्म्मत्वेन चोपपत्तेर्बहुशक्तित्वाल्पशक्तित्वादिमतां जीवात्मनामीश्वरसामान्यतया ग्रहीतुमयोग्य-त्वात् ॥ ५ ॥

(४) तथा च कोऽयमहंत्वेन विवक्षितः स आत्मा यः स कृष्ण ? इति जिज्ञासायाम्—अवश्यं तावदिह गीताअहं शब्दः कृष्णपर एवेति युक्तं वक्तुम् । प्रत्यगात्मन्येवाहंशब्दस्य वृत्तेः । कृष्णस्यैव च तत्र प्रत्यगात्मत्वात् । किन्तु यत्र सामञ्जस्येनोपपद्यते शास्त्रार्थस्तत्र वक्तुस्तात्पर्य्यमवधीयते । यथा हि—

"अहमस्मि प्रथमजा ऋतस्य पूर्वं देवेभ्यो अमृतस्य नाम ।
यो मा ददाति स इदेव मावदहमन्नमदन्तमद्मि ॥.॥
अहमिद्धि पितुः परिमेधाऽमृतस्य जग्रह । अहं सूर्य्य इवाजनि" ॥.॥

इत्येवमादि श्रुतिवाक्येष्वहंशब्देन तावन्नायं मन्त्रोपदेष्टा व्यक्तिविशेषो विवदयते । तस्य देवेभ्यः पूर्वं प्रथमजत्वासंभवात् । तथा चैतत् प्रथमजत्वं यत्रोपपद्यते सोऽयमयोनिकोत्तरसृष्टिविषयः खल्विह शास्त्रार्थ इति—वक्तव्यम् ।

(५)..........स चायमयोनिकोत्तरसृष्टिक्रम इत्थं श्रूयते—

"आप एवेदमग्र आसुः । ता आपः सत्यमसृजन्त । सत्यं ब्रह्म । ब्रह्म प्रजापतिम् प्रजापतिर्देवान् । ते देवाः सत्यमित्युपासते । तदेतत् त्र्यक्षरं सत्यमिति । स इत्येकमक्षरं, तीत्येकमक्षरं, अम् इत्येकमक्षरम् । प्रथमोत्तमे अक्षरे सत्यम् । मध्यतो ऽनृतम् । तदेतदनृतं सत्येन परिगृहीतं सत्यभूयमेव भवति नैवं विद्वांसमनृतं हिनस्ति । सयत् तत् सत्यम् । असौ स आदित्यः । य एष एतस्मिन मण्डले पुरुषो यश्चायं दक्षिणे ऽक्षन् पुरुषः । तावेतावन्योन्यस्मिन् प्रतिष्ठितौ । रश्मिभिर्वा एषो ऽस्मिन् प्रतिष्ठितः । प्राणैरयममुष्मिन । य एष एतस्मिन् मण्डले पुरुषः । तस्य भूः शिरः । भुवो बाहू । स्वः प्रतिष्ठा । तस्योपनिषदहरिति । अथ योऽयं दक्षिणे ऽक्षन् पुरुषः । तस्य भूः शिरः । भुवो बाहू । स्वः प्रतिष्ठा । तस्योपनिषदहमिति" ॥.॥

(६) अयमर्थः। अब्योनिकायां सृष्टौ ता आपः प्रतिपत्। ता योनिः। तत्र सत्यं रेतः संसृज्यते। सत्यमित्यादित्यो नामार्थः। द्यौः सत्यं, पृथ्वी सत्यं मूर्तत्वात्। अन्तरिक्षमनृतममूर्तत्वात्। द्यावापृथिव्योरग्नी ध्रुवौ आदित्यात्मानौ सत्ये। ताभ्यां योगादुत्पन्नो वैश्वानरोऽग्निः चरत्वान् मर्त्यत्वादनृतम्। वैश्वानरमध्यो ध्रुवद्वयसंघातः स आदित्यः सत्यम्। तदिदं वाक्प्राणमयं यजुर्ब्रह्म। तदिदं रेतोऽप्सु सिक्तं ब्रह्मा जनयत्—त्रयीं विद्याम्-यत्रैषा त्रयी विद्या स प्रजापतिः। स खलु चित्यचितेनिधेयाग्निमयी मूर्तिर्भवति। तत्र प्राणश्चितेनिधेयाग्निः। स हि सर्वाणि भूतानि-अधितिष्ठति। स एव च मुख्यःप्राण इत्युच्यते। मध्ये सन्तं तमनु सर्वतो दिक्षु प्राणा-रश्मि रूपाः प्रथन्ते। सर्वे प्राणा मुख्यमेतं प्राणमेवोपासते॥

अथ वाक् चित्याग्निः प्राणाधारः। ततः पृथिव्यादिपञ्चभूतपिण्डः प्रजायते॥ अथान्नादाग्निस्तृतीयः प्राणस्थानो मनोमयो ऽधिदेवाग्निः। अग्निवाय्वादित्यबृहस्पतिवरुणा अधिदेवाग्निभेदाः। ततो ऽग्नेस्त्रयस्त्रिंशद्देवा उदभवन्। अग्नेरष्टौ वसवः, वायोरेकादशरुद्राः, आदित्याद् द्वादशादित्याः, सन्धिभ्यामश्विनौ। इत्येते त्रयस्त्रिंशत्॥ अथ बृहस्पतेर्विश्वे देवाः। वरुणादाप इति। तेऽमी सर्वे देवाः सत्यमेवैतं मुख्यं प्राणमन्वासज्जन्ते। "मध्ये वामनमासीनं सर्वे देवा उपासते"—इति श्रवणात्। एष एव मुख्यःप्राणो बहुविधप्राणसन्नद्धः सर्वेषां प्राणिनां हृदयगुहामधितिष्ठति। "मनोमयः प्राणशरीरो भारूप आकाशात्मा"—इत्यपक्रुच्छ्रवणात्।

तथाचेदं सत्यं सूर्ये ऽहरित्युक्तमासीत्। तदेवेदमध्यात्मं भिन्नसंस्थं भूत्वा अहमित्याख्यायते। सोऽयमहं पदार्थः पञ्चेन्द्रियदेवगणोपासनाधारभूतो देवेभ्यः पूर्वमेव ऋतस्यास्यापोरूपस्य प्रथमजा भवति।

तं चाहं नामानं सत्यपदार्थं दिव्यो ऽसावहर्नामा सत्यपदार्थो भुङ्क्ते। अथदिव्यमहर्नामानं सत्यपदार्थं जीवात्मायमहंनामा सत्यपदार्थो भुङ्क्ते। अहमन्नमहभोक्तृ। अहरहरन्नमहं भोक्ता[1]। इति हि मंत्रतात्पर्य्यम। तत्रायमहं शब्दो व्यक्तिविशेषनिरपेक्षो जीवात्मसामान्यपर इति विज्ञायते॥

(७) एवमिहापि गीतायां यत्रार्थसमन्वयः सामञ्जस्येनोपपद्यते तत्र तात्पर्य्यं नेयमिति कृत्वा गीतोपदेशकदेवकीपुत्रप्रत्यागात्मप्रतीकोपनीतजीवसामान्याव्ययपुरुषाभिन्नस्वप्रतिपन्नपरमात्माऽव्ययपुरुषे ऽहं शब्दस्य वृत्तिरिति मन्यामहे। स च परमप्रजापतित्वात् तस्य च सत्यत्वेन निर्णीतत्वात् सत्य इति सिद्धान्तः॥.॥

---

[1] अनुत्तणसेकाय रसा अन्यस्मिन् संपद्यते।

(८) अनिरुक्तश्च सर्वश्चेति प्रजापते द्वैरूप्यात् तदभिन्नतयैव सत्योऽपि द्वेधा प्रतिपद्यते—हृद्यसत्यश्च, त्रिवृत्सत्यश्चेति भेदात् । तत्रेदं हृद्यं सत्यममृतम् । अथेदं त्रिवृत् सत्यमत्रैव हृदये ऽमृतसत्यस्यावरणं विद्यात् । अपि च षोडशकलः पुरुषो हृद्यः । स एव च व्यक्ताव्यक्तप्रकृतिविशिष्टः सर्वविकारप्रपञ्चसहितस्त्रिवृत् सत्यः । तयोरेष हृद्यो योगमायाप्रत्यास्तरणादप्रकाशइत्यञ्जसा कृष्णो भवति । आह्नो संस्कृतभाषायां कृष्णशब्दस्य वर्णविशेषरत्वेऽपि छन्दोभाषायां तस्याप्रकाशार्थपरतया निर्णीतत्वात् । अतएवाग्नेरिद्धारूपेणाप्रकाशवृत्तौ कृष्णशब्देन व्यपदेशः श्रुतौ श्रूयते । —"कृष्णो ऽस्याखरेष्ठो ऽग्नये त्वा जुष्टं प्रोक्षामि"—इति । कृष्णो वै रूपं कृत्वा प्राविशस्त्वं वनस्गतो निति" अप्रकाशत्वं चेह बाह्येन्द्रियापरिग्रह्यत्वं विवक्षितम् । द्विविधो ऽप्ययं सत्योऽर्थ आत्मैवेष्यते । तयोरस्ति कश्चित् सत्योऽर्थः प्रकाशः । अस्ति च कश्चिदप्रकाश—इति । तथाहि—त्रिवृत् तावत् सत्यममृते हृद्ये मनोमये सत्ये स्थितमित्थं श्रूयते—

"एष प्रजापतिर्यद्धृदयम् । एतद् ब्रह्म । एतत् सर्वम् । तदेतत् त्र्यक्षरं हृदयमिति । हृ-इत्येकमक्षरं, द-इत्येकमक्षरं, यमित्येकमक्षरम् । इति । तद्वैतदेव तदास सत्यमेव । स यो हैतं महद्यक्षं प्रथमजं वेद सत्यं ब्रह्मेति । जयतीमान् लोकान् । सत्यं ह्येव ब्रह्म । आप एवेदमग्र आसुः । ता आपः सत्यमसृजन्त । सत्यं ब्रह्म । ब्रह्म प्रजापतिम् । प्रजापति देवान् । ते देवाः सत्यमेवोपासते । तदेतत् त्र्यक्षरं सत्यम् । इति । स इत्येकं, तीत्येकं, यमित्येकम् । प्रथमोत्तमे अक्षरे सत्यम् । मध्यतोऽनृतम् । तदनृतमुभयतः सत्येन परिगृहीतं सत्यभूयमेव भवति । नैनं विद्वांसमनृतं हिनस्ति । तद्यत् तत् सत्यम्—असौ स आदित्यः । मनोमयोऽयं पुरुषो भाः सत्यस्तस्मिन्नन्तर्हृदये । स एष सर्वस्येशानः, सर्वस्याधिपतिः, सर्वमिदं प्रशास्ति यदिदं किञ्च" । इति । (शत-१४।८।४-७) हृदये ह्येव सत्यं प्रतिष्ठितं भवति" (बृ० उ० ३।६।२३) अपि च श्रूयते—

"द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चैवामूर्तं च । मर्त्यं चामृतं च । सच्च त्यं चेति । सत एष रसो य एष तपति । अथ त्यस्यैषरसोय एष एतस्मिन् मण्डले पुरुषः । अथ नामधेयं सत्यस्य सत्यमिति । प्राणा वै सत्यं तेषामेष सत्यम् । (बृ० उ० २।३।६।) इति ॥

आत्मा प्राणाः पशवः—इतीत्थं त्रिधातुके प्रजापतौ पशुग्रामापेक्षया प्राणानां सत्यत्वमथानूचीनप्राणापेक्षया मुख्यप्राणस्य सत्यत्वमिति भावः ॥

अपि च श्रूयते—

"त्रयं वा इदं—नाम, रूपं, कर्मेति । तदेतत् त्रयं सदेकममृतमात्मा । आत्मो एकः सन्नेतत् त्रयम् । तदेतदमृतं सत्येन च्छन्नम् । प्राणो वा अमृतम् । नामरूपे सत्यम् । ताभ्यामयं प्राणश्छन्नः ।" (बृ० उ० १।६।१)

तदेतदमृतसत्याच्छादकं त्रिवृत्सत्यं योगमायाशब्देन गीतायामाख्यायते । तथाह—"नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः"—इति । तत्र योगप्रतियोग्यनुयोगिरूपाभ्यां योगसिद्धरूपेण चैतस्या योगमायायास्त्रिवृत्संज्ञोपपद्यते । तया च योगमायया नवोत्पादितेनानृतरूपेण दर्शितस्य कारणस्यात्मनः प्राक्तनं स्वमखण्डं रूपं निगूढं भवतीति न प्रकाशते । यथा खल्वेकस्यैवाग्नेः कल्पितखण्डरूपयोः प्राणापानयोर्यागजं वैश्वानररूपं तापानाहतशब्दाभ्यां शरीरे प्रकाशते ।

मौलिकं त्वग्ने रूपं वनस्पत्यादिप्रविष्टं तत्राभिव्याप्तं नेद्धा प्रकाशते । एवमयमव्ययो—नामात्मा विश्वप्रविष्टः सर्वत्राभिव्याप्तो नतरामिद्धा प्रकाशते तस्मात् कृष्णो नामाख्यायते । इति भाव्यम् । स इत्थमयमध्यात्मं सत्ये हृदये निगूढ इति कृष्णो व्याख्यातः ।।

अथान्यस्तु तत्रैव विश्वमयस्त्रिवृत् सत्यः शुक्लं रूपम् । एवमपि—"यावत्तित्तं तावदात्मेति" सिद्धान्तात् स ह्ययमेवायं कृष्णो नवभिः स्वरूपैः क्रमेणावतरन् पर्याप्नोति । तथा च कृष्णावतारत्वान्नवसु तेषु सत्यावतारेष्वप्ययं कृष्णशब्दो ऽनुवर्तते – इतिभाव्यम् ।

(९) अत्राह नैतदपि शक्यं विज्ञातुम् । सत्यस्येश्वराव्ययपुरुषस्याहंत्वेनाभ्युपगमे ऽप्यनिस्तारात् । तथाहि—यस्तावदसौ परमात्माव्ययपुरुषोह्ययः कृष्णः स खलु विश्वशरीरोऽप्यशरीरः शरीरोपहितो विवक्ष्यते । अथ गीतायां त्वेष भगवान्—"इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्"—इत्येवं प्रतिजानीते । स चैष शरीरिणि कस्मिंश्चित् कृतो व्यपदेशः संभाव्यते । तत्त्वयमीश्वराव्ययः स्वयमव्ययं कस्मै चिज्जीवाय ब्रूयादिति संभवति । अत एव चायमस्मच्छब्दो गीतायामवश्यं जीव शरीरिपरत्वेनैवावधीयते । नत्वशरीरेश्वरात्माभिप्रायेण । अन्यथा यद्ययमत्रेश्वरीयविशुद्धाव्ययपरतया विवक्षितो ऽभविष्यत् न स तर्हि—"बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन" इत्येवं तव ममेति भेदेनाख्यनयिष्यत् । अव्ययपुरुषस्य सर्वत्रैकत्वेनोपपत्तेः । इति चेत्—

(१०) अत्र ब्रूमः । सत्यमिदमशरीरं विशुद्धाव्ययमात्रं खलु गीतायामहं पदार्थ इति जानीमः । अनुपसृष्टस्थानो वाऽयमुपसृष्टस्थानो वा यथाकंचिदुपचरितोऽप्येष सर्वथा विशुद्ध एवाव्ययोऽयमहंपदार्थतया नेयः । यत्रोपसृष्टस्थानो व्यवहारस्तत्रापि तदुपसर्गोपहिते सत्ये बुद्धिः कर्तव्या । अत एव च पुरायुगे विवस्वत संप्रदानकोपदेशकाले यच्छरीरावच्छिन्नो ऽयमव्यय आसीत् स तदा तच्छरीरप्रत्यगात्मप्रतीकविधयैव प्रवर्त्तमानः कृष्णो ऽव्ययात्मा विवस्वते विज्ञानमुवाच । अथेदानीं पुनरयं देवकीपुत्रे तच्छरीरावच्छिन्नो भूत्वा तच्छरीरप्रत्यगात्मप्रतीकविधयैव तमर्जुनं प्रत्युपदिदेश । तत्र शरीरयोरुपाधित्वादविवक्षयैवायमभेदं नाटयति—

"इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्"—इति । सेयं जहदजहल्लक्षणा द्रष्टव्या । मथुरायां बालो दृष्टो द्वारिकायां वृद्धो दद्दशे, तत्वमसीत्यादिषु भागत्यागलक्षणया भेदाभेद-व्यवहारवत् । स यद्येष उभयोः शरीरी विवक्षितः स्यात्तर्हि शरीरभेदेनोभयोर्व्यक्त्यो-र्भेदादयमभेदव्यपदेशो नोपपन्नः स्यात् । अपि च शरीरपरिग्रहपरित्यागलक्षणस्याव्यय-धर्मस्य प्रतिशरीरं साम्येन प्रवृत्तिरित्यावेदयितुं तव च मम चेति शरीरभेदोपन्यासः । तेनैतयोरपि कृष्णार्जुनयोर्भिन्नशरीरोपहिते क्वचिदभिन्नेऽव्यये बुद्धिः पर्य्यवतिष्ठते तस्मान्नानुपपत्तिः

(११) अपर आह । ईश्वरस्य च जीवानां च बहवः प्रातिस्विका धर्मा भिद्यन्ते । तेऽवश्यं तदुपसर्गयोरेव धर्माःस्युः । अव्ययधर्माणामीश्वरे जीवेषु च साम्येनोपपत्तेः । एवं सति य एष विशुद्धोऽव्ययो, यो वायं विश्वोपसृष्ट ईश्वरो, ये चैते शरीरोपसृष्टा जीवा तेऽमी अवश्यं भिन्नाः स्युः । विशेषणभेदेनैषां भेदोपपत्तेः ॥तेष्वयमहंशब्दो गीतायां नाविशेषेण क्षमते वर्तयितुम् । प्रवृत्तिनिमित्तस्यैकस्यानुपपत्तेः ॥ प्रवृत्तिनिमित्तभेदेत्वने-कार्थत्वापत्तिः । न चैतदस्ति । गीतायां सर्वत्राहंशब्दस्याविशेषेणोपचारदर्शनात् । तथा चेयमुत्तिष्ठते जिज्ञासा अव्ययो ऽयमनुपसृष्टस्थानोऽहंपदेन विवक्ष्यते, उपसृष्टस्थानो वा । उपसृष्टोऽप्येष विश्वोपसृष्ट ईश्वरो विवक्ष्यते, शरीरोपसृष्टो जीवो वा । सर्वथापि नोपपद्यते । तत्तद्विरुद्धधर्मेणाप्युपचारदर्शनात । तथाहि न तावच्छरीरोपसृष्टो जीवात्माऽहं पदार्थः । "ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः" । इत्येवं जीवनिरूपितांशित्ववतो जीवा-तिरिक्तस्य ममशब्देन विवक्षितत्वात् । १ ।

अथ नेश्वरोऽयं विश्वोपसृष्टोऽहंपदार्थः ।

"बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन ।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप ॥
बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते ।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥
एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च ।
कर्त्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम् ॥

इत्येवमादिषु जन्ममरणधर्मिणो जीवात्मन एवास्मच्छब्देन विवक्षितत्वात् ॥

अथ नानुपसृष्टो ऽयमव्ययात्मा ऽहंपदार्थः ।

"समो ऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्यो ऽस्ति न प्रियः ।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति" ॥

इत्येवमस्याऽव्ययात्मनः सर्वभूतोपसर्गेणाख्यातत्वात् ॥ तस्मात् संदिग्धोऽयमनैकान्तिकोऽहं पदार्थः। इति चेत्।

(१२) अत्र ब्रूमः वासुदेवोऽयं देवकीपुत्रः कृष्ण एवैको गीतायां प्रत्यगात्मतया भवत्यहं पदार्थ इति न प्रवृत्तिनिमित्तं भिद्यते। प्रत्यगात्मन्येवाऽहंशब्दस्य वृत्तेर्निरूढत्वात्। प्रत्यगात्मा तु शरीरविशिष्टो नेष्यते। अपि तु शरीराभिमानी शरीरातिरिक्तः कश्चिदात्मा। स चायमात्मा भूता[१] त्मानामेत्येके पश्यन्ति ॥—भूतात्मनोऽधिष्ठाता क्षेत्र[२] ज्ञोऽयमात्मेत्यन्ये। क्षेत्रज्ञात्मनो ऽतिरिक्तोऽयमक्षर[३] आत्मा इति परे। तत्रायं भगवानाह।

"यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः" ॥ इति ॥

तथा चैताभ्यां क्षराक्षराभ्यामुपरितनः कश्चिदव्ययपुरुषोऽयं प्रत्यगात्माऽहं पदार्थ इति तु भगवद् गीता शास्त्रार्थः। स हि सत्यः। अन्येषां सर्वेषामात्मनां तदाश्रयेण वृत्तेस्तदधीनत्वात्। सोऽयमनुप सृष्टस्थानो वा स्यात्, उपसृष्ट स्थानो वा स ईश्वरस्थानो वा स्याज्जीवस्थानो वा। भूतात्मस्थानो वा स्यात् क्षेत्रज्ञ स्थानो वा। सर्वत्रैव तु निर्विशेषं स गीतायामहंशब्देनाभिधीयते—इति नानुपपत्तिः। शब्दव्यवहारकाले तत्तदुपाधिव्यपेक्षायामपि सर्वत्र निरुपाधेरव्ययस्यैवाहं त्वेन.........विवक्षणीयत्वात् ॥ अत एव च—"वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पाण्डवानां धनञ्जयः। मुनीनामप्यहं व्यासः कवीना मुशना कविरित्येवमादयो विज्ञानोपदेशा उपपद्यन्ते ॥ इति भाष्यम् ॥

(१३) अपर आह। यदि सत्यो ऽव्ययपुरुषः प्रत्यगात्मत्वादहंपदार्थः, यदि च तस्यानु[१] पसृष्टे, विश्वो[२] पसृष्टे, शरीरो[३] पसृष्टे चाविशेषात् प्रयोग उपपद्यते स तर्हि शरीरविशिष्टोऽयं देवकीपुत्रो वासुदेव एव गीतायां सर्वत्राविशेषेणाऽहं पदार्थः कस्मान्नेष्यते। शरीरस्योपलक्षणतया प्रतिपत्तौ तस्यैव जीवसामान्ये वा, ईश्वरे वा, विशुद्धाव्यये वा प्रयोगायोपनेतुं शक्यत्वाद्। इति चेत् सत्यम्। संभवेदेवं यदि शरीरमपरिवर्तनीयमात्मनि नित्यं स्यात्। सत्यपि शरीर सामान्योपपत्तिनित्यत्वे शरीरविशेषस्य नित्यत्वाभावात् तस्य कार्यत्वं नियम्यते। कारणे तु सत्यशब्दं वक्ष्यामो न कार्ये। सत्यस्त्वेष भगवान् कृष्णो न कार्य्यपदार्थत्वेनोपनेतुं युज्यते। तथा च यथा हिरण्यप्रभवेषु हिरण्यमयेष्वनेकेष्वाभरणेष्वविशेषादयं हिरण्यशब्दोऽनुवर्तते। कार्यपर्यायाणां त्वन्योन्यावस्थापरिवर्तनेऽपि न पूर्वपर्य्यायशब्दो ऽन्यस्मिन् पर्य्यायेऽनुवर्तते। एवमिहापि सत्याव्ययविवर्तरूपे ईश्वरे जीवे चायमात्मनि सत्यशब्दो युक्तमनुवर्तते। देवकीपुत्रस्तु

वासुदेवो नेतरस्मिन् जीवे ईश्वरे वा शक्यो व्यपदेशायोपनेतुम् । जीवप्राणविशेषस्य तस्येतरसर्वविधजीवप्राणवत् कार्यपर्यायतयाऽभ्युपगम्यत्वादिति भाव्यम् । तेनायं सत्य एवात्माव्यय पुरुषो गीताकृष्णः प्रतिपत्तुं युज्यते न तु यथाकथंचिच्छरीरविशिष्टो मनुष्यो गीतायामहंशब्देनाभिप्रेयते—इति सिद्धम् ।

(१४) अस्यैव च सत्यकृष्णस्यायमवतारो भवति य एष गीताशास्त्रोपदेशको योगेश्वरो भगवान् वासुदेवः कृष्ण उच्यते—इति महर्षयः पश्यन्ति ।

अत एव च गीतायां क्वचिदत्यल्पं देवकीपुत्रवासुदेवकृष्णाभिप्रायेणाप्यस्मच्छब्दः प्रयुक्तो दृश्यते । यथा—

> १—"बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन ।
> २—ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः ॥
> ३—ये मे मतमिदं नित्यं नानुतिष्ठन्ति मानवाः ।
> ४—इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे" ॥

इत्यादिषु । एतावता देवकीपुत्रस्य गीताशास्त्रोपदेशकत्वसिद्धावपि गीतानिरूपयितव्याहंपदार्थत्वं नाध्यवसीयते ।

> "मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनञ्जय ।
> मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥
> मम योनिर्महद् ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम् ।
> तासां ब्रह्म महद् योनिरहं बीजप्रदः पिता" ॥

इत्येवमादिषु—अस्मच्छब्देन विवक्षितार्थानां देवकीपुत्रेऽस्मिन् शरीरावच्छिन्ने विवक्षानुपपत्तेः । तस्मात् सत्यो ऽयमव्ययपुरुषो गीताव्याख्येयाहंपदार्थत्वात् गीताकृष्ण इति स्थितिः ।

॥ इति गीताप्रयुक्तस्यास्मच्छब्दस्य विवक्षितोऽर्थः ॥

२—गीतोपनिषदो विज्ञानशास्त्रत्वसिद्धान्तः ।

जगत्-जीवः-ईश्वरः-इत्येवं त्रिकाण्डत्वं प्रमेयस्याभिमन्यमानानाममीषां दार्शनिकविवेचकानामीश्वरपरमत्वं प्रतिपत्तिसिद्धान्तः । अथ-जीवः-परं ब्रह्म-इत्येवं तु त्रिकाण्डत्वं

प्रमेयस्य समीक्षमाणानामस्माकं वैज्ञानिकविवेचकानामीश्वरमध्यमत्वं प्रतिपत्ति सिद्धान्तः। निर्धर्म्मकत्वसर्वधर्म्मोपपन्नत्वाभ्यामात्मद्वैविध्ये स्थिते सर्वधर्म्मोपपन्नस्याल्पमात्रत्व महामात्रत्वाभ्यां पुनर्द्वैविध्ये प्रमेयत्रिकाण्डतया विशिष्योपपन्नत्वात्। असंज्ञत्वान्तःसंज्ञत्व ससंज्ञत्वरूपैरात्मनस्त्रैविध्योपपत्त्या जडजगतां जीवेष्वेवान्तर्भावसंभवाच्च !! 'अथवा ईश्वरात्मप्रकृतिजातस्य बाह्यजगतस्तावदीश्वरे तथा जीवात्मप्रकृति जातस्यान्तर्जगतो जीवेष्वन्तर्भावः प्रतिपत्तव्यः। तथा च नेदं जगज्जीवेश्वराभ्यां व्यतिरिच्यते। परपुरुषस्त्वव्ययस्त्रेधा व्यवतिष्ठते। विश्वातीतो, विश्वात्मा, विश्वं चेति। तत्र चेतनत्वाचेतनत्वाभ्यां जीवजगद्रूपाभ्यां विभक्तमिदं विश्वं तावदन्यद्रूपम्। विश्वात्मात्वयमीश्वरोऽन्यद्रूपम्। ताभ्यामतिरिच्यते विश्वातीतस्तृतीयं रूपम्। तेनेदमव्ययपरमत्वं वैज्ञानिकः पन्थाः' ॥.॥

तथा चेत्थं प्रतिपत्तिवैलक्षण्ये खल्वेतस्या गतोपनिषदो विज्ञानशास्त्रत्वं प्रतिपत्तव्यं न तु दर्शनशास्त्रत्वम्।

"अव्यक्ताद् व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे ।८।१८।
परस्तस्मात्तु भावोऽन्यो ऽव्यक्तो ऽव्यक्तात् सनातनः ॥
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति ।८।२०।
सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम् ॥९।७॥
अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम्।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥८।२१॥
पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया।
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम् ॥८।२२॥
न च मां तानि कर्म्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्म्मसु ॥९।९॥
मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनाऽनेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते" ॥९।१०॥

इत्येवमीश्वरशरीरे जीवशरीरे वाऽधितिष्ठतः परपुरुषस्य निर्धर्म्मकस्याव्ययस्य प्रकृतिद्वारा जगदुद्भावयितुरीश्वरजीवाभ्यां विभिन्नरूपेणाख्यानात्। अस्या गीतोपनिषदो विज्ञानसिद्धान्ते पक्षपातदर्शनात्॥

॥ इति गीतोपनिषदो विज्ञानशास्त्रत्वसिद्धान्तः ॥

विशुद्धाव्ययस्य गीताकृष्णत्वनिरुक्तिः ।

गीताप्रयुक्तानां अव्ययादीनामेकार्थकानामस्मच्छब्दानां विभिन्नानेकतात्पर्य्यकत्वानुभवात् पदार्थसामञ्जस्यं नास्तीति वाक्यार्थानुगमानुपपत्तौ तेषां सामञ्जस्येन स्वारसिकत्वोपपत्त्यर्थं त्रिविधस्तावत् कृष्णः पूर्वं व्यवस्थापितः—मानुषः, ईश्वरो ऽव्ययश्चेति ।

१–मानुषकृष्णः[1] । जीवः[2] । अल्पगुणः[3] । निरुक्तः[4] । योगेश्वरः[5] । वासुदेवः[6] । गोकुलविहारी[7] चेति तुल्योऽर्थः ।

२–दिव्यकृष्णः[1] । ईश्वरः[2] । महागुणः[3] । अनिरुक्तः[4] । परमेष्ठी[5] । त्रिसत्यः[6] । गोलोकविहारी[7] चेति तुल्योऽर्थः ।

३–गीताकृष्णः[1] । अव्ययसत्यः[2] । निर्गुणः[3] । [illegible][4] । अक्षरः[5] । पुरुषोत्तमः[6] । हृदयविहारी[7] चेति तुल्योऽर्थः ।

तत्र मानुषेश्वरयोः क्षुद्रविराट्प्रजापति, महाविराट्प्रजापत्योरल्पज्ञत्वसर्वज्ञत्वादिभिर्वैधर्म्यादेकतरस्यास्मच्छब्देन परिग्रहे परस्यापरिग्रहात् तेषु त्रिषु स्थानेषु सामञ्जस्यं नोपपद्यते इतिकृत्वा अव्ययपरत्वमेतस्यास्मच्छब्दस्याभ्युपगम्यते । अव्ययस्यैतस्य विशुद्धाव्ययस्थाने, ईश्वराव्ययस्थाने, मानुषाव्ययस्थाने च स्वारस्येनोपनेतुं शक्यतया सामञ्जस्यसम्भवात् । तथा च वासुदेवलक्षणमानुषाव्ययकृष्णस्थाने तमव्ययमात्मानं प्रथमतो निरूप्य परमेष्ठीश्वरलक्षणदिव्यकृष्णस्थाने सोऽव्ययो निरूपितः । अथेदानीं विशुद्धस्थाने तमव्ययमात्मानं निरूपयितुमयमपरः संदर्भो ऽनुक्रम्यते । अत्रेश्वरमानुषोभयसाधारणो ऽयमव्ययः परमात्मा विश्वविकासाय प्रवर्तमानो ऽस्तीति प्रदर्श्यते—

१—आनन्द-विज्ञान-मनोभिस्त्रैधातव्या ज्योतिर्म्मयी विद्याकला आत्मभक्तिरात्मनः प्राजापत्यसंस्थानहेतुः ।

२—मनः-प्राण-वाग्भिस्त्रैधातव्या वीर्य्यमयी कर्म्मकला प्राणभक्तिरात्मनोऽग्न्याहुतियज्ञहेतुः ।

३—वागापो ऽग्निभिस्त्रैधातव्या शुक्रमयी अर्थकला पशुभक्तिरात्मनो भोगायतनशरीरहेतुः ।

एतमात्मभिर्नवभिरेकत्वमापन्नो नवसंख्यालक्षण आत्मैवाव्ययमृतधातुभिर्नवभिरात्मप्राणपशुभक्तिभिर्गर्भी सत्यप्रजापतिलक्षण आत्मा प्रतिपत्तव्यः ॥

विद्याघनः, कर्म्मघनो ऽर्थघनश्चायमव्ययश्चिद्घन इतीष्यते । श्वोवसीयस लक्षणमनोमयो ऽयमव्ययः कामयय एवोपपद्यते । अन्तश्चिति बहिश्चिति चैष कामयते । पुष्पाचचायादिवान्तश्चितिवशादतो ऽव्ययाद् विद्याकर्म्मार्थाः प्रादुर्भवन्ति । तेषां च बहिश्चितिवशाद् विद्याकर्म्मोपचितो ऽक्षरपुरुषः, अर्थोपचितः क्षरपुरुषः संपद्यते । ताभ्यां चायमव्ययपुरुषः संपन्नतमो भवति अव्ययश्चिनुते, अव्यये चीयते, अव्ययश्चीयते-इति कृत्वाऽयमव्ययश्चिदात्मा नाम ।

तत्र विद्याकर्म्मार्थाश्चिता भवन्ति । तैरेव त्रिभिर्धर्मैर्विद्याकर्म्मार्थैरभिसंपन्नतमस्तैरेव स्वरूपं धारयमाणोऽयमक्षरः पुरुषो धर्म्मी भूत्वा महताक्षरेणोपादानेन विश्वं सृजति । "तत्सृष्ट्वा तदेवानु प्राविशत्" इति निगमाद्विश्वचरोऽयमव्ययोऽक्षर क्षरोपेतस्त्रिपुरुषः षोडशीपुरुषो विश्वात्मा विश्वस्मिन् सर्वत्रानुस्यूतो ऽनभिव्यक्तो ऽस्तीति "गूढोत्मा" इत्याख्यायते ।

तस्यैतस्यानभिव्यक्तस्यात्मनः स्थूलशरीरं, सूक्ष्मशरीरं, कारणशरीरमिति त्रिशरीरं योगमायाकल्पितं बाह्यरूपं संख्यात्रिभागोक्तबाह्यरूपत्रिसत्यमिवावरणं भवति । तदपगमे ऽन्तर्निगूढं विद्याकर्म्मार्थलक्षणत्रिसत्यमयमव्ययरूपं प्रादुर्भवति । बाह्यरूपेण प्रत्यावरणादनभिव्यक्तो ऽस्तीति कृत्वेवायमव्ययपुरुषः कृष्णशब्देन व्यपदिश्यमानो गीताया महं पदार्थः । इति प्रतिपत्तव्यम् । अनभिव्यक्तो ऽयमहं पदार्थो गीताकृष्णः सत्यात्मा । तत एवैते विश्वभावा अभिव्यक्ता भवन्तीति विदुषां परामर्शः ।

अभिव्यक्तिं गच्छता भावस्याभिव्यक्तौ यथा कथंचित् प्राग्भावादन्यथाभावाभ्युपपत्तिः कार्य्यभावः । प्राग्भावः कारणं नाम । उत्तरभावः कार्य्यं नाम । कारणभावस्य कार्य्यभावाभ्युपपत्तये बलग्रहः सञ्चरः । कार्य्यस्य कारणभावाभ्युपपत्तये बलग्रहः प्रतिसञ्चरः । कारणमेव कार्य्यम् । कार्य्यमेव कारणम् । बलविशेषातिरेकस्तु कारणे कार्य्यत्वव्यवहारहेतुः । कारणभावं ब्रह्मेत्याह । कार्य्यभावं कर्म्मेत्याह । "कर्म्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भव" मित्याह अक्षरस्त्वेष भगवान् कृष्णो विज्ञायते ।

"त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
त्वमव्ययः शाश्वतधर्म्मगोप्ता सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे" ॥

इति स्तुत्यक्षरस्वारस्येन तथैवावगमात् । ब्रह्मणि कर्म्म, कर्म्मण्यकर्म्म । नैतदुभयं भिद्यते । ब्रह्मैव कर्म्म, कर्म्मैवाकर्म्म । द्रष्टुः पुरुषस्येयं दृष्टिर्भिद्यते न भावो भिद्यते । यद् ब्रह्म तत् कर्म्म । यत् कर्म्म तद् ब्रह्म । एकस्यैव सतो ऽर्थस्यैते द्वे रूपे भवतः ।

"एकं वाइ दं विवभूव सवम्" इति सिद्धान्तः । श्रूयते चैवं मृद् घट तन्तु पटादिस्थाने— "वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यमि" ति ॥ इति त्रिशुद्धाऽव्ययस्य गीताकृष्णत्वम् ॥

३—गीताकृष्णस्य शून्य-पूर्णस्थानविवेकः ।

*त्रिसत्यं ह्येदं विश्वरूपं भवति । तद्यथा—संख्याविभागे (४) (५) (४५) नानैकत्वयोगसिद्धं पञ्चेत्येकत्वस्थानं संख्यानमेकं सत्यम्[१] । नानैकत्वयोगसिद्धं चतुष्टयमिति दशकस्थानं संख्यानं द्वितीयं सत्य[२] । तदुभययोगजं पञ्चचत्वारिंशत् संख्यानं तृतीयंसत्यम्[३] । एवं भूत विभागेऽपि ज्ञानं सत्यं, कर्म्मसत्यं, तदुभयकृतान्तरोऽयमर्थस्तृतीयं सत्यम् । ऋतान्यनेकान्येकं सत्यमात्मनि धत्ते । यथा पञ्चेत्येका संख्या भवत्येकं सत्यम् । तत्रान्तर्निगूढानि पञ्चैकत्वानि पञ्च ऋतानि । ऋतानां प्रवर्ग्यत्वे पुनस्तदवच्छेदादिदं सत्यमपि तत्तदृतावच्छिन्नानि नाना रूपाणि धत्ते । द्वयं त्रयं वा, एकमेकं वेति । सर्वाणि तु ऋतानि क्रमेण गर्भेकृत्वा पुनरेकं सत्यं भवति । तदेतद् द्वैविध्येन पश्यामः ।

द्विविधा ह्येमे विश्वभावाः कल्पन्ते—भातिसिद्धा अन्ये, सत्तासिद्धा अन्ये । संख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागादयो भावा भाति सिद्धाः । भात्याश्रयत्वाद् भाति—सत्तयैव ते सत्तावन्तो भवन्ति । अथाकाशवायुज्योतिरप् पृथिव्यन्नादयो द्वादशभूतभावाः सत्तासिद्धाः । सत्तामूलकमेवैतेषां भानमुपपद्यते । इत्थं द्वैविध्ये भातिसिद्धायां संख्यायां तावन्नानैकत्वयोगसिद्धं नवत्वमिति किञ्चिद् घनसंख्यानंसर्वासां संख्यानां मूलभूतं सत्यं रूपं प्रजापतिवत् सा प्रतिष्ठा नानैकत्वसंख्यानामृतानाम् । ततः प्राक् पृथगिव "नासदासीन्नो सदासीत्" किञ्चिदपि संख्यारूपमितिकृत्वातदिदं शून्यस्थानं शून्यविन्दुना प्राग् निर्दिष्टेनाभिनीयते (०९–इति) विशिष्यैतदज्ञेयमचिन्त्यमपि शून्यं रूपं विरुद्धस्वभावयोस्तमः प्रकाशयोस्तम इव पूर्णरूपप्रतिद्वन्द्वितया कथंचिदभ्युपपद्यते । तदेवैतदिह शून्यस्थानं विन्दुनोपास्यते ।

अथैतस्मान्नानैकत्वघनसंख्यालक्षणात् सत्यात्मनो नवत्वात् क्रमशः प्रवृक्तानि तान्येकत्वानि संसृज्य संसृज्यान्यान्यन्यानि सत्यरूपाणि जायन्ते । अयमेक अयमेक इति द्वयम् । अयमेक अयमेक अयमेक इति त्रयम् । इत्येवं पूर्वस्मात् सत्यात् प्रवृक्तानीमान्यपूर्वाणि सत्यानि

*तस्यैकस्य सत्यस्य सतो विभवाय द्वे स्थाने भवतः—शून्यमन्यत् पूर्णमन्यत् । शून्यमिति खं ब्रह्म । पूर्णमिति कं ब्रह्म । कं द्विविधम्—ऋतं च सत्यं चेति । ऋतं वयोऽन्नम् । सत्यं वयोनाधोऽन्नादः । सत्यान्यपि कानिचिदन्यसत्यादरे प्रविष्टानि तत्सत्यापेक्षया ऋतानि भवन्ति ॥ ऋतं च सत्यं चेदं विश्वरूपम् ॥

भवन्ति । तानि शून्यस्थाने सन्निविशन्ते । तद्वशाच्च तत्तत्प्रवृक्तस्वरूपावच्छेदेन भिन्नं भिन्नं सत्यमुपजायते ।

तेनेदं शून्यं स्थानं क्रमेणान्यदन्यत् पूर्णं रूपं संभवति । तथा च परावर भेदाद् द्वे द्वे श्रुत गर्भितसत्यत्वात् पूर्णे अव्यये अन्योन्यं संसृज्यते सा सृष्टिर्विश्वरूपम् । तयोश्च "पूर्णमदः" पूर्वरूपमेकं सत्यम् । अथ पूर्णं चेदमुत्तरं रूपं द्वितीयं सत्यम् । तयोश्च संयोगजं तृतीयं सत्यम् । यथा (४५) चतुष्टयमिति दशकस्थानीयमेकं सत्यमुत्तरं रूपम् । पञ्चकं त्वेक स्थानीयं द्वितीयं सत्यं पूर्वं रूपम् । अथ योगज सृष्ट्या पञ्च चत्वारिंशदिति तृतीयं सत्यमित्येवं क्रमेण सर्वत्र विद्यात् । अन्ततः पुनरशेषैकत्वोदञ्चने प्राक्तनमशेषैकत्वघन लक्षणं नवत्वमिति पूर्णरूपं शून्यस्थानाय कल्पते । अशेषाणामेकत्वानां पूर्णोदञ्चनात् ॥ अथेदं प्राक्तनं शून्यस्थानं नवत्वलक्षणपूर्णरूपाय कल्पते । तदुक्तम्—

"पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते" ॥ इति ।

तथाहि—नवत्वसंख्यासत्योदरतः सर्वेषामेकत्वानामुदञ्चने नवत्व संख्यासत्यमेवावशिष्यते । किन्तु स्थानं विपर्य्येति । पूर्वमेकत्वस्थानं पूर्णमासीद्दशकंशून्यम् । अथेदानीं सर्वेषामेकत्वानामृतानां सत्यादुदञ्चने सतोदमेकत्वस्थानं शून्यतामेति । यत्तु दशकस्थानं शून्यमासीत्तदिदं पूर्णं समपद्यत इति विशेषः । तथा चैष प्रस्तारो भवति—

आत्मा	०	६	
विश्वम्	१ २ ३ ४	८ ७ ६ ५	१८ २७ ३६ ४५
विश्वम्	५ ६ ७ ८	४ ३ २ १	५४ ६३ ७२ ८१
आत्मा	६	०	

अत्र शून्यपूर्वकं नवकं सत्यमित्यादौ विश्वस्यात्मरूपमासीत् । शून्योदयन्तु नवकं सत्यमित्यन्ते विश्वस्यात्मरूपं समपद्यत । तदेतदुभयं विश्वातीतमात्मनो विशुद्धरूपमुपासीत ।

अथैतदुभयावस्थातिरिक्तानि तु मध्यमानि सर्वाणि त्रिसत्यरूपाणि योगमायासृष्टिमयत्वाद्विश्वसंज्ञानीति विद्यात् । एकद्वित्रिचतुरादयश्चेहोत्पन्नाः सत्या विश्वभावाः संसर्गापवर्गाभ्यां पुनर्नानाविधान् सत्यभावान् कल्पयन्ति । यथा सप्तकाष्टकयोर्योगादिह योगमायाजन्यं पञ्चदशकं सत्यम् । षट्त्वयोर्योगाद् योगमायाजन्यं द्वादशत्वं सत्यम्—इत्यादि ।

असीमत्वादमिते भावे मिति प्रयोजकं बलं महामाया । यत् प्रमितं तद्दतगर्भितया तद्दतापेक्षया सत्यं नाम । महामायावशात् प्रमितेऽप्यखण्डे सत्ये नाना खण्डप्रयोजको बलव्यूहो योगमाया । यथा महामायाजनिते तावदखण्डे ऋतगर्भिते नवत्वसंख्याभावे चतुष्कपञ्चके वा सप्तकद्विके वा षट्कत्रिके वा ऋतगर्भिते द्वे द्वे सत्यखण्डे मायावशादुपपद्येते ।

सेयं योगमाया त्रयं करोति ।

(१) अखण्डे सत्ये ऽन्यसत्य खण्डात्मकं प्रकाशयति ।

(२) तेषां च खण्ड सत्यानां योगेन यौगिकं किञ्चिदन्यसत्यं प्रकाशयति ।

(३) प्राक्तनं तु तमखण्डैकभावमन्तर्हितं करोति ॥

यथा नवत्वमित्यखण्डरूपं किञ्चिदेकं संख्यासत्यमासीत्

(१)—तत्रैतदन्यान्ययोगमायावशादष्टौ सत्यानि जायन्ते—एकत्वं, द्वित्वं त्रित्वं, चतुष्ट्वमित्यादीनि ।

(२) तेषां चान्योन्यबहिर्योगात्पुनिरन्यान्यन्यान सत्यानि प्रादुर्भवन्ति अष्टादश (१८) सप्तविंशतिः, (२७) । षट्त्रिंशत्, (३६) । पञ्चचत्वारिंशत (४५) इत्यादीनि नवत्वसंख्यान्तरितानि । योगजानीमानि सत्यानि प्रकाशयन्ते । तेषामारम्भकाणि एकत्वाष्टत्वादीनिसत्यानि त्वन्यानि प्रकाशभूतानि ।

(३) तत्रान्तर्हितमत्यन्तमखण्डं नवत्वं संख्यासत्यमेकं पुनरन्यत् ।

एषु तु सर्वेषु नवत्वसंख्यगर्भीदञ्चनसिद्धेषु संख्याविश्वरूपेषु त्रिसत्येषु सर्वत्र व्यापकमिदं नवत्वमव्ययं संख्यास्वव्यावृत्तरूपेण सर्वत्र विद्यमानमपि योगमायाप्रत्यावरणाच्छा

प्रकाशते। योगमाया हीयमद्भुतप्रभावात् सर्वमेव सत्यं रूपं संसृष्टं प्रवृक्तञ्च कृत्वा सर्वत्रानुस्यूतं नवत्वमेवात्मानं परिलक्षयति। नेदं नवत्वमेभ्यः संख्याविश्वरूपेभ्यः क्वचिदप्यपवार्य्यते॥ तत्र प्रवृक्तं यथा नवतिसंख्यायां बिन्दोः पूर्वं प्रत्यक्षदृष्टं नवत्वं (९०) यदि नवति सत्यात् प्रवृज्यते तदेकाशीति (८१) रवशिष्यते। तत्रैकश्चाष्टौ च भिन्नस्थाने द्वे विश्वरूपे सत्ये द्वैतं निवर्त्य स्वमात्मानमद्वैतं नवत्वमुपपादयतः। यथा भूतविभागे प्रतिसंचरक्रमे मृत्तिकालक्षणाद् भूतात् तदारम्भकयोर्गन्धगुणवायुद्रव्ययोः सृष्ट्यासिद्धस्य मृत्तिकारूपाधायकस्यात्मनः प्रवर्जने आपोरूपमवशिष्यते। तथैतदेकाशीति संख्या रूपयोः सृष्ट्यासिद्धं नवत्वं यदि प्रवृज्यते तदा द्वासप्तति (७२) रवशिष्यते। तत्र द्वौ च सप्त चेति द्वे सत्ये विश्वरूपे स्तः। तयोः पृथक्त्वानिवृत्तौ युतिभावोदया दात्मभावो नवत्व (९) मुपपद्यते। अत्र च द्वैतनाशादियं योगक्रिया विलीयते॥॥॥

अथैतन्नवत्वमात्मभावः प्रवृज्यते त्रिषष्टि (६३) स्तदावशिष्यते स विश्वभावः। स यथा अपामारम्भकयो रसगुणवायुद्रव्ययोः सृष्टयासिद्धस्यापोरूपाधायकस्यात्मनः प्रवर्जने तेजोरूपमवशिष्यते तथैवेह त्रिषष्टि संख्यामारम्भकयोर्विश्वरूपयो विमुक्त्य-भेदभावनिवृत्तौ आत्मभावो नवत्वं भवति। पुनर्नवत्वं निवृत्तौ चतुः पञ्चाशदव (५४) शिष्यते। तयोर स्यारम्भकरूपयो विमुक्त्या भेदभाव निवृत्तौ आत्मभावो ऽपत्या नवत्वम्। पुनर्नवत्वनिवृत्तौ सिद्धयोर्विश्वभावयोः पञ्चचत्वारिंशत (४५) संख्यारूपयोर्विमुक्त्या भेदभावानिवृत्तौ नवत्वमात्मोपपद्यते। पुनर्नवत्वनिवृत्तौ षट् त्रिंशत् (३६) संख्यावशिष्यते तत्रापि रूपयो विमुक्तौ नवत्वमात्मोपपद्यते। तन्निवृत्तौ सप्तविंशतिः (२७) संख्यावशिष्यते। तद्रूपयोर्विमुक्तौ नवत्वमात्मोपपद्यते। तन्निवृत्तौ चाष्टादश (१८) संख्यावशिष्यते। तद्रू-पयोर्विमुक्तौ नवत्वं भवति। तन्निवृत्तौ नवत्वसंख्या (९) विशुद्धात्माऽवशिष्यते। इत्थं नवत्वेनात्मनैषा योगमाया न हीयते। योगमायागर्भे गर्भे ऽभिव्याप्तो नवत्वसंख्यालक्षण आत्मा सर्वत्राव्यावृत्त्या विद्यमानो ऽपि नाद्धा प्रकाशते। योगमाययैव सर्वत्र प्रत्यावृतत्वात्। अन्यास्वपि सर्वासु संख्यास्वेवमेव योगमायाप्रभावोऽप्रतिहतो द्रष्टव्यः।

यथैकादशसंख्य सत्ये भिन्नस्थानयोरेतत संख्यावाह्यरूपयो योगमायालक्षण एकीभावो द्व्यं विश्वरूपं तद्विमोक्षेण निवृत्तौ नवत्वं सत्यम। अथ द्वाविंशति संख्यासत्ये भिन्नस्थानयो-र्वाह्यरूपयोर्योगमायालक्षण एकीभावश्चतुष्ट्वं विश्वरूपम्। तद्विमोक्षेण निवृत्तौ अष्टादश संख्या (१८) सत्यम। तस्य वाह्यरूपयोरेकी भावो नवत्वं भवति। अथ त्रयस्त्रिंशद् संख्या-सत्ये ऋतसंख्याद्वयनिवृत्तौ सप्तविशतिः (२७) सत्यम्। तद्रूपैक्यं नवत्वं भवति। एवमेव सर्वत्र योगमायाजनित विश्वरूपवियुत्या निवृत्तौ तदात्मा नवत्वं संख्या ऽवशिष्यते। इत्थं च

भूतविश्वरूपे प्रजापतिवदिह संख्याविश्वरूपे नवत्वमात्मा सर्वत्रान्तरतो ऽभिव्याप्तो द्रष्टव्यः। योगमाया वशादन्तर्हितोऽप्ययं च प्रजापतिलक्षणो नवत्वमात्मा न कुत्राप्युपलभ्यते ॥

अथवा किमेतेन परिगणनेन यथेच्छमेतदुक्तरीत्या सर्वत्रैवं संख्यासु सर्वसंख्यात्म-भूतस्य नवत्व स्याभिव्याप्ति र्द्रष्टव्या। सर्वत्र च तत्र विद्यमानमपि नवत्वमात्मा ह्रासवृ-त्यादि योगमायाप्रकल्पित रूपान्तर्हितमस्तीति नाद्धा प्रकाशते। अत एवोक्तं गीतायाम्—

"नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमाया समावृतः।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम्" ॥
अविभक्तं विभक्तेषु विभक्तमिव च स्थितम्। इति॥

इत्थमेतद्भातिसिद्धे संख्याजगति योगमायारहस्यं दृष्टान्तविधया प्रदर्शितम्। एवमेव च सत्तासिद्धे भूतजगति योगमायारहस्यमविकलं विजानीयात्। सर्वविधानन्तबल गर्भित-मात्मलक्षणमात्मेति पूर्णं स्थानम्। तदमृतं ज्योतिः सत्। अथ सर्वविधैस्तद्बलावपलम-न्वलक्षणं विश्वमिति शून्यं स्थानम्। तत्र मृत्युलक्षणं तमोऽसत्। विश्वसृष्टेः पूर्वं नासदा-सीन्नो सदासीत् किञ्चिदपीदं विश्वरूपमिति कृत्वा तदिदं शून्य स्थानं तमः—शब्देनोप-वर्ण्यते। यथोक्तं मनुना—

"आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम्।
अप्रतर्क्य मनिर्देश्यं प्रसुप्तमिव सर्वतः" ॥ इति॥

इदमिति विश्वरूपं लक्षयति। येन रूपेणेदमिदानीं दृश्यते, नैतेन रूपेणेदं विश्वं तदानीमासीत्। चेतनाप्रकाशघनकैवल्ये तदानीं बलप्रपञ्चरचनाव्यूहस्येदानीमिवासत्वात्। तदिदं तमो निरूपाख्यलक्षणः कृष्णः॥ ईश्वर एकोऽयमसंसृष्टरूपो मिर्द्वन्द्वः परात्पर आत्मा। स हि निःशेषबल पूर्ण आसीत। तदिदमात्मकैवल्यमेकत्वस्थानमिव संख्याविभागे विद्यात्। "आत्मैवेदमग्र आसीदेक एव"—इति श्रुति सिद्धान्तात्॥ अथ नत्वेवेदमग्र आसीद् विश्वं नाम किञ्चिदिति—"तम आसीत् तमसा गूढमग्रे ऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्"—इति कृत्वा तदिदं योगसृष्टिलक्षणं विश्वं शून्यस्थानं पूर्वमासीत् परमेश्वरसंज्ञात् पूर्णरूपात्॥

इति शून्य-पूर्ण-स्थानविवेकः।

९-योगमायाप्रभावात् शून्यसत्यस्थाने पूर्णसत्यावतारः ।

अथैतस्मादनन्तबलघनलक्षणात् परात्परस्मात् क्रमशः प्रवृत्तानीमानि सर्वाणि बलानि तस्मिन् विश्वलक्षणे शून्यस्थाने क्रमश एव किञ्चित् किञ्चित् कृत्वा सञ्चीयन्ते । तद्वशाच्च तत्तत् प्रवृत्तरूपावच्छेदेन भिन्नं भिन्नमव्ययपुरुषलक्षणं पूर्णरूपं आपातसत्यमुपजायते । तेन शून्यस्थानमपीदं विश्वं क्रमश आपूर्यत । "तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्" इति कृत्वा विश्वप्रविष्टस्येश्वरप्रजापतेरात्मा भूतमात्रा, प्राणमात्रा, प्रज्ञामात्रोदञ्चनक्रमेण चेतनावतो जीवानुत्पाद्य तेषु विश्वजीवेषु योगविभूत्याऽधिकाधिकचेतनामवतारयतीत्यतः क्रमेणान्यदन्यत् पूर्णं रूपं जीवप्रजापतिलक्षणं जायते । तथा च तत्रैतद् विश्वस्थित्यवस्थायां द्वे द्वे पूर्णरूपे अन्योन्यं संगच्छेते । बहिःस्थानो भूतग्रामकलालक्षणः स्थूलशरीरभागः । अथान्तःस्थानो देवग्रामकलालक्षणो देवप्राणरूपोऽन्तरात्माभागः । सोऽयमन्तरात्मा प्रजापतिः सूक्ष्मशरीरभावः । अथेदं स्थूलशरीरं विश्वभावः । अष्टादशसंख्यामेकस्थानीयाष्टस्वसंख्यावदयं स्थूलशरीरभावः । अथैतदालम्बनलक्षणादशकस्थाने यैकस्वसंख्यावदयं सूक्ष्मशरीरभावः । ते चैते द्वे सत्ये ताभ्यां क्लृप्तमिदं तृतीयं सत्यं यदयमात्मन्वत् शरीरं जीवव्यक्तिः ॥ अपि चान्यथेदं त्रिसत्यमुपपादयेत् ॥ ईश्वरात्मा चासौ चिद्घनसत्तावत् पूर्ण एकः सत्यः । अथाचेतनं जगदिदं पूर्णमपरं सत्यम् । अथेश्वरस्याचेतनजगद्भावानां च योगजमिदं तृतीयं पूर्णं सत्यमेष जीवपुरुषः प्रवर्तते । तत्रैतस्मिन् जीवे ईश्वरांशाभिवृद्धिक्रमात् चैतन्याभिवृद्धिक्रमेण तामसभावापचयक्रमाच्चान्ततः सर्वे जीवकदम्बा एकतमाणस्यैकेश्वरतामभ्युपस्यन्ते । तथा च सृष्ट्यादिवत् सृष्ट्यन्तेऽप्ययमेक एवेश्वरोऽवशिष्यते । तदेतदुक्तं यजुःश्रुतौ—

> "पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते ।
> पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते" ॥ इति ॥

अथर्वश्रुतौ चोक्तम्—

> "पूर्णात् पूर्णमुदचति पूर्णं पूर्णेन सिच्यते ।
> उतो तदद्य विद्याम यतस्तत् परिषिच्यते ॥१० २९।

(६) अथेदमात्रपरं बोध्यम् । उक्तं तु यच्छून्यं रूपं सत्त्वं ब्रह्म । अथ यत्पूर्णं रूपं तत्किं ब्रह्मेति ॥ तत्रेदं केब्रह्म संख्याविभागे नवत्व संख्यावदिह भूतविभागे ब्रह्मदक्षरं विद्यात् । तदिदमूर्ध्वानेकब्रह्मगर्भितमेव रूपं धत्ते । श्रूयते हि—

"भूतं भविष्यत्प्रस्तौमि महद्ब्रह्मैकमक्षरम् । बहुब्रह्मैकमक्षरम्" इति । सत्यगर्भस्थ-मृतं पृथग् व्यूह्य विवक्षावशादन्यदन्यत्सत्यं भूत्वा नानाविधं कं भवति । गर्भाहितबलमय-त्वात्तु सर्वविधं तत्कंपूर्णम् । क्रमशश्चेदमस्मिन्खे शून्यस्थानेऽवतरतीति सत्यैरेतैः कं ब्रह्मभिराक्रमणवशादिदं शून्यस्थानं क्रमतः परिपूर्य्यते । यावत्खं तावत् कात्र्स्न्येन कं तत्रा-भिव्याप्नोति । तदुभयमेकं रूपं सम्पद्यते कञ्च खञ्चेत्युभेइमे एकस्यैव ब्रह्मणो व्यष्टिरूपे भवतः । तथा च श्रूयते—

"यद् वाव कं तदेव खम् । यदेव खं तदेव कम्, इति-प्राणं च हास्मै तदाकाशं चोचुः" छां० उ० ४।१० इति ॥

(७) इमे चैते व्यासज्य पुनरन्यत् किञ्चित्समष्टिरूपं विज्ञायते—रं ब्रह्मेति, शं ब्रह्मेति व्यष्टिरूपावच्छेदेन रमते तदिदं विश्वचरं रूपं रं ब्रह्म ।

अथ व्यष्टिपरिच्छेदं नापेक्षते प्रविविक्तं तु विश्वातीतं पूर्णं शान्तं सर्वत्रोपशेते तदिदं शं ब्रह्मेति विद्यात् । बुद्धिविजृम्भणमात्रं त्विदं नानात्वं ब्रह्मणो बृंहण-स्वाभाव्या-दुपपद्यते । वस्तुतस्तु खमनन्तं पर्य्याप्नोतीदमनन्तं कम् । न तस्य व्यष्टिरूपत्वं नानात्वं वा सम्भाव्यते । अथवा ज्योतिर्वीर्य्ये, ज्ञानक्रिये, ब्रह्म कर्म्मणी, कम् । तस्यैतस्यानन्ताद्भुत-सामर्थ्यातिरेकादत्यन्तासम्भाव्यमपीदमसीमस्य नानात्वंनात्यन्तायापोद्यते । यथाहुराचार्य्याः—

"आश्चर्य्यवत् पश्यति कश्चिदेनमाश्चर्य्यवद् वदति तथैव चान्यः ।
आश्चर्य्यवच्चैनमन्यः शृणोति श्रुत्वाऽप्येनं वेद न चैव कश्चित् ॥
श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः शृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विद्युः ।
आश्चर्य्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धा आश्चर्य्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः ॥
न नरेणावरेण प्रोक्त एष सुविज्ञेयो बहुधा चिन्त्यमानः ।
अनन्यप्रोक्ते गतिरत्र नास्ति अणीयान् हि अतर्क्यमप्रमाणात्" ॥

(८) द्विविधा ह्येमे वैज्ञानिकाभावा द्रष्टव्याः—अचिन्त्याश्च सुविज्ञेयाश्चेति । तत्राचिन्त्येष्वर्थेषु न कुतर्केण विज्ञानमयोगिभिर्विघटयितव्यम् । यथाहुः—

"अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत् ।
प्रकृतिभ्यः परं यच्च तदचिन्त्यस्य लक्षणम्" ॥ इति ।

यथेदमत्यन्ताणुमनोऽत्यनपिनद्धमपरिच्छन्नमपीदं विश्वरूपमात्मनि धत्ते । अपि चात्यन्ताणु चक्षुःकनीनिकान्तश्छिद्रगतं प्रज्ञानेन्द्रियं पश्यदिह वृहतः पर्वतमालाद्यारब्धान् दृश्यावकाशानन्तरात्मनि करोति । न चैतदुभयं सम्भाव्यते । किन्तु सर्वैरद्धाऽनुभूयते ।

तस्मादिदं भवत्येवेति निर्द्धारितमभ्युपगम्यते नापलापितुं शक्यते। सर्वं हीदमाश्चर्य्यं मन्यामहे—यद्वै कश्चित्किञ्चित् परिपश्यामो वाऽनुभवामो वा न हीदं कर्तुं शक्नुमो यदिदं स्वतो भवत्परि पश्यामः। न वा तदिद्धा विजानीमः कथमित्थं भवतीति। अथवा भवतीदमेवमिति चेन्नेदं तर्हि तदाश्चर्य्यम्। अस्ति हि तथा विश्वस्य प्रकृतिरिति सम्भाव्यं तत्। नासम्भाव्यं किञ्चिदिहास्तीति नाश्चर्य्यं किञ्चिन्मन्यामहे। यदि तावत् भवन्तमर्थं भूयोभूयः पश्यामस्तर्हि नेदमित्थं संभवतीति वदतो व्याघातः। यत्र वा केचित् भवन्तमर्थं पश्यन्तस्तथाभूतं मन्यन्ते तर्हि तदवश्यं भवत्येवमिति प्रतीयात्। संभाव्यं तदिति सम्भावयेदिति विदुषां परामर्शः॥

(६) तथा चायं निष्कर्षः

"यथाऽऽकाश स्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान्।
तथा सर्वाणि भूतानि मत् स्थानीत्युपधारय॥"

"एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म नेह नानाऽस्ति किञ्चनेति" विद्यात्। तस्यैतस्य द्वैरूप्यम्। अमृतं च मृत्युश्चेति। रसो ज्योतिः सदित्यमृतम्। अथ बलं तमोऽसदिति मृत्युः। "असतो मा सद्गमय। तमसो मा ज्योतिर्गमय। मृत्योर्माऽमृतं गमयेत्याशंसा श्रूयते"॥ अस्तीति सत्। नास्तीत्यसत्। सत्ता प्रतिष्ठा विधरणम्। येन यद्विध्रियते तस्य सत्ता नात्र संक्रमते। किन्तु मृत्तिकायां कुलालहस्तेन विशेषबलमाधीयते तेनैतस्मिन् आहिते बले मृत्तिका सत्ता व्यासङ्गवृत्त्या पर्य्याप्त्याप्रतिष्ठते। बलपर्य्याप्ता मृत्तिका सत्तैव तद्बलं स्थिरीकरोति। स्थिरीकृतं तद्बलमपूर्वं कार्य्यमुच्यते। घट—इति तच्चैतन्मृत्सत्तया घटोऽस्ति। न मृत्तिकासत्तातः पृथगन्या सत्ता घटेऽस्ति। तस्मात्परसत्ताया सन्नयं घटः स्वतो नास्ति। सत्तैकत्वादेक एवायमर्थो मृच्च घटश्चेति न द्वैतम्। कारणं सत्यं कार्य्यं तु मिथ्या। एव मेवेदं बलव्यूहरचनालक्षणं विश्वं सत्तारसानुगमनिबन्धनमेवास्ति, वस्तुतस्तु स्वतः किमपि नास्ति। तस्मात्सत्तैकत्वनिबन्धनमिदं ब्रह्माद्वैतं। जगन्मिथ्यात्वञ्च द्रष्टव्यम्। पर्य्यायसत्तयोर्द्वैतभावोपगमेऽपि कार्य्यकारणसत्तयोरेकत्वेन द्वैतासम्भवात्। अत्र सत्तयोरित्यपेक्षाकृतं द्वित्वमुपपद्यते। सत्ताप्रदसत्ताग्राहि भेदात्। तदपेक्षावशादेकस्यामेव सत्तायां द्वैतभानोपपत्तेः। अचिन्त्यं हीदमतः सत्ताग्रहणं तथाऽपीश्मद्धादृश्यते। घटस्यासतो बलमयस्य मृत्तिकासत्ताद्रव्येणाभिसम्बन्धः—इति हृदयेनाभिनीयते। तदेतदाह भगवान् वेदपुरुषः—

"कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्।
सतो बन्धुमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा"॥ इति॥

द्वयोः सदसतोः संबन्धभूतायां सत्तायां प्रतियोगिनः सत्ताधायकस्य कारणत्वम् । अथानु योगिनः सत्ता, ग्राहकस्य कार्य्यत्वम् । तथा चेह यदसत् यस्य सत्तामादाय सत्तावद् भवति, तत्रैतस्मिन् सत्ताधायके सत्ताग्राहकनिरूपितं सत्यत्वं द्रष्टव्यम् । एकैवात्मनः सत्ताधाराप्रवाह-न्यायेन भिन्नभिन्नस्रोतसा बहुदूरमन्यत्रान्यत्रोपतिष्ठते । अन्या चान्या च तत्र तत्रैषा सत्य-नाड़ी प्रवर्तते (१) यथेयमेकाधारा भवति—

जीवानामेषां मनसाभिक्लृप्तेषु बौद्धभावेषु सतोर्नामरूपयोः सत्ताप्रदत्वादिमे ब्राह्मणो महती, अभ्वे, महती यक्षे सर्वजगद्भावगते नामरूपे सत्यम् । तदुक्तं बृहदारण्यकश्रुतौ—

"तदेतदमृतं सत्येन च्छन्नम् । प्राणो वा अमृतम् ।
नामरूपे सत्यम् । ताभ्यामयं प्राणश्छन्नः इति । १४।४।४ ॥*

तेनैतयोर्नामरूपयोरमृताः प्राणाः सत्यम् । प्राणानां चैषामात्मा सत्यम् । तथा च श्रूयते—

"स यथोर्णनाभिस्तन्तुनोच्चरेद् यथाऽग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिंगा व्युच्च-रन्ति-एवमेवास्मादात्मनः सर्वे प्राणाः सर्वे लोकाः सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि व्युच्चरन्ति । तस्योपनिषत् सत्यस्य सत्यमिति । प्राणा वै सत्यम् तेषामेष सत्यम्" । इति ॥ बृ० आ० का० १४ । अ० ४। ब्रा० २॥

(२) अथान्या चैका सत्यधारा भवति । उष्णीषस्य पटः सत्यम् । पटस्य तन्तवः । तन्तूनां तूलम् । तूलस्य मृत् । मृद आपः । अपां तेजः । तेजसोवायुः । वायोर्वागाकाशः वाचः प्राणः । प्राणस्यात्मा । तदुक्तम्—

"तस्माद्वा एतस्मादात्मन आ[१]काशः सम्भूतः । आ[२]काशा-द्वायुः । वायो[३]रग्निः । अग्ने[४]रापः । अद्भ्यः पृथिवी[५] । पृथिव्या ओष-धिवन[६]स्पतयः । ओषधि वनस्पतिभ्योऽ[७]न्नम् । अन्नात् प्राणः ।[८] प्राणा-न्म[९]नः । मनसो वा[१०]क् । वाचो [११]वेदाः । वेदेभ्यो [१२]यज्ञः । इति"

---

*अत्रेदमपरं बोध्यम् । वाक्प्राणमनांस्यात्मरूपाण्यमृतानि । तत्र वाचो विकारो नाम । मनसो विकारो रूपम् । आत्मन्येवायमात्मा प्रज्ञातिमधत्तेति सिद्धान्तादिमे नामरूपे आत्मानमेवालम्बिते प्राणमावृणुतः । वाक्प्राणमनसामपृथक्त्वेनोपपत्तेः ॥ प्रतिष्ठायां सत्यशब्दः ।

तत्रैतदन्नान्तं संचरक्रमं तैत्तिरीयका आमनन्ति । अन्नात्तूत्तरं प्रतिसंचरक्रमविशेष माथर्वणा इच्छन्ति ॥ आत्मा तु पुरुषो ऽव्ययः सच्चिदानन्दो विश्वव्यापी सर्वत्रैव तत्र तत्र प्रयुक्तेष्वसत्सु बलव्यूहेषु मनः प्राणवाक् समुच्चयरूपां सत्तामादधानः सद्रूपेण सृष्टिं करोति । तदित्थं यत्रासति यस्य सतः सत्तामादधाति तत्र तत् सत्यमिति वाच्यम् । आत्मा तु सच्चिदानन्दो ऽयमव्ययः सत्यस्य सत्यमित्याख्यायते । तत्र च पंचविधमक्षरं नित्यमविनाभूतं कामतपःश्रमैः सत्यं प्रयुञ्जानः सर्वां सृष्टिं सृजतीति विद्यात् । अत्रायं श्लोकः श्रूयते—

"यदक्षरं पञ्चविधं समेति युजो युक्ता अभि यत्संवहन्ति ।
सत्यस्य सत्यमन यत्र युज्यते तत्र देवाः सर्व एकी भवन्ति ॥इति ॥

इति शून्यस्थाने पूर्णसत्यावतरणं व्याख्यातम् ॥

———

६-गीता कृष्णस्य नवधा भक्तिः ।

स चैष सत्यो ऽव्ययकृष्णो मायामितत्वान् मायीत्याख्यायते । महामाया, योगमाया, विष्णुमाया, शिवमायेत्यादीनि बहुविधानि हीमानि मायाबलानि ।

तत्र महामायाबलावच्छिन्नेऽव्ययपुरुषे तावदन्या योगमाया स्वयमुद्भूय सर्वाकाशपरिव्यापिनं पूर्णैकरूपिणं तं मायिनं सर्वजगन्निगूढमात्मानमव्ययं नवधा विकल्प्य ताभिर्नवभिर्भक्तिभिर्विभक्तमिवकृत्वा विश्वस्मिन् सर्वत्र परिदर्शयति । सप्तस्वपि लोकेषु चतुर्दशस्वपि वा भुवनेषु न तादृशं किञ्चिदवस्थानमुपपद्यते यत्रैष कृष्णो न प्रतितिष्ठति । नवभक्तीनां कयाचिद् भक्त्याऽवश्यमयं कृष्णोऽव्ययः पर्य्याप्नोति । अविभक्तो ऽप्ययं कृष्णो योगमायाकल्पिताभिर्भक्तिभिर्विभक्त इवैष भेदेन यत्र तत्र प्रतिभाति । उक्तं च गीतायाम् --

"अविभक्तं विभक्तेषु विभक्तमिव च स्थितमिति" ॥ सा तावदियंयोगमाया प्रथमत आनन्द, चेतना, सत्तालक्षणे रूपे रसे त्रैभाव्येनात्मानं भावयति । अथ ब्रह्मकर्म्ममूर्तिलक्षणेन रूपत्रयेणात्मानं वैश्वरूप्याय निवर्तयति । ज्योतिः विद्या ज्ञानं प्रकाश इति ब्रह्म । वीर्य्यं चेष्टा क्रिया क्षोभ इति कर्म । आयतनमन्नमर्थः शुक्रमिति मूर्तिः । तदिदं संख्यादिभातिसिद्धस्थाने यत्रिसत्योपपत्तिर्वादिह सत्तासिद्ध भूतभावस्थानेऽपि योगबलुप्त्यर्थं योगमायाकल्पितं कृष्णस्याव्ययस्यात्मनः समावरणलक्षणं सुव्यक्तं त्रिसत्यं विज्ञायते ॥ ततोऽन्तश्चितिवशाद् ब्रह्मणि विद्यासंज्ञं त्रैरूप्यम्--आनन्दो[1], विज्ञानं[2], मन[3]श्चेति प्रादुरभावयन् । एतदेव त्रितयमात्मन्यानन्दरसः शान्तिलक्षणः । अस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति । अथ बहिश्चितिवशात् कर्मणि वृत्तिसंज्ञं त्रैरूप्यं—मनः[1] प्राणो[2] वागिति[3] प्रादुरभावयत् । एतदेव त्रितयमात्मनि चेतनारसः क्षोभलक्षणः । अस्यैव चैतन्यस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति ॥ अथ बहिश्चितिवशात् कर्मणि वृत्तिसंज्ञं त्रैरूप्यं—मनः[1] प्राणो[2] वागि[3] तिप्रादुरभावयत् । एतदेव त्रितयमात्मनि चेतनारसः क्षोभलक्षणः । अस्यैव चैतन्यस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति । अथ पुनश्चितिबन्धवशादात्मनि मूर्तमर्थसंज्ञं त्रैरूप्यं-वाग[1] आपः[2] अग्नि[3]रिति जायते । एतदेव त्रितयमात्मनि सत्तारसो मूर्च्छालक्षणः अस्यैव सत्तारसस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति । इति विद्यात् । अस्ति हि सच्चिदानन्द एवात्मा । विश्वं तु सदसच्च, चिदचिच्च, सुखि दुःखि चेदं भक्तितो दृश्यते । तथा चैतानि नवरूपाणि सिद्धानि ॥

अथैतस्य पुनर्नानात्वं विधाय योगमायैवेयं लोके भेदबुद्धिं प्रवर्तयति । तत्र यथा नानात्वं भवति तदनुपदमेव वक्ष्यामः । अधुना तु नव संख्यानुरोधादस्य गीता कृष्णस्य नवधा भक्तिर्निरूप्यते ।

अयं भावः । गीतायामहं ममेत्यादिना ऽस्मच्छब्देनाभिनीयमानोऽर्थो गीताकृष्णः । स हि जीवाव्ययोऽयमात्मा कृष्णः । ज्योतिश्च वीर्य्यं च प्रतिष्ठा चेत्यात्मनस्त्रीणि रूपाणि भक्तयो भवन्ति । ज्योतिर्ब्रह्म, वीर्य्यं कर्म्म, प्रतिष्ठा मूर्तिः । आनन्दो, विज्ञानं, मन इति त्रीणि रूपाणि विद्या तज्ज्योतिः । मनः, प्राणो वागिति—त्रीणि रूपाणि कर्म्म तद्वीर्य्यम् । वाग् आपः—अग्निरिति त्रीणि रूपाणि मूर्तिः । सा प्रतिष्ठा । ज्योतिषा प्रयोगाद्वीर्य्यं मूर्तिरूपंचाभिव्यक्तं प्रकाशं भवति । अन्तरेण तु मूर्तिस्थितवीर्य्यप्रयोगादिदं ज्योतिरप्यव्यक्तमप्रकाशं भवति । यावदव्यक्तं रूपं सोऽप्रकाशत्वात् कृष्णो भावः । अथेदं व्यक्तं रूपं वीर्येण सर्वथा राध्यते तस्मादियं व्यक्तिः सत्यमूर्तिः कृष्णसहचारिणी राधा शक्तिः । तत्रेदं ज्योतिश्च वीर्य्यञ्च कृष्णरूपं सहानुगतं भवतीति योगमायाप्रभावादिदं सर्वमेवार्थजातमस्ति च भाति च विश्वं नाम । तत्र ज्योतिर्म्मयो ऽयमात्मा परात्परविवर्तभूतः पञ्चकलोऽव्ययः, पञ्चकलोऽक्षरः, पञ्च कलः क्षर इत्येवं त्रिपुरुषः षोडशीपुरुषः ॥

अक्रियं हीदं ज्योतिर्वीर्येण योगाद्विवर्तमानं त्रेधा विवर्तते—परस्थाने ब्रह्म[१]ज्योतिः, सन्धिस्थाने ज्ञान[२]ज्योतिः, सृष्टि स्थाने भूतज्यो[३]तिरिति । प्रत्येकं पुनस्त्रेधा त्रेधोपपद्यते ॥

तत्र तावदिदं ब्रह्मज्योतिस्त्र्यधिकरणं भवति—अधिदैवतं, अध्यात्मं, अधिभूतं चेति ।

त्रिविधमपीदं ज्योतिर्द्वेधा द्वेधोपकल्पते—प्रकाशं चाप्रकाशञ्च अन्यान्ययोगमायावशाद्विवर्तमानं सत् सृष्टिरूपेणोपपद्यमानं ज्योतिषा गृह्यमाणवच्छिन्नत्वादिदंत्वेन भाव्यमानं प्रकाशम् । तदन्तर्विद्यमानमपिशदिद्धास्वरूपेण न गृह्यते तदप्रकाशम् । अप्रकाशोभावः कृष्ण इति व्यपदिश्यते । अङ्गप्रत्यङ्गाद्यव्याकरणस्वाभाव्यात् ।

अथ योऽन्यः शुक्लो भावः सा पुनरत्र व्यक्तिः । सेयमप्रकाशसहचारिणी सती राध्यमानतया राधेत्याख्यायते । याराधा तत्रावश्यमन्तरतो निगूढः कृष्णो भाव्यः । वक्षःस्थलस्थया राधया कृष्णस्याव्यभिचारेण सयुक्त्वसिद्धान्तात् ।

(१) तत्राधिदैवतस्थाने—द्वे रूपे-विश्वञ्च, विश्वात्मा च । तत्र सत्यं नाम प्राग् भावो विश्वात्मा विश्वं सृष्ट्वा तत्र प्रविष्टरूपः आत्मा कृष्णः । अव्यक्तत्वात् ॥

अथ विश्वं नामात्मात्योगीभावः सृष्टरूपः शुक्लः । तस्य व्यक्तिरस्तीति सा राधा ।

२—अथाध्यात्मस्थाने-द्वे रूपे । शरीरञ्च, शरीरी च ।

तत्र क्षेत्रज्ञोऽयमधियज्ञ आत्मा शरीरीभावः स कृष्णः । अव्यक्तत्वात् ।

अथ क्षेत्रं हीदं शरीरमात्मयोगीभावः शुक्लः । तस्य व्यक्तिरस्तीति सा राधा ।

३—अथाधिभूतस्थाने-द्वे रूपे । कार्य्यञ्च, कारणं च ।

तत्र यदव्यक्तं प्राग् रूपं तत् करणम् ।

अथ व्यक्तं तु तस्मिन्नेव कारणे पश्चाद्रूपं कार्य्यम् ।

यदिदमन्तरिक्षे ऽभिव्याप्तमिदमभ्रं दृश्यते तदव्यक्तं कार्य्यं सर्वेषां प्रकाशो भवति । किन्त्वेषां कारणमव्यक्तं धूमज्योतिः सलिलमरुतां सन्निपातलक्षणं न तत् प्रकाशभूतं पश्यन्ति । सोऽयमव्यक्तोऽप्रकाशत्वात् कृष्णो भावः । अथ येयमत्रैव कार्य्यव्यक्तिः सा राधा ॥.॥

[२] उक्तं त्र्यधिकरणं ब्रह्म ज्योतिः । अथेदं ज्ञानज्योतिस्त्रिस्थानं विज्ञायते—

हृदय[१]स्थानं, इन्द्रिय[२]स्थानं, विषय[३]स्थानं चेति ।

१—तत्र हृदयस्थाने-तावदशेषेण सर्वेषां भूतानां हृदये द्वौ सुपर्णौ भवतः ।

ईश्वरश्व, जीवश्व । तत्र चिदात्मा चिद्घनो विश्वव्यापितया ऽस्मिन् हृदये प्रत्यासन्नईश्वरभावः कृष्णः—अव्यक्तत्वात् ।

अथात्र हृदये पुनरीश्वरसहयोगी चिदाभासो जीवभावः शुक्लः । ईश्वरापेक्षया जीवात्मनो ऽभिव्यक्तत्वात् । या व्यक्तिः सा राधा ।

२—अथेन्द्रियस्थाने द्वे रूपे-प्रसुप्तं च प्रबुद्धं च ।

सर्वेन्द्रियेषु निगूढावस्थो योग्यतालक्षणो ज्ञानतन्तुः प्रसुप्तः स कृष्णः—अव्यक्तत्वात् । अथैतेष्विन्द्रियेषु—आरूढावस्थः कार्य्यकालो ज्ञान तन्तु प्रबुद्धः । सा व्यक्तिरस्तीति राधा वक्तव्या ॥.॥

३—अथ विषयस्थाने-ज्ञानस्य द्वे रूपे । निर्विषयञ्च, सविषयञ्च ।

विषयोपहितत्वे निर्विषयो ज्ञानभावो ऽनभिव्यक्तः कृष्णः ।

विषयवैशिष्ट्ये तु विषयरूपेण भाजमानो ज्ञानभावः शुक्लः ।

विषयग्राहि ज्ञानं कृष्णः । ज्ञानस्था तु विषयमात्रा राधा ॥.॥

[३] अथैतद्भूतज्योतिरपि त्रिस्थानम्-सूर्य्यस्थानं, चन्द्र स्थानं, अग्नि स्थानं चेति ।

१—तत्र सूर्य्यस्थाने द्वे रूपे-ज्योतिरेकं, गो आयुषी चेति परम् ।

तत्र निःशेषभूतारम्भणो गौर्भावः, तथा निःशेषभूतानामात्मायमायुर्भावः । स चायमुभयो ऽपिप्राणो ऽनभिव्यक्तः कृष्णः । ज्योतिष्टोमस्तु हिरण्मयः प्राणः शुक्लः । सहि रूपप्राणः । श्रूयतेहि—

"तन्मित्रस्य वरुणस्याभिचक्षे सूर्यो रूपं कृणुते द्यो रुपस्थे ।

अनन्त मन्यद्रुशदस्य पाजः कृष्णमन्यद्धरितः संभरन्ति" ।

२—अथ चन्द्रस्थाने द्वे रूपे। दर्शप्राणः ज्योत्स्नाप्राणश्च।
तत्रापरपक्षोपचायी दर्शप्राणः कृष्णः। स हि शुद्धः सोमप्राणः।
अथ पूर्वपक्षोपचायी ज्योत्स्नाप्राणः शुक्लः। स एष भानुजस्तत्राग्निप्राणः।
श्रूयते हि—
"अत्राह गोरमन्वत नाम त्वष्टुरपीच्यम्। इत्था चन्द्रमसो गहे।
....
....

३—अथाग्निस्थाने-भसिताङ्गारसत्वैः शुक्लकृष्णपृश्निवर्णैर्वागापोऽग्निरसप्रसूतैस्त्रि-
पर्वणि भूतपिण्डे तदङ्गारगतो ऽयमापोमयो मध्यमः पारमेष्ठ्यप्राणः कृष्णः।
'कृष्णो ऽस्याखरेष्ठो ऽग्नये त्वा जुष्टं प्रोक्षामीति"—यजुर्मंत्रे समिद्गताग्नेः
कृष्णत्वव्याख्यायाम्—
"यत् कृष्णो रूपं कृत्वा प्राविशस्त्वं वनस्पतीन्।
ततस्त्वामेकविंशति धा सम्भरामि सु संभृता" ॥ तै० ब्रा० १।७।४।
इत्यङ्गिरसो ऽग्नेरन्तर्धानभावे कृष्ण शब्द प्रयोगस्य श्रुत्यभिमतत्वात्। अथाग्नि-
दाहकालेऽर्चिर्भावेन विस्रं समानश्चित्राग्निमयो वह्निस्थानः सौरप्राणः प्रकाशमयतया शुक्लः।

तदित्थं त्रिविधः कृष्णो निरुक्ष्यते—निरु[1]क्तश्चा[2]निरुक्तश्च निरू[3]पाख्यश्च। सूर्य्य-प्रकाशयोगक्षमः कृष्णो निरुक्तो यथा शालग्रामविग्रहे, यथोपरि नीलाकाशलक्षणवायुस्तोमे, यथा श्यामघनाम्बुस्तोमे वा ॥१॥

अथानिरुक्तो यः प्रकाशप्रतिद्वन्द्वभावः। यथा छायायामन्तर्निगूढः कालिमा। यथा नेत्र निमीलनानुभूतो वा कालिमा ॥२।

अथ—"आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम्" इति वाचामापमग्नीनां चेति त्रिविधानामपि सृष्टिरूपाणामत्यन्ताभावो निरुपाख्यः कृष्णः ॥३॥ त्रिभिरेतैः कृष्णैरिदं विश्वमभिव्याप्तम्। सोऽयं कृष्णस्त्रेधोपपद्यते—विश्वातीतः, विश्वचरः, विश्वरूपश्चेति। निरूपाख्यो विश्वातीतः। अनिरुक्तो विश्वचरः। निरुक्तो विश्वरूप इति भाव्यम्।

सोऽयमित्थं त्रिविधैर्ज्योतिर्भिरभिसंपन्नतमो भगवान् कृष्णः षोडशी प्रजापतिरिति भाव्यम्। श्रूयते हि सामवेदे यजुर्वेदे च

"यस्मान्न परो अन्यो अस्ति जातो य आबभूव भुवनानि विश्वा।
प्रजापतिः प्रजया संरराणस्त्रीणि ज्योतींषि सचते स षोडशी" ॥ इति ॥

पञ्चकलं त्तरं महद्ब्रह्म। पञ्चकलमक्षरं परम ब्रह्म। पञ्चकलमव्ययं परं ब्रह्म। परात्परं चैका कला—इत्येवं षोडशकलः षोडशी प्रजापतिः स ईश्वरः सर्वं जगन्मयः प्रजापतिर्नातोऽन्यत् किञ्चिदस्ति सोऽन्वेष्टव्यः। स विजिज्ञासितव्यः। स उपासितव्यः॥

तस्यैतस्य षोडशकलस्य कृष्णस्येह विश्वप्रपञ्चे नव भक्तयो भवन्ति। यत्र वा कुत्र-चिद् दृष्टिं प्रसारयामि तत्रावश्यमयं कृष्णः कयाचिदनया भक्तया विद्यमानो विज्ञायते, तत्रो पलभ्यते।

यत्तु कैश्चित्—श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥
इत्येवं नवधा भक्तिराख्यायते तदवैज्ञानिकम्। विश्वव्यापिन्येतस्मिन् विराजीश्वरे सख्य-पादसेवनादीनामव्याप्तेः॥ ॥

इति गीताकृष्णे कृष्णस्य नवधा भक्तिव्याख्याता॥

विश्वव्यापिनः कृष्णस्यात्मनो नवधा भक्तिः—

परस्थाने तावदनुपाख्यः कृष्णो ब्रह्मज्योतिस्त्रेधा विभक्तमनुगम्यते—

(१) अधिदैवतम्—अव्यक्तो विश्वात्मा कृष्णः।
व्यक्तं विश्वं राधा।

(२) अध्यात्मम्—अव्यक्तः शान्तात्मा कृष्णः।
व्यक्तिः शरीरकला राधा।

(३) अधिभूतम्—अव्यक्तं कारणं कृष्णः।
व्यक्तं कार्य्यं राधा।

संधिस्थाने अनिरुक्तः कृष्णो ज्ञानज्योतिस्त्रेधा विभक्तमनुगम्यते—

(४) हृदयावकाशे—अव्यक्तः कृष्णश्चिदात्मा ईश्वरभक्तिः।
व्यक्तिः राधा चिदाभासो जीवभक्तिः।

(५) इन्द्रियावकाशे—अव्यक्तः कृष्णः प्रसुप्तं ज्ञानम् ।

व्यक्तिः राधा प्रबुद्धं ज्ञानम् ।

(६) विषयावकाशे—अव्यक्तः कृष्णः विषयोपहितं ज्ञानम् ।

व्यक्तिः राधा विषयविशिष्टं ज्ञानम् ।

सृष्टिस्थाने निरुक्तः कृष्णो भूतयज्योतिस्त्रेधाविभक्तमनुगम्यते—

(७) सूर्यमण्डले—अव्यक्तः कृष्णः गौरायुः

व्यक्तिः राधा ज्योतिः

(८) चन्द्रमण्डले—अव्यक्तः कृष्णो दर्शप्राणः

व्यक्तिः राधा ज्योत्स्नाप्राणः

(९) अग्निमण्डले—अव्यक्तः कृष्णः आखरेष्ठोऽग्निः

व्यक्तिः राधा अर्चिरग्निः

तदित्थं ज्योतिर्मयस्याव्ययकृष्णस्य नवधा भक्तिराख्याता ।

एवमेव वीर्यमयस्याव्ययकृष्णस्यापि नवधा भक्तिर्द्रष्टव्या ॥

एवमेव मूर्तिमयस्याव्ययकृष्णस्यापि नवधा भक्तिर्द्रष्टव्या ॥

अद्वैतकृष्णस्य योगमायावशान्नानात्वोपपादनम् ।

१—एक मेवाद्वयं ब्रह्म सर्वमस्तीति निर्णयः ।
तद् बृंहणकृता सृष्टिर्धृता सात्मनि भर्म्मणि ॥१॥
रसो ऽमृतं बलं मृत्युबलवद्रसलक्षणम् ।
असीमं व्यापकं ब्रह्म किञ्चिदेकं परात्परम् ॥२॥
न नास्तीति रसः पूर्णस्थानं ब्रह्माभुसंज्ञकम् ।
नास्त्यस्तिनास्तीति बलं शून्यमभ्वमितीर्य्यते ॥३॥
सत्तानुरोधिनी संख्या सत्ताशून्ये बले न हि ।
तस्माद् ब्रह्मेदमद्वैतमनन्तबलवद्रसः ॥४॥
सत्तारसस्य त्वेकस्य मात्रायोगादिदं बलम् ।
अनन्तविधमाभाति यदिदं दृश्यते जगत् ॥५॥
पूर्ण आत्मानन्दरसः शश्वदेकः सनातनः ।
तत्र शून्यं बलं नाना भाति विश्वमिदं ततः ॥६॥
नेदमग्रे किञ्चिदासीद् बलानां शून्यतावशात् ।
रसमात्रावतारात्तु बलानां विश्वरूपता ॥७॥

२—(१)"नासदासीन्नो सदासीत् तदानीं नासीद् रजो नो व्योमापरो यत् ।
किमावरीवः कुहकस्य शर्म्मन्नम्भः किमासीद् गहनं गभीरम ॥१॥

(२) न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत् प्रकेतः ।
तम आसीत् तमसा गूढमग्रे ऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम् ॥२॥

(३) तुच्छ्येनाभ्वमपिहितं यदासीत् तपसस्तन् महिनाऽजायतैकम् ॥२॥
आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्नपरः किञ्चनास ॥३॥

(४) कोऽद्धा वेद क इह प्रवोचत् कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः ।
अर्वाग् देवा अस्य विसर्जनेऽनाथाः को वेद यत आबभूव"॥४॥

३—एकोऽखण्डो रसः शान्तस्तत्र खण्डस्वरूपवत् ।
बलं प्राणदपानव्यानन्तं क्षोभाय कल्पते ॥१॥

मायाबलोदयान् मायी रसो बलमितो भवन् ।
अभवत् पुरुषो नाम्ना स आत्मा विश्वसृष्टिकृत् ॥२॥

४—महामायोदरे योगमायोदयवशात् पुनः ।
अखण्डोऽव्यय आत्मायं नानारूपावृतोऽभवत् ॥३॥
मनो विज्ञानमानन्दो विद्याज्योति रिति त्रयम् ।
वाक् प्राणश्च मनश्चेति कर्म्म वीर्य्यं परं त्रयम् ॥४॥
अग्निरापश्च वाक् चेति मूर्तिरर्थः परं त्रयम् ।
तैरेतैर्नवभिर्भागैर्नित्यमात्मा समावृतः ॥५॥
विद्या कर्म्म च मूर्तिश्च शरीरमिदमात्मनः ।
प्रकाशते तत्च्छन्नः स आत्मा न प्रकाशते ॥६॥
महामायामयस्त्वात्मा रसो ऽनन्तबलाकरः ।
योगमायाकृते रूपे बहुरूपोऽस्ति भिन्नवत् ॥७॥
योगमायाबहिष्कारे भिन्नता विनिवर्त्तते ;
तमोऽखण्डः कृष्ण आत्मा सर्वत्रैकः प्रकाशते ॥८॥
बुद्धियोगवशादेषा योगमाया निवर्त्तते ।
इदं रहस्यमाख्यातं गीताकृष्णस्य दृष्टये ॥९॥

५—पूर्वं नासीदिदं विश्वं शून्यस्थानं ततः क्रमात् ।
बलेषु रसयोगेन विश्वमस्ति रसोदरम् ॥१॥
आत्मा पूर्णो विश्वमिदं शून्यमासीदितिस्थितिः ।
संभाव्यते पूर्णरसे प्राक् रसो बलसृष्टितः ॥२॥ (रसे बलसंसर्गात् पूर्वम्)
शून्ये बले पूर्णरसोदञ्चना त् पूर्णतावशात् ।
पूर्णं बलमिदं विश्वं पूर्णं जात मभेदतः ॥३॥
"पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते" ॥४॥
नासीद्विश्वं रसा भावात् पुरा तु पृथगात्मतः ।
इदानीं विश्वतो नास्ति पृथगात्मा बले रसात् ॥५॥
शून्ये बले पूर्णरसावतारात् पूर्णतोदयात् ।
बलं रूपवदाभाति सर्वमेतद् बलंबलम् ॥६॥
शून्यस्थानं पूर्णयोगात् पूर्णरूपाय कल्पते ।
तेनेदं विश्वमाभाति विश्वमासीत्र मृत्युभृत् ॥७॥

६—अव्यावृत्तः कश्चिदाभुर्निराकार इहाततः ।
न दृश्यते तमो गूढस्तस्मात्कृष्णः सचच्यते ॥१॥

तत्र कृष्णे योगमाया काचिदश्वेति संज्ञिता ।
वरीवर्ति नरीनर्त्ति दृष्टा ऽप्यद्धा न दृश्यते ॥२॥

निर्विकल्पानवच्छिन्नाऽखण्डात्मनि विकल्पकृत् ।
योगकृच्च विकल्पानां योगमाये ति सोच्यते ॥३॥

योगमायाऽश्चर्य्यमयी परिपूर्णैकरूपिणि ।
कृष्णे ऽकस्मात्स्वयं सिद्धा ततो विश्वमिदं बभौ ॥४॥

योगमायाऽव्यवच्छिद्य कृष्णं पूर्णैकरूपिणम् ।
विधाय तस्य नानात्वं तत्र योगाय कल्पते ॥५॥

कृष्णे द्विधा योगमाया विकल्पायोपकल्पते ।
अन्तरे च बहिर्धा च करोत्यावरणं पृथक् ।६॥

का योगमाया किं रूपा कृष्णमावृणुते कथम् ।
तदेतत् साधु विज्ञ तु संख्यासृष्टिः प्रदर्श्यताम् ॥१॥

संख्ये[1] कत्वरसो ऽखण्डः संख्याविश्वगतो विभुः ।
नवभिस्तैर्योगमाया नव[2] संख्या करोति हि ॥२॥

नवसंख्याऽप्यखण्डैका तत्रैकत्वानि गुप्तवत् ।
न[3] वेति संख्या पूर्णास्ति संख्याङ्का नाधिकाह्यतः ॥३॥

---

[1] एकत्वं नामैष रसः संख्या विश्वमण्डल व्यापी ।

[2] अयमेक, अयमेकः, अयमेक इत्येवं त्रयं त्रेधा कृत्वा नवसंख्योपपद्यते । अनगर्भि-सत्यरूपाप्येषा नवत्व संख्या एकत्वसंख्येनाखण्डरूपा विज्ञायते । अष्टादशादिषु योगजसंख्यास्विवेह संख्या रूपद्वया दर्शनात् ।

[3] अनन्तानामपि संख्यानां स्वरूपाधायका नवैवोपपद्यन्ते । तस्मादङ्कानां नवमे स्थाने पूर्णत्वमिष्यते ॥

नवेति पूर्णसंख्यात एकत्वानामुदञ्चनात् ।
[४] नवाङ्कानां पूर्वभागे शून्यस्थानं प्रपूर्य्यते ॥४॥
[५] ततोऽष्टा दशरूपाऽन्या सप्तविंशति रूपिणी ।
षट् त्रिंशद्रूपिणी पञ्चचत्वारिंशत् स्वरूपिणी ॥५॥
चतुः पञ्चाशदाकारा त्रिषष्ट्युर्ध्वसप्ततिः ।
एकाशीतिश्च नवतिरित्थं शून्यं प्रपूरितम् ॥६॥
नवसत्यान्वजनयच्चैकं द्वित्र्यादिभेदतः ।
अष्टादशादिसंख्यासु नवसंख्यास्ति योगतः ॥७॥
अष्टादशादिसंख्यासु त्रिसत्य [६] मुपपद्यते ।
द्वे तु सत्ये बाह्यरूपे सत्यमेकं तु योगजम् ॥८॥

इति योगमायावशाज्ञानात्वोपपादनम् । ६॥

---

[४] शून्यपूर्वाहीमे नवाङ्का विज्ञानविद्यायामुल्लिख्यन्ते ।

(४)

०	१
०	२
०	३
०	४
०	५
०	६
०	७
०	८
०	९

(५)

०	९	९
१	८	९
२	७	९
३	६	९
४	५	९
५	४	९
६	३	९
७	२	९
८	१	९
९	०	९

(६) इति त्रिसत्यम् । यथा—

एकत्वं सत्यम्	१
अष्टत्वं सत्यम्	२
अष्टादशत्वं सत्यम्	३

७ आंशिकयोगमायानिवृत्तौ शेषयोगमायान्तर्हितः सत्योऽव्ययपुरुष आत्मा ।

इष्टसंख्यावाह्यरूपत्यागेयद्रूपमाप्यते ।
तस्य योगः कृष्णरूपा नवसंख्यैव जायते ॥१॥
योगमायावशात् संख्या रूपं बाह्य मथेंद्यनें ।
योगमाया पृथक्कारे नवसंख्यैव शिष्यते ॥२॥
तथैवामी विश्वरूपभेदा नानोपकल्पिताः ।
योगमाया पृथक्कारे कृष्ण एको ऽवशिष्यते ॥३॥
योगमायावशान्नाना संख्याभानेऽपि सर्वतः ।
नवसंख्यैव सर्वत्र कृष्णवत् परिलक्ष्यते ॥४॥

यथा—इष्टसंख्या अष्टाचत्वारिंशत् (४८) तत्राष्टत्वचतुष्ट्वयोर्बाह्यरूपयोस्त्यागे षट्त्रिंशत् संख्या (३६) शिष्यते। तद्रूपयोः षट्त्वत्रित्वयोर्योगो नवसंख्या ॥ अथेष्ट-संख्या द्वात्रिंशत् (३२)। तद्रूपयोः द्वित्वत्रित्वयोस्त्यागे सप्तविंशतिप्राप्तिः (२७) तद्रूपयोगो नवसंख्या ॥ अथेष्टसंख्या पञ्चषष्टिः (६५) ॥ तद्रूपयोः पञ्चत्वषट्त्वसंख्ययोः परित्यागे चतुःपञ्चाशत् प्राप्तिः तद्रूपयोगो नवसंख्या ॥ एवं सर्वत्र योगमायाकल्पित बाह्यरूपापगमेऽन्तरतो निगूढं कृष्णाखण्डात्मरूपं परिशेषाद् विज्ञायते । तदेवं बुद्धियोगविद्यया योगमायाप्रत्यावरणदूरीकरणात् सर्वत्र कृष्णाव्ययात्मसाक्षात्कारः संभवतीति विद्यात् ॥

इदमत्र तात्पर्य्यमवधीयते । एकैवाखण्ड गुण लक्षणासंख्या योगमायारूपाभ्यां द्वाभ्यामङ्काभ्यां बहिर्लक्ष्यते । तत्र तयोर्व्यक्तयोर्बहिर्गतयोगमायावरणलक्षणयोरङ्कयोरुच्छेदे यद्रूपमवशिष्यते तस्मिन्नस्मिन् कृष्णभावे ऽन्तर्निगूढा योगमाया निगूढमेतं कृष्णमभिव्यञ्जयति । यथा—अखण्डैका संख्या शड्विंशतिः (२६) ॥ सा द्व्यङ्क षडङ्काभ्यां प्रदर्श्यते । तयोरुच्छेदेऽष्टादशसंख्याऽवशिष्यते । तद्रूपयोरङ्कयोर्योगो नवसंख्यालक्षणः कृष्णः ॥ एवमन्यत्रापि सर्वत्र भाव्यम् । यथा बहिरिष्टसंख्या पञ्च विंशतिः (२५) ॥ तत्रैते वाह्यरूपे द्वे संख्ये द्विकपञ्चके निवर्तते । तथा चैतद्योगरूपस्य सप्ताङ्कस्य त्यागे ऽवशिष्टस्यान्तर्निगूढसंख्याव्यञ्जकस्याष्टादशाङ्कस्य योगो नवाङ्कः सिध्यति । तत्रैतस्या व्यवच्छेदलक्षणाया योगमायाः कृष्णरूपायामस्यां नवसंख्यायां विलयनान्निर्विकल्पः ॥१॥

अथ बहिरिष्टसंख्या त्रिषष्ट्याधिकं चतुः शतम् ॥ तत्रापि योगमायारूपाणां बहिर्व्यक्तानां त्रयाणामङ्कानामुच्छेदे तद्योगसिद्धस्य त्रयोदशाङ्कस्य त्यागादवशिष्टस्यान्तर्निगूढसंख्या-

व्यञ्जकस्य पंचाशदधिक चतुः शताङ्कस्य (४५०) शून्येतर संख्याङ्क योगो नवाङ्कः सिध्यति । तत्रैतस्याव्यवच्छेदलक्षणाया योगमायायाः कृष्णरूपायामस्यां नवसंख्यायांविलयनान्निर्विकल्पः ॥ २ ॥

अथ बहिरिष्ट संख्या — अष्ट सप्तत्यधिक षट् छतोत्तरपञ्च सहस्रम् (५६७८) तत्र योगमाया रूपाणां बहिर्व्यक्तानां चतुर्णामङ्कानामुच्छेदे तद्योगरूपस्य षट्त्रिंशत्यङ्कस्य त्यागे ऽव शिष्टस्यान्तर्निगूढ संख्याव्यञ्जकस्य द्वापञ्चाशदधिक षट् छतोत्तर पञ्चसहस्राङ्कस्य (५६५२) योगोऽष्टादश ङ्कः तद्य गो नवाङ्कः सिध्यति । तत्रैतस्याव्यवच्छेदलक्षण यायोगमायाः कृष्णरूपायामस्यां नव संख्यायां विलयनान्निर्विकल्पः । ३॥

इत्थ मेवान्यत्रान्यत्रसर्वत्र यथेच्छं संख्याया द्रष्टुर्योगमायानिवृत्तौ निर्विकल्पो भगवानन्तर्निगूढः सर्वव्यापी कृष्ण एवैको नवसंख्या रूपः प्रतिसंख्याविभागं प्रत्यक्षमुपपद्यते-इति भावुकैर्भाव्यम् ।

समान एवैष खलु योगमायाप्रभावः संख्याविभागे च भूतविभागे च । तथाहि— यथा भूतविभागे [१]मनः, [२]प्राणः, [३]वागित्याकाशं, [४]वायुः, [५]तेजः, [६]आपः, [७]पृथ्वी [८]ओषधिवनस्पतिरूपान्नं, [९]पुरुषो नवमः-इति नवस्थाना पूर्व पूर्वगर्भितोत्तरोत्तरस्थानगुणा गुणमयी योगमायाऽस्मिन्नात्मनि भूताव्यये नानाशक्तिपूर्णा ब्रह्मतरूपे श्वोवसीयसमनोलक्षणे कस्मिंश्चिद् भूतसत्येऽनुषज्जते । एवमेव खल्वस्मिन् संख्याविभागेऽपि—[१]एकं, [२]दशकं [३]शतं, [४]सहस्रं, [५]अयुतं, [६]प्रयुतं, [७]कोटिः, [८]अर्बुद, [९]अब्ज, [१०]खर्वं, [११]निखर्वं, [१२]महापद्मं, [१३]शङ्कुः, [१४]समुद्रः, [१५]अन्त्यं, [१६]मध्यं, [१७]परार्द्धमित्यष्टादशस्थाना पूर्वपूर्वगर्भितोत्तरोत्तरस्थानगुणा गुणमयी योगमायाऽस्मिन्नात्मनि नानैकत्वपूर्णाद्वैतरूपे नवत्वैकस्थानलक्षणे कस्मिंश्चित् संख्यासत्ये ऽनुषज्जते । इयं योगमाया सर्वविधसृष्टीनां हेतुरेकस्यात्मनो नानात्वोपपत्तिहेतुश्च विज्ञायते । योगमायानिवृत्तौ तूभयोरपि विभागयो गुणानां स्थानभेदा निवर्तन्ते-इति भूतविभागे मनोवदस्मिन् संख्याविभागे ऽप्येकत्वमेव स्थानमन्ततो ऽवशिष्यते ॥ तथाहि-प्रतिसंचरक्रमे योगमायाया अंशोन्मोके तज्जनितं सृष्टिसिद्धं रूप निर्मुच्यते । अथापि पृथिव्या अप्त्वसिद्धावपां वा तेजस्त्वसिद्धौ तदवशिष्टयोगमायासु रूपं वायुत्व वाक्त्व दिकं तत्रात्मनि तिष्ठत्येव । तदिह या वता सर्वात्मना योगमायानिवृत्तिर्न स्यात् तावदयं योगमायासृष्ट्यपवर्गाय स व्यापारोपि खलु भूयो भूयोऽनुवर्तत एव ।

इत्यांशिकयोगमाया निवृत्तौ शेषयोगमायान्तर्हितः सत्योऽव्ययपुरुष आत्मा ॥

९—सर्वथा योगमायापवर्गे कृष्णात्मसिद्धिः ।

अथ सर्वथा योगमायापवर्गे सत्यात्मन एकत्वलक्षणं कैवल्यमुपपद्यते । ततोऽपवर्जनीययोगमायाया अभावादपवर्गक्रियापि निवर्तते । ततश्चावशिष्टं सृष्टिरूपमात्मन्येवाद्वैतलक्षणे विलीयतेइत्यनुभाव्यम् ॥

तस्यैतस्य संख्यालक्षणयोगमायासृष्टिनिवर्तनकर्मणः कानिचिदुदाहरणानि प्रदर्श्यन्ते । यथा निर्दिष्टसंख्या सप्तकोटयः पञ्च पञ्चाशल्लक्षाणि, एकादश, सहस्राणि, षट् शतानि, अष्टाविंशतिश्चेति (७ ५५ ११ ६ २८) । तत्र संख्यायोगरूपाणि पञ्चत्रिंशत् । (३५) । तस्य त्यागे यदवशिष्यते तद्योगमायापि त्याज्या । एवमुत्तरोत्तरं योगमायारूपं क्रमेण परित्यजेत् । ततः सर्वपरिग्रहलक्षणावरणानिवृत्तौ विशुद्धः कृष्ण आत्मा साक्षात्कृतः स्यादिति भाव्यम् । यथा—

त्याज्यानि—संख्यायोग माया रूपाणि	संख्यायोगत्यागा—वशिष्टरूपाणि		पुनः संख्या—योगरूपाणि	योगमाया—विलयन—रूपम्	
३५	७ ५५ ११ ५ ९३	....	३६	९	
३६	७ ५५ ११ ५ ५७	....	३६	९	
३६	७ ५५ ११ ५ २१	....	२७	९	
२७	७ ५५ ११ ४ ९४	....	३६	९	
३६	७ ५५ ११ ४ ५८	....	३६	९	
३६	७ ५५ ११ ४ २२	....	२७	९	
२७	७ ५५ ११ ३ ९५	....	३६	९	
३६	७ ५५ ११ ३ ५९	....	३६	९	
३६	७ ५५ ११ ३ २३	....	२७	९	
२७	७ ५५ ११ २ ९६	....	३६	९	
३६	७ ५५ ११ २ ६०	....	२७	९	
२७	७ ५५ ११ २ ३३	....	२७	९	
२७	७ ५५ ११ २ ०६	....	२७	९	
२७	७ ५५ ११ १ ७९	....	३६	९	
३६	७ ५५ ११ १ ४३	....	२७	९	
२७	७ ५५ ११ १ १६	....	२७	९	

२७	७ ५५ ११ ८९		३६	ह	
३६	७ ५५ ११ ५३		२७	ह	
२७	७ ५५ ११ २६		२७	ह	
२७	७ ५५ १ ९९		३६	ह	
३६	७ ५५ १ ६३		२७	ह	
२७	७ ५५ १ ३६		२७	ह	
२७	७ ५५ १ ०९		२७	ह	
२७	७ ५५ ८२		२७	ह	
२७	७ ५५ ५५		२७	ह	
२७	७ ५५ २८		२७	ह	
२७	७ ५५ ०१		१८	ह	
१८	७ ५४ ८३		२७	ह	
२७	७ ५४ ५६		२७	ह	
२७	७ ५४ २९		२७	ह	
२७	७ ५४ ०२		१८	ह	
१८	७ ५३ ८४		२७	ह	
२७	७ ५३ ५७		२७	ह	
२७	७ ५३ ३०		१८	ह	
१८	७ ५३ १२		१८	ह	
१८	७ ५२ ९४		२७	ह	
२७	७ ५२ ६७		२७	ह	
२७	७ ५२ ४०		१८	ह	
१८	७ ५२ २२		१८	ह	
१८	७ ५२ ०४		१८	ह	
१८	७ ५१ ८६		२७	ह	
२७	७ ५१ ५९		२७	ह	
२७	७ ५१ ३२		१८	ह	
१८	७ ५१ १४		१८	ह	

१८	७५	६६		२७	९	
२७	७५	६९		२७	९	
२७	७५	४२		१८	९	
१८	७५	२४		१८	९	
१८	७५	०६		१८	९	
१८	७४	८८		२७	९	
२७	७४	६१		१८	९	
१८	७४	४३		१८	९	
१८	७४	२५		१८	९	
१८	७४	०७		१८	९	
१८	७३	८९		२७	९	
२७	७३	६२		१८	९	
१८	७३	४४		१८	९	
१८	७३	२६		१८	९	
१८	७३	०८		१८	९	
१८	७२	९०		१८	९	
१८	७२	७२		१८	९	
१८	७२	५४		१८	९	
१८	७२	३६		१८	९	
१८	७२	१८		१८	९	
१८	७२	००		९	९	
९	९			०	९	

९—सर्वथा योगमायापवर्गे कृष्णाद्वैतात्मसिद्धिः ।

यथा वा वह्निरिष्टसंख्या सप्तसप्ततिकोटयः, षट् पञ्चाशल्लक्षाणि,द्वात्रिंशत्सहस्राणि चतुः शतं नवाशीतिश्चेति (७७ ५६ ३२ ४८ ९) । तत्र संख्यायोगरूपाणि एकपञ्चाशत् । तत्त्यागे यदवशिष्यते तद्योगमायारूपं पञ्चचत्वारिंशत् । तच्चेदमनवच्छिन्नस्य नवसंख्यारूपस्य कृष्णस्य व्यवच्छेदकल्पितं भवति । एवमग्रेऽपि प्राग्वत् । तद् यथा—

५१	७७ ५६ ३२ ४३८	४५	९
४५	७७ ५६ ३२ ३९३	४५	९
४५	७७ ५६ ३२ ३४८	४५	९
४५	७७ ५६ ३२ ३०३	३६	९
३६	७७ ५६ ३२ २६७	४५	९
४५	७७ ५६ ३२ २२२	३६	९
३६	७७ ५६ ३२ १८६	४५	९
४५	७७ ५६ ३२ १४१	३६	९
३६	७७ ५६ ३२ १०५	३६	९
३६	७७ ५६ ३ २६९	४५	९
४५	७७ ५६ ३ २२४	३६	९
३६	७७ ५६ ३ १८८	४५	९
४५	७७ ५६ ३ १४३	३६	९
३६	७७ ५६ ३ १०७	३६	९

०	७७ ५६ ३७१	३६	९
३६	७७ ५६ ३३५	३६	९
३६	७७ ५६ २९९	४५	९
४५	७७ ५६ २५४	३६	९
३६	७७ ५६ २१८	३६	९
३६	७७ ५६ १८२	३६	९
३६	७७ ५६ १४६	३६	९
३६	७७ ५६ ११०	२७	९

*	७७५ ६८३	३६	९
३६	७७५ ६४७	३६	९
३६	७७५ ६११	२७	९
२७	७७५, ५८४	३६	९
३६	७७५ ५४८	३६	९
३६	७७५ ५१२	२७	९
२७	७७५ ४८५	३६	९
३६	७७५ ४४९	३६	९
३६	७७५ ४१३	२७	९
२७	७७५ ३८६	३६	९
३६	७७५ ३५०	२७	९
२७	७७५ ३२३	२७	९
२७	७७५ २९६	३६	९
३६	७७५ २६०	२७	९
२७	७७५ २३३	२७	९
२७	७७५ २०६	२७	९
२७	७७५ १७९	३६	९
३६	७७५ १४३	२७	९
२७	७७५ ११६	२७	९
२७	७७५ ०८९	३६	९
३६	७७५ ०५३	२७	९
२७	७७५ ०२६	२७	९

*			
	७७४ ९९९	४५	ध
	७७४ ९५४	३६	ध
	७७४ ९१८	३६	ध
	७७५ ८८२	३६	ध
	७७४ ८४६	३६	ध
	७७४ ८१०	२७	ध
	७७४ ७८३	३६	ध
	७७४ ७४७	३६	ध
	७७४ ७११	२७	ध
	७७४ ६८४	३६	ध
	७७४ ६४८	३६	ध
	७७४ ६१२	२७	ध
	७७४ ५८५	३६	ध
	७७४ ५४९	३६	ध
	७७४ ५१३	२७	ध
	७७४ ४८६	३६	ध
	७७४ ४५०	२७	ध
	७७४ ४२३	२७	ध
	७७४ ३९६	३६	ध
	७७४ ३६०	२७	ध
	७७४ ३३३	२७	ध
	७७४ ३०६	२७	ध
	७७४ २७९	३६	ध
	७७४ २४३	२७	ध
	७७४ २१६	२७	ध
	७७४ १८९	३६	ध
	७७४ १५३	२७	ध
	७७४ १२६	२७	ध

*	७७ ६४	२७	६
	७७ ६७	२७	६
	७७ ४०	१८	६
	७७ २२	१८	६
	७७ ०४	१८	६
	७६ ८६	२७	६
	७६ ५६	२७	६
	७६ ३२	१८	६
	७६ १४	१८	६
	७५ ६६	२७	६
	७५ ६६	२७	६
	७५ ४२	१८	६
	७५ २४	१८	६
	७५ ०६	१८	६
	७४ ८८	२७	६
	७४ ६१	१८	६
	७४ ४३	१८	६
	७४ २५	१८	६
	७४ ०७	१८	६
	७३ ८६	२७	६
	७३ ६२	१८	६
	७३ ४४	१८	६
	७३ २६	१८	६
	७३ ०८	१८	६
	७२ ६०	१८	६
	७२ ७२	१८	६
	७२ ५४	१८	६
	७२ ३६	१८	६
	७२ १८	१८	६
	७२ ००	०६	६
	६	६	६

इत्थं चेह यथाऽनन्तसंख्यानामेकस्मिन्नवत्पलक्षणसंख्यानरूपे सर्वैकत्वपूर्णे सत्ये विलयना अनन्त्वैकत्वोपपत्तिराश्चर्य्यमयीहश्यते । एवमेवेहानन्तजगद्धानामेकस्मिन्नीश्वर-लक्षणाव्ययरूपे सत्ये विलयनादीश्वरैकत्वोपपत्तिरप्याश्चर्य्यमयी भाव्यत एतदेवाहु-रौपनिषदाः—

"यत्रत्वस्य सर्वमेकआत्मैवाभूत् तत्केन कं पश्येदिति ।"

आत्मैवायमेकः सर्वशक्तिमान् सर्वेषामेषां प्रभवः प्रतिष्ठापरायणं चेति विद्यात् ।

इत्थमव्यावृत्तस्य पूर्णरूपस्य सत्यस्याव्ययकृष्णस्य योगमायावशाज्ज्ञानात्वोपपादनेऽपि वस्तुत औपाधिकभेदस्यातितुच्छतया नितरामुपेक्षणीयत्वात् ग्रन्थतात्पर्यावलोकनाच्च सर्वत्रानुस्यूतोऽयमव्ययकृष्ण एव गीतोदिताहंपदार्थ इति विपश्चितां सिद्धान्तः ॥ स एवाहंपदार्थोऽयं कृष्णः सर्वत्रान्तर्निगूढभावेनाव्यावृत्तावस्थो योगमायाप्रत्यावरणात् प्रत्यक्षं न प्रतिभातीत्याह भगवान्—

"नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमाया समावृतः" इति ॥

॥ इति योगमायापवर्गकृष्णाद्वैतात्मसिद्धिः ॥

❋ अथ गीताकृष्णे कृष्णत्रयैकात्म्योपपादनम् ❋

(५)

(१) अहं शब्देन गीतायां यः कृष्णो व्यपदिश्यते ॥
मनुष्यं चेश्वरं साम्यात्तं विद्यात् पुरुषोत्तमम् ॥१॥
अव्ययो योऽवतीर्णत्वान् मनुष्यात्मनि गृह्यते ॥
चतुर्विधैर्बुद्धियोगैरात्मानावरणो ऽस्ति सः ॥२॥
अव्ययस्यावतारोऽयं यत्र यत्रोपपद्यते ॥
तमेतमर्थं विज्ञानाद्दर्शयामि समासतः ॥३॥
आत्मा सर्वं तं च विद्यात् स एको द्विविधो मत ॥
स विशुद्धो[१] निर्विशेष उप[२]सृष्टः प्रजापतिः ॥४॥
वि[१]श्वतीतो वि[२]श्वमात्मा विश्व[३]स्रष्टा स विश्व[४]भृत् ॥
इत्थं खल्वेक एवात्मा बहुधा व्यपदिश्यते ॥५॥
ततस्तदुपपत्यर्थमात्मसंस्थाऽनुभाव्यते ॥
षडात्मसंस्थाः कल्पन्ते तस्मादात्मा ऽन्यथान्यथा ॥६॥
[१]परात्परो ऽथ [२]पुरुषः, षो[३]डशी, [४]सत्य उत्तरः ॥
[५]यज्ञो वि[६]राडितिख्याताः संस्था नित्याः षडात्मनः ॥७॥

१—परात्पर आत्मा ।

(२) १ –स भूमा सोऽभयः ऽसोयमसीमः स परात्परः ॥
बलानां स निधिः सो ऽयमनन्तः परमेश्वरः ॥८॥
अनन्तबलपूर्णोऽपि निर्धर्म्मैष परात्परः ॥
आधीयन्ते तत्र धर्म्मा आत्मनाना त्वहेतवः ॥९॥
स्वरूपधर्मा दृष्यन्ते आत्मनो ये परिग्रहाः ॥
अथामी आश्रिता धर्मा उपसर्गा भवन्ति ये ॥१०॥
माया, कला, गुणा, एवं विकारावरणाञ्जनम् ।
आत्मैक एव नैर्योगान्नानात्वं प्रतिपद्यते ॥११॥

१	परात्परः विशुद्ध १ आत्मा	....अमायः, निष्कलः, निर्गुणः, निर्विकारः, निरावरणः, निरञ्जन
२	पुरुषः, २ आत्मा १	माया, मायी ,, ,, ,, ,, ,,
३	षोडशी ३ आत्मा २	कला ,, कलावान् ,, ,, ,, ,,
४	सत्यः प्रजापतिः ४ आत्मा ३	गुणाः ,, ,, सगुणः ,, ,, ,,
५	यज्ञः प्रजापतिः ५ आत्मा ४	विकाराः ,, ,, सविकारः ,, ,,
६	विराट् प्रजापतिः ६ आत्मा ५	आवरणम् ,, ,, ,, सावरणः ,,
७	विश्व प्रजापतिः ६	अञ्जनम् ,, ,, ,, ,, साञ्जनः

१०—कृष्णत्रयैकात्म्योपपादनम्।

२—पुरुष=आत्मा।

२—मायाबलोदयादात्मा भिन्नरूपाय कल्पते।
असीम एव मायायां मितिमौपाधिकीं गतः ॥११॥
मायिनं मितिमापन्नमात्मानं पुरुषं विदुः।
मितिः पूस्तन्मितःशेते पुरि वासात् स भिद्यते ॥१२॥
निर्गुणो निष्कलोऽमायो निर्विकारो निरञ्जनः।
परात्परोऽस्य वैधर्म्यमव्ययेनास्ति मायिना ॥१३॥
योगमायावशात्तत्र भेदोऽभूदक्षरः क्षरः।
अमृतः सोऽक्षरो मर्त्यः क्षरो बलविशेषतः ॥१४॥
आलम्बनं त्वव्ययो ऽसौ नियन्तात्वक्षरो मतः।
प्रभवत्वात् प्रतिष्ठात्वाद् गतित्वात् प्रकृतिः क्षरः ॥१५॥
साम्येन पुरि तिष्ठन्ति सोऽव्ययः सोऽक्षरः क्षरः।
तस्मात् त्रयोपि पुरुषाः पूरुषः सो ऽव्ययः पृथक् ॥१६॥

३—षोडशी आत्मा।

३—योगमायावशादेषु पञ्चपञ्चकलोदयः।
आनन्द, विज्ञान, मनः, प्राणो वागिति चाव्यये ॥१७॥
ब्रह्म विष्णिवन्द्राग्निसोमाः पञ्चामी अक्षरास्तताः।
प्राणश्चापश्च वाक् चान्नमन्नादितिक्रमात् ॥१८॥
परात्परः षोडशीति त्रिभिस्तैः पुरुषैः सह।
तद् वैधर्म्यं षोडशिना मायिना च कलाभृता ॥१९॥

४—सत्यः प्रजापतिरात्मा ।

४—सत्वं गुणोऽत्र वागग्निः प्राणाग्निस्तु रजोगुणः ।
तमोगुणो ऽग्निरन्नादः सत्य आत्मा तु तैस्त्रिभिः ॥२०॥
सत्येन चास्य वैधर्म्यं मायागुणकलाभृता ।
त्रैगुण्य भिन्ना विविधा विकाराः सत्यतोऽभवन् ॥२१॥

५—यज्ञः प्रजापतिरात्मा ।

आपोऽन्नसोमहवनाद् यज्ञाः स्युस्ते त्रयोऽग्नयः ।
यज्ञोवितायमानो यः स वषट्कार उच्यते ॥२२॥
कलाभृता च गुणिना मायिना च विकारिणा ।
यज्ञेन भूम्नो वैधर्म्यं निर्विशेषस्य कल्पते ॥२३॥

६—विराट् प्रजापतिरात्मा ।

आदित्यो मृत्युरादित्यादर्वाग् मृत्युमयं जगत् ।
इति मृत्युत्वमन्नस्य प्रोक्तं शतपथश्रुतौ ॥२४॥
यज्ञान् मृत्यु मयादित्थमञ्जनानि प्रजज्ञिरे ।
अञ्जानान्युपसृज्यन्ते त्रयस्त्रिंशदिहात्मनि ॥२५॥
पर्य्यायोर्म्याशयावस्थाक्लेशकर्मविपक्तयः ।
क्षेत्रं चेत्यष्टवर्गाः स्यु रञ्जनानां शरीरिणि ॥२६॥
ईश्वरे महिमानस्ते सन्ति विद्याघने वशाः ।
जीवांस्त्वज्ञान् प्रबाधन्ते पाप्मानो जीव संश्रिताः ॥२७॥
पाप्मानो महिमानो वा यत्रात्मनि स वै विराट् ।
विराड् जीवश्चेश्वरश्च तद्वैधर्म्यं निरञ्जने ॥२८॥

सगुणात्मानां वैधर्म्यम् ।

इत्थं परात्परस्यास्य प्रजापतिविधर्म्मता ।
पुरुषस्य परस्यापि वैधर्म्यं तैस्तथेष्यते ॥२९॥
चतुर्षु पुरुषेष्वेवं षोडशिप्रभृतिष्वपि ।
मिथः साधर्म्यवैधर्म्यं यथावदनुभावयेत् ॥३०॥

षोडशी पुरुषमयाः पञ्चसत्याः ।

षोडशीपुरुषस्तावदमृतात्मा त्रिपूरुषः ।
सत्यात्मानः पञ्च तस्मिन् भवन्ति ब्रह्मभेदतः ॥३१॥

स्वयम्भूः परमेष्ठी च सूर्यश्चन्द्रः पृथिव्यपि ।
ब्रह्मशुक्रसहस्रैस्तु योनिरेतः प्रजातिभिः ॥३२॥
ऋतैरेते स्त्रिभिः सत्य एक आत्मा ऽनु संहितः ।
ब्रह्मशुक्रसहस्राणां पाञ्चविध्यात्तु पञ्च ते ॥३३॥
सत्याः पृथक् प्रतीयन्ते तेषामात्मा ऽमृतः पृथक् ।
सेयमीश्वरधारायां सत्यानामात्मनां स्थितिः ॥३४॥
चतुर्भिरितरैर्गर्भी स्वयम्भूर्गत तिष्ठति ।
उत्तरोत्तर गर्भा हि चत्वारो ऽपि स्वयंभुवि ॥३५॥
षष्ठप्रपाठके मैत्र्यां यथोपनीषदीरितम् ।
रविमध्ये स्थितःसोमः सोममध्ये हुताशनः ॥३६॥

सत्यमयाः पञ्चयज्ञाः ।

स्वयंभूः परमेष्ठी च सूर्य्यं श्चन्द्रः पृथिव्यपि ।
एतानि पञ्च सत्यानि स एकः सत्य ईश्वरः ॥३७॥
प्राण श्चापश्च वाक् चेति वागन्नमपि चान्नभुक् ।
इत्येताः पञ्च पुरुषे सन्ति प्रकृतयः स्थिताः ॥३८॥
परा प्रकृतयो ब्राह्मः प्राणमय्यः स्वयंभुवि ।
हिरण्यगर्भे देव्यस्ता गुणमय्यस्तु मध्यमे ॥३९॥
पशुमय्यः पृथिव्यग्नौ भौत्यः प्रकृतयोऽपराः ।
इत्थमेताः प्रकृतयस्त्रिविधाः पुरुषे श्रिताः ॥४०॥
मर्त्यानि सूर्य्यादर्वाञ्चि तदूर्ध्वान्यमृतानि तु ।
मर्त्ये सत्ये प्रकृतयो मर्त्या एवामृतेऽमृताः ॥४१॥
ऊर्ध्वेषु त्रिषु सत्येषु ब्रह्माणि त्रीणि योनयः ।
त्रीणि ब्रह्माणि शुक्राणि चामृतान्येव तानि षट् ॥४२॥
अधरेषु च सत्येषु ब्रह्माणि त्रीणि योनयः ।
त्रीणि ब्रह्माणि शुक्राणि मर्त्यान्येव च तानि षट् ॥४३॥
प्राणः स्वयम्भूरापस्तु परमेष्ठीन्द्र एष वाक् ।
ब्रह्मसु त्रिषु चैतेषु सिच्यन्ते त्रीणि योनिषु ॥४४॥
वागन्नमन्नाद् रेतांसि ततः स्युरमृताः प्रजाः ।
वेदा, लोकाश्च देवाश्च त्रिषुतेष्वेव ते स्थिताः ॥४५॥

प्राणः सूर्य्यस्तथा ऽपोऽसौ चन्द्रमाः पृथिवी तु वाक् ।
एतेषु त्रिषु मर्त्येषु मर्त्यशुक्राणि योनिषु ॥४६॥
वागन्न मन्नात्सिच्यन्ते ततो मर्त्या इमाः प्रजाः ।
शुक्राणि चाथ भूतानि पशवश्चेति ताः प्रजाः ॥४७॥
अन्तःसंज्ञा असंज्ञाश्च ससंज्ञाः पशवस्त्रिधा ॥
अमृता अमृते लोके मर्त्ये मर्त्याः प्रजाः स्थिताः ॥४८॥

ब्रह्मणि शुक्राणां बहिरङ्गयोगः ।

इत्यन्तरङ्गः संसर्गः सृष्टये ब्रह्मशुक्रयोः ।
अथ ब्रह्मसु शुक्राणां बहिरङ्गस्थितिं ब्रुवे ॥४९॥
सत्यप्रजापतावाद्ये प्राणाग्निर्ब्रह्मविग्रहः ॥
तत्रोत्तराधरं शुक्रं वागापोऽग्निरिति त्रयम् ॥५०॥
आपो ब्रह्मशरीरं तु वागापः शुक्रमाततम् ।
बहिर्वागधरा आपः परमेष्ठिप्रजापतौ ॥५१॥
ब्रह्म वागमृतं देहं वागापोऽग्निरिति त्रयम् ।
शुक्रं क्रमेण विततमुत्तराधरभावतः ॥५२॥
अपि मर्त्यश्च वाग् ब्रह्म शरीरं सौरमिष्यते ।
मर्त्यश्च शुक्रं विततं वागापोऽग्निरिति त्रयम् ॥५३॥
अन्नं ब्रह्माथ वागापः शुक्रं चन्द्रमसि स्थितम् ।
बहिर्वागधरा आपः स सोमः परमेष्ठिवत् ॥५४॥
अन्नादग्निरिह ब्रह्मा पृथ्वी सत्यप्रजापतौ ।
तत्रोत्तराधरं शुक्रं वागापोऽग्निरिति त्रयम् ॥५५॥

अथोऽक्षरपुरुषयज्ञाः ।

स्वयम्भूरिष्यते पूर्वो ब्रह्मा सत्यप्रजापतिः ।
हिरण्यगर्भो मध्यस्थो विष्णुः सत्यप्रजापतिः ॥५६॥
अथान्त्यो महादेवः शिवः सत्यप्रजापतिः ।
परमेष्ठीमयो विष्णुरिन्द्रचन्द्रमयः शिवः ॥५७॥
अधिकुर्वन्ति शुक्रे च त्रिविधे त्रिविधो ऽक्षरः ॥
वाचि ब्रह्मा ऽप्स्वयं विष्णुरग्नौ तु शिव ईश्वरः ॥५८॥

ईश्वरस्वरूपधर्म्माः ।

ब्रह्माग्निरेष प्राणाग्निः स्वयंभूः परमेष्ठिसूत् ।
ब्रह्मो ऽभवद्यं सत्यो ब्रह्मात्मा सत्य चाक्षरः ॥५९॥

अथाङ्गिरोऽग्निर्वागग्निः सूर्य्यः सपरमेष्ठिकः ।
यज्ञो ऽभवदयं सत्यो विष्णुरात्मास्य चाक्षरः ॥६०॥
पाशुकाग्निस्तु भूताग्निरन्नादाग्निरिहाश्रयुक् ।
यज्ञो ऽभवदयं सत्यो महादेवः स उच्यते ॥६१॥
इन्द्राग्निसोमैः संबद्धैस्त्रिनेत्रस्त्र्यक्षरो हि सः ।
मर्त्यविश्वेश्वरः सत्यो लिङ्गं त्वमृत सत्ययोः ॥६२॥
इतीश्वरस्त्रयो यज्ञाः सृजत्यत्ति हन्ति च ।
त्रिसत्यस्त्रिगुणः पञ्चाक्षरोऽप्येकोऽयमीश्वरः ॥६३॥

जीवस्वरूपधर्म्माः ।

त्रिसत्यस्त्रिगुणः पञ्चाक्षरो जीवो ऽप्ययं मतः ।
विश्वमीश्वरवद्देह धातूनेषोऽधि तिष्ठति ॥६४॥
तत्र ब्रह्मेषु शान्तात्मा क्षेत्रज्ञो विष्णुरंशुमान् ।
ज्योतिर्म्मयः प्राणमयो भूतात्मात्वेव शंकरः ॥६५॥
एक आत्मैष षट् संस्थो जीवे जीवे यथेश्वरे ।
तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदेवामृत मुच्यते ॥६६॥
आत्मधर्मैर्विश्वधर्मैर्यथावानस्त्ययमीश्वरः ।
तैरेवधर्मैस्तस्यांशो जीवो ऽयमवकल्पते ॥६७॥
स्व[1]यंभूः पर[2]मेष्ठी च सू[3]र्य्यः श्च[4]न्द्रः पृथिव्यपि[5] ।
अश्वत्थस्यैकवल्शोऽयं तावानव्यय ईश्वरः ॥६८॥
पञ्चपुण्डीरवल्शोयं जीवेऽस्मिन्नवतीर्य्यते ।
जीवाव्ययस्यान्तरात्मा पञ्च पुण्डीर एव तत् ॥६९॥
[1]शान्तात्मा च [2]महानात्मा [3]विज्ञानात्मा च सूर्य्यवत् ।
[4]प्रज्ञानात्मा च [5]भूतात्मा पञ्च पर्वाऽयमव्ययः ॥७०॥
[1]शरीरं च [2]मनो [3]बुद्धिः [4]सत्वमव्य[5]क्तमित्यपि ।
तान्येव पञ्च पर्वाणि जीवात्मा तन्मयो मतः ॥७१॥

---

[1] विराट्—त्रियज्ञः, त्रिसत्यः, त्रिगुणः, पञ्चाक्षरः, षोडशीपुरुष ईश्वरः ।

[2] विराट्—त्रियज्ञः, त्रिसत्यः, त्रिगुणः, पञ्चाक्षरः, षोडशीपुरुषो जीवः ।

[3] प[1]रात्परः, [2]पुरुषः [3]षोडशी, [4]सत्यः, [5]यज्ञः, [6]विराट्—इति षडात्मसंस्थाः ।

चतुर्विंशतिधा भौमो दिव्योऽसौ नवधोदितः ।
अव्ययो नवधा तेन कृष्णत्रैविध्यमिष्यते ॥७२॥
योगमायावशान्नानारूपैः क्लृप्तस्य वस्तुतः ।
अद्वैत कृष्णस्यैकात्म्यमिदमित्थं प्रदर्शितम् ॥७३॥
आदौ कृष्णत्रयं प्रोक्तं तेषामैकात्म्यमन्ततः ।
इत्थमाचार्य्यकाण्डोऽयं सर्वैर्भावैः समर्थितः ॥७४॥

॥ इति गीताविज्ञानभाष्ये आचार्य्यकाण्डः सम्पूर्णः ॥

* श्रीः *

❋ शुद्धिपत्रम् ❋

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्धपाठाः	शुद्धपाठाः
२८	३६	मुक्द्दम्	मुक्थम्
३८	२३	नैकीभन	नैकी भूत
४४	१६	भुवानानि	भुवनानि
५०	२	पृथिवी चन्दौ	पृथिवीचन्द्रौ
५१	१७	दैवतं	दैवतं
,,	४	यथायं	अथायं
५२	६	क्लेषा	क्लेशा
,,	१३	विशिप्या	विशिष्या
५३	७	ऐश्वर्य्यण	ऐश्वर्य्येण
,,	१३	जीवत्मयद्व्ययपुरुषे	जीवत्मन्यव्ययपुरुषे
,,	१७	रागद्वष	रागद्वेष
५४	४	प्रसर्शनं	प्रदर्शनं
,,	६	वराग्य	वैराग्य
५५	१२	हेतुत्रल	हेतुबल
,,	१५	प्रयुक्तेदात्म न	प्रयुक्ते नात्मनि
५६	१०	विनिप्त्तिद्वारा	विनिवृत्तिद्वारा
,,	१३	श्रीकृष्णचतुर्भि	श्रीकृष्णश्चतुर्भि
,,	,,	योगंनिसर्ग	योगैर्निसर्ग
,,	१५	भगवद्गीतोपनिच्द्राशो	भगवद्गीतोपनिषच्छास्त्रो
,,	१६	योगेरव्ययसाचात्कारो	योगैरव्ययसाक्षात्कारो
५७	२६	इष्टापूर्तवत्तानि	इष्टापूर्तदत्तानि
,,	१	ब्रह्मैब	ब्रह्मैव
,,	६	भकवत्त्वे	भगवत्त्वे

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्धपाठाः	शुद्धपाठाः
५७	१४	मगति	मागतिं
,,	२६	मवाप्तव्य	मवाप्तव्यं
५८	१७	सवदा	सर्वदा
५९	६	भिष्टयते	भिष्टूयते
,,	७	सूर्य्य	सूर्य्यं
,,	२१	पूर्व	पूर्वं
६०	८	भव्यम्	भाव्यम्
,,	१७	यद्व	यद्वै
,,	२३	सासारिको	सांसारिको
,,	२६	परमेश्वरा	परमेश्वरो
६२	२	पृथग	पृथग
,,	१८	सर्वत्र	सर्वत्रा
,,	२३	धारयन	धारयन्
६३	३	विश्वं	पृथिवी
,,	११	मूर्त्तिना	मूर्त्तिना
,,	१३	मृत्पण्डः	मृत्पिण्डः
,,	१५	एवममुष्मिन्न	एवममुष्मिन्न
६५	१०	लाकावन्तरेण	लोकावन्तरेण
,,	१७	उपस्थां	उपस्थां
६७	११	रिन्द्राक्षरा	रिन्द्राक्षरो
,,	१३	चो	च
६८	७	काव्ः	कविः
७५	८	भविष्यन्त्र	भविष्यन्ते
७७	१०	५	२५
,,	११	विश्वसृमो	विश्वसृजो
७८	२	अद्यात्	आधात्
७९	३	ऽसतस्यस्य	सतस्तस्य
,,	१४	द्विभक्तेषु	द्विभक्तेषु

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्धपाठः	शुद्धपाठः
७६	१८	बिश्वतोमुख	विश्वतोमुख
,,	२३	हृतस्थुमु वनानि	हृतस्थुर्भुवनानि
८०	७	सर्वेषां	सर्वेषां
,,	८	अर्द्ध	अर्द्ध
,,	२६	सूर्यो	सूर्यो
८१	८	वे	वै
,,	१२	तस्येकविंशः	तस्यैकविंशः
,,	१८	यज्ञा	यज्ञो
,,	२२	तृतीया	तृतीयो
८२	८	इत्येवं	इत्येवं
८३	१२	देवास्त्रिधकदेवत्या	देवास्त्रिधैकदेवत्या
८४	२४	रुद्र:	रुद्रै:
,,	२५	विद्र	विद्रु
८५	५	अन्तस्ये	अन्तस्ते
,,	७	महेश्वरशदोऽञ्जसा	महेश्वरशब्दोऽञ्जसा
८६	२२	प्रात्नोति	प्राप्नोति
८८	२१	कर्मेन्द्रियाणि	कर्मेन्द्रियाणी
,,	२४	चक्तु:	चक्षु:
८९	टिप्प०	नोद्धता:;	नोद्धृता:,
९१	३	रुद्रैविड्	रुद्रैर्विड्
,,	१३	साम्बस्त्रात	साम्बत्वात
९२	१८	याग:	योग:
,,	२२	यावद्वित्तं	यावद्वित्तं
९३	१२	साऽयं	सोऽयं
,,	१७	यज्ञप्रजापतिविष्णु	यज्ञप्रजापतिर्विष्णु
,,	२४	परमेष्ठिविष्णुत	परमेष्ठिविष्णुत
९५	७	परमेष्ठिमण्डलं	परमेष्ठिमण्डलं
,,	८	गयत्वात	मयत्वात

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्धपाठाः	शुद्धपाठाः
९५	१४	उपरिसदुः	उपरिसदः
९६	७	विष्ठते	विधृते
,,	,,	तिष्टतः	तिष्ठतः
,,	२२	मृर्द्धा	मूर्द्धा
,,	२७	ॅ।	पर्व
९७	६	विशति	विंशति
९८	६	त्र्यक्षोराय	त्र्यक्षीराय
,,	७	मोढवः	मीढ्वः
,,	१२	कपद्स्तु	कपर्दस्तु
,,	२७	हिरमयत्वम्	हिरण्मयत्वम्
९९	६	इन्द्रस्यैतस्व	इन्द्रस्यैतस्य
,,	७	सप्तवग	सप्तवर्ण
,,	,,	रूपस्तु	रूपस्तु
१००	२२	चन्द्रमा	चन्द्रम
१०१	१	निहोतो	निर्हितो
,,	११	शेत्रेष्वे	क्षेत्रेष्वे
,,	१८	ब्रह्मेतत्	ब्रह्मेतत्
१०२	२	सूर्यशूना	सूर्य्यांशूना
१०३	६	द्व	द्वे
,,	२५	पूर्वों	पूर्वौ
१०४	१५	कम्मदेवा	कर्म्मदेवा
,,	२४	भवति	भवति
,,	,,	प्राणिनांस्थो	प्राणिनांशुक्रस्थो
,,	२५	संस्त्रवते	संस्रवते
१०५	१	जायमान	जायमानो
,,	१४	वषस्य	वर्षस्य
,,	२०	प्रतिष्ठति	प्रतितिष्ठति
,,	,,	सत्य	सत्यं

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्धपाठाः	शुद्धपाठाः
१०५	२६	पितृण	पितृणा
१०६	१	संस्रव	संस्रवः
,,	४	ऊर्ध्वस्त्रोता:	ऊर्ध्वस्रोता:
,,	५	स्त्रोताः	स्रोताः
,,	,,	स्त्रोता	स्रोता
,,	६	स्त्रोतस-	स्रोतस:
१०७	१८	व्रज्ञौदनप्रवर्शाभ्यां	वह्यौदनप्रवर्धाभ्यां
१०८	५	थर्म्मा ण	धर्म्माणि
१०९	८	वत्राणि	तन्त्राणि
,,	१६	१—सोमद्वयारूढाग्नित्रयदेवमयः—	११० पृष्ठस्थंटिप्पणं इह द्रष्टव्यम्
१११	४	गर्भस्य	गर्भस्य
,,	,,	सूर्य्यस्य	सूर्य्यस्य
,,	११	धावता	धावति
,,	२०	कम्मासृजत	कर्म्मासृजत
,,	२१	कम्म	कर्म्म
,,	२२	षट्त्रिंशत	षट्त्रिंशत्
,,	२३	मनखो	मनसो
११२	८	प्रज्ञ	प्राज्ञ
,,	१७	प्रतिष्ठिता:	प्रतिष्ठिता
११३	१६	दुःखाद	दुःखादि
,,	२२	वत्तते	वर्त्तते
११४	७	प्राधान्येनापपद्यन्ते	प्रधान्येनोपपद्यन्ते
,,	६	अथाङ्गरोभ्यः	अथाङ्गिरोभ्यः
,,	१४	विरुद्धः	विरुद्ध
,,	१६	भोग	भोगः
,,	२६	आजवम	आर्जवम्
११५	१६	असौ	असौ
,,	२१	भिज्ञवानस्मि	भिज्ञनवानस्मि
,,	३०	करान्	क्रूरान्

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्धपाठः	शुद्धपाठः
११६	१	मूढ	मूढा
,,	११	विक्षुभ्नानि	विक्षुभ्नाति
,,	१३	धाक्चेष	धाक्चैष
,,	१४	देंवासुरयोः	देंवासुरयोः
,,	२३	निवतन्ते	निवर्तन्ते
,,	१५	चेतदुक्तं	चैतदुक्तं
११७	७	निकेतन;	निकेतनः
,,	६	सुरधर्मोद्रिक्क	सुरधर्मोद्रेकं
११६	३	जन्मवत	जन्मवतः
१२०	३	सका,	सर्वा
,,	४	धान्याश्च	धन्याश्च
,,	१२	धन्याश्च	धन्याश्चर्य
१२१	१	सर्व	सव
१२४	२	गुणत्यागिन्नमोऽस्तु	गुणत्यागिन्नमोऽस्तु
,,	४	वषट् का रस्त्वं भवत	वषट्कारस्त्वं भव्यस्त्वंभवत
,,	११	पृथिव्युद्धरकारिणो	पृथिव्युद्धारकारिणे
,,	१८	दवदव	देवदेव
१२६	८	घन्याश्चर्य	धन्याश्चर्य
१२७	२८	सूगावष्ठ	सूर्गविष्ठ
१२८	१०	चाम्बुर:	चाम्बुचरः
१३०	१	लोकन	लोकान्
,,	१३	आश्चर्य्याश्चैव	आश्चर्य्याश्चैव
१३१	१२	स्वग	स्वर्ग
१३२	७	व्यस्तृ नद्ध	व्यस्तृ नद्धे
,,	१८	ब्राह्मणा	ब्राह्मणा
,,	१८	ब्रह्ममन्त्रैः	ब्रह्ममन्त्रैः
,,	२४	थिध्वस्तग्राही	विध्वस्तग्राही
,,	२४	कुरः	क्रूरः
१३३	४	देवनां	देवानां

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्धपाठाः	शुद्धपाठाः
१३३	४	पितृणां	पितृणां
१३४	४	ऋतेवश्च	ऋतवश्च
,,	१४	निर्माहात्मा	निर्महात्मा
,,	२२	मेतत्प्रत	मेतत्प्रतीहि
१३५	१	तत्सर्वं	तत्सर्वं
,,	२	भूमो	भूयो
,,	१२	अनिरुः	अनिरुद्धः
,,	१६	ब्रह्मणा	ब्रह्मण
१३६	१३	चतुर्थांशं	चतुर्थांशं
,,	१६	ब्राह्मणे	ब्राह्मणे
१३७	४	वेदा	वेद
,,	१३	समनुप्राप्तो	समनुप्राप्तो
,,	२६	श्रणु	श्रृणु
,,	२७	दुध्दिना	बुद्धिना
,,	३०	पस्यापि	पापस्यापि
१३८	६	सन्नधौ	सन्निधौ
,,	७	मढ्य	मोढ्य
,,	१०	श्लाधिनो	श्लाघिनो
,,	१२	वैष्णाव म्	वैष्णवीम्
,,	१४	मगात्पुरीम्	मगात्पुरीम्
,,	२५	मानुवाच	मामुवाच
,,	३०	ततोऽघ	ततोऽर्घ
१३९	२२	समुत्तार्य	समुत्तार्य
१४०	१८	तेजोनिधि	तेजोनिधिं
,,	२३	त्रय	त्रयः
,,	,,	पूर्वं	पूर्वं
१४१	७	दृष्ट्वानहम्	दृष्ट्वानहम्
,,	१६	ब्रह्म	ब्रह्मा
१४२	६	मत्तस्तं	मत्तस्त

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्धपाठाः	शुद्धपाठाः
१४२	२१	उतच्छ्रुतं	एतच्छ्रुतं
,,	२७	यगी	योगी
१४३	३०	नाभिस्यः	नाभिस्थः
,,	२३	देवकार्य्वाणि	देवकार्य्याणि
१४४	२५	चैतमेवार्थ	चैतमेवार्थ
१४५	१४	वृणात	वृणोत
१४६	६	कम्म	कर्म्म
,,	६	शन्त	शान्त
,,	१६	ब्रम्ह	ब्रह्म
,,	३२	बहुभवितवादैः	बहुभक्तिवादैः
१४८	५	वर्ष्णोय	वार्ष्णोय
,,	८	मसाबाहुर्महात्मा	महाबाहुर्महात्मा
,,	१५	वनमली	वनमाली
,,	२६	प्रादशिक्या	प्रादेशिक्या
१४६	५	सूर्यो	सूर्यो
,,	७	सूर्योऽग्नेर्योनि	सूर्योऽग्नेर्योनि
,,	१८	सर्वो	सर्वो
,,	,,	वर्णो	वर्णो
,,	२०	,,	,,
,,	२५	योगं	योगं
,,	२६	हिरण्मयवर्णो	हिरण्मयवर्णो
,,	३१	दिदत्रघूर्तमानस्य	दिदवनुवर्तमानस्य
१५०	२	दूर्ध्वं	दूर्ध्वं
,,	६	भगवानुव्रच	भगवानुवाच
,,	२६	ह्यघं	ह्यद्यं
,,	,,	मुखं	मुखे
१५१	५	ज्योतिषि	ज्यातिषि
,,	८	यर	यस्तु
,,	१०	प्रनर्श्यो	प्रदर्श्यो

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्धपाठाः	शुद्धपाठाः
१५२	२	ज्योर्तीषि	ज्योतींषि
,,	६	ज्ञानयं	ज्ञानमयं
,,	७	चन्द्र	चन्द्रा
,,	१७	सवा	सर्वा
,,	१७	ज्योतिष्मान्	ज्योतिष्मान्
,,	२१	दित्युक्त	दित्युक्तं
,,	२२	लक्षणं	लक्षणं
,,	,,	ब्रह्म	ब्रह्म
,,	२६	ऋनरूप	ऋतरूप
,,	२७	तचैव	तत्रैव
१५३	१६	त्रिशस्तोम:	त्रिंशस्तोम
,,	३०	भगवन्	भगवान्
१५४	२७	सचारः	संचारः
,,	२६	,,	,,
१५५	७	ऊगिति	ऊर्गिति
,,	२१	वाग	वाग्
,,	२४	रभिष्टयते	रभिष्टूयते
,,	२५	वाचस्पति	वाचस्पतिं
१५६	१५	पूवचितिं	पूर्वचिति
	८	२।८।६	२।८।८
१५७	६	सूर्यं	सूय
,,	११	गोपू	गोषू
,,	१६	यज्ञा	यज्ञो
,,	२०	ब्राह्मण महिमा	ब्राह्मण महिमा
,,	२१	यावतीर्वै	यावतीर्वै
,,	२८	आततरां	आतितरां
१५६	२७	कृष्णोनैवेदं	कृष्णेनैवेदं
१६१	१०	(५।७)	(७।५)
,,	१६	नार्थ	नार्थं

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्धपाठाः	शुद्धपाठाः
,,	२५	लातुमदातुं	लातुमादातुं
१६२	१३	कृणः	कृष्णः
,,	१८	तावजुनौ	तावर्जुनौ
,,	२५	द्रमो	द्रुमौ
,,	२५	ददश	ददर्श
१६३	१	द्रमो	द्रुमौ
,,	३	चाङ्कें	चाङ्के
,,	६	स्थाने	स्थाने
,,	१०	त्तत्वात्	तरत्वात्
,,	१०	किकिशब्द	किकिशब्दः,
,,	२४	मुहूत	मुहूर्त
१६४	३	सुपर्ष	सुवर्ष
,,	८	दैत्या	दैत्यो
,,	२६	निऋते	निर्ऋते
१६७	१	सहस्रे	सहस्रेषु
१६८	६	इन्द्रयाय	इन्द्रियाय
,,	१९	डत्सुकोऽयं	उत्सुकोऽयं
,,	,,	रूपा	रूपी
,,	,,	सूत्रात्म	सूत्रात्मा
,,	२१	घुपर्यन्तमत्युच्छ्रितन्	घुपर्यन्तमत्युच्छ्रितान्
१६९	७	द्रतं	द्रुतं
,,	१३	रुच्छत्रासो	रुच्छ्रवासो
१७०	११	कम्मणा	कर्म्मणा
,,	२१	मारुतम्प	मारुतस्य
,,	२५	इत्यथः	इत्यर्थः
,,	२६	माहृतः	माहृतैः
,,	३०	शतं	शत
१७१	१०	क्रमहं	शाक्रमहं
,,	२२	विचाय्यते	विचार्य्यते

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध पाठ	शुद्ध पाठः
१७२	३	इवोछितः	इवोच्छ्रितः
१७३	१०	गति	गतिः
,,	२४	सर्वासा	सर्वासां
१७४	११	त्रान्तर्गोपा	श्रन्तर्गोपा
,,	१५	अस्था	अस्या
१७७	२	यमुनाथास्तु	यमुनास्यास्तु
,,	११	क्रर	क्रूर
,,	१६	क्कि	क्वि
१७६	१२	दवेडित स्फोटितेन	दवेडितास्फोटितेनच
,,	१६	निकृष्टे	संनिकृष्टे
१८०	४	दुर्मेधा	दुर्मेधा
१८१	२६	त्रय	त्र्य
१८२	१४	यागोश्वरपुरुषो	योगश्विरपुरुषो
,,	२७	हिरण्यगभ	हिरण्यगर्भ
,,	२८	कृष्ण	कृष्णः
१८३	१६	माधुय्य	माधुर्य्य
,,	२१	सत्व	सत्वे
,,	२३	नोपद्यन्ते	नोपपद्यन्ते
,,	२७	निर्म्मः	निर्म्मलः
१८४	३	चित्ता	चित्तो
,,	१८	यदव	यदेव
,,	,,	लम्यते	लभ्यते
,,	२५	दाहिक	दाहिका
१८५	४	सच्चदानन्दरूपेण	सच्चिदानन्दरूपेण
१८६	६	भावचत	भागवत
,,	२०	वतमानता	वर्तमानता
,,	२८	लींला	लींला
१८७	२०	ह्लादिनीभावा	ह्लादिनीभावा
१६१	६	सनिविशन्ते	संनिविशन्ते

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्धपाठः	शुद्धपाठाः
१९२	४	भिन्न न्नासु	भिन्नभिन्नासु
,,	१८	विक्षपते	विक्षायते
१९४	३	व्रह्मो	व्राह्मी
१९५	२९	सव	सर्व
१९६	१	चेयतया	चेयतया
,,	२३	यथोणानाभि	यशोर्णानाभि
१९७	६	तदपूव	तदपूर्वं
१९८	५	आत्म	आत्मा
१९९	१०	भेदत	भेदात्
२००	१७	व्राह्मस्य	व्राह्मस्य
२०१	१	सन्यायां	सत्प्रायां
,,	४	एतायमत्मा	एवायमात्मा
,,	१५	सदसद्र	सतसद्रू
,,	२३	वाचुनुरोधेन	वाचानुरोधने
२०३	४	मूतिवेदः	मूर्तिवेदः
,,	८	अदित्य	आदित्य
२०४	३	धत्त	धत्ते
,,	,,	महादेव	महादेवः
२०५	५	परिष्ठा	परिष्ठा
,,	,,	स्वयभुवो	स्वयंभुवो
,,	१४	पर्णं	पर्णो
,,	१५	सनत्रपूरुषम्	सनवथपूरुषम्
,,	२५	अथ व:	अथर्वः

२०५ पृष्ठान्ते त्रुटिपाठः—अन्तरेते त्रयोवेदा भृगूनङ्गिरसः श्रिताः ॥ ४ ॥ अतोग्रे पंचमषष्ठश्लोकौ २०७ पृष्ठस्य प्रारम्भे अवलोकनीयौ ।

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्धपाठः	शुद्धपाठाः
२०६	४	परमेष्ठा	परमेष्ठी
,,	१६	विष्णुं:	विष्णुः
,,	२७	विज्ञनम्	विज्ञानम्

२०७ आपो वायुश्चसोमश्चइत्यारभ्य विष्णुरिति स्थितिः इत्यन्तं २०५ पृष्ठस्यान्ते पठनीयम् ।

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध गाठाः	शुद्धपाठाः
२..	६	सचरावरम्	सचाराचरम्
,,	१२	मवषु	सर्वेषु
२०८	१	शेषग्य्य	शेष र्य्यं
,,	५	एकविशः	एकविंश
,,	,,	द्वाविशन्तो	द्वाविंशन्तो
,,	६	त्रर्यास्त्रिश	त्रयस्त्रिंश
,,	,,	सप्तदशम्तोमत्	सप्तदशास्तोमात्
,,	७	षट्त्रिशत्	षट्त्रिंशत्
,,	६	त्रिशास्तोमे	त्रिंशास्तोमे
,,	२४	नित्तोंपपद्यते	त्तिर्नोपपद्यते
,,	२७	ब्रह्मै वगिश्च	ब्रह्मै वाग्निश्च
,,	,,	संन्द्रः	सेन्द्रः
२०६	५	स्तनेऽग्नी	स्तनेऽग्नौ
,,	,,	पश्चदश	पञ्चदश
,,	१२	षडऽह्नोदित्य	षडह्नेनादित्य
२१०	२५	मेकाद रुद्रै	मेकादशभीरुद्रै
,,	२६	द्यावापृथिशभीश्विनौ	द्यावापृथिव्याविश्वनौ
२११	४	योऽ	योऽयं
,,	५	संघषणात्	संघर्षणात्
,,	६	सप्तदशाऽग्न्यायतम्	सप्तदशोऽग्न्यायतनम्
,,	६	द्योष	द्यो ष
,,	१४	आदित्याना	आदित्यानां
,,	१५	परमेष्टिना	परमेष्ठिना
,,	१६	चब्दे	शब्दे
,,	१६	पूर्वे	पूर्वं
,,	,,	नाराय:	नारायणः
,,	२१	विष्णुश्चतुर्पः	विष्णुश्चतुर्थः
,,	२२	परमेष्टी	परमेष्ठी
,,	२३	चतुर्णा	चतुर्णां

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्धपाठाः	शुद्धपाठाः
,,	२७	पाङ्क्ता	पाङ्क्तो
२१२	१	देवानामशेष षणामेष	देवानामशेषाणामेष
,,	१०	वयम्	वयत्
,,	१८	श्रुती	श्रुतौ
,,	१९	षट्त्रिंशः	षट्त्रिंशः
,,	२६	विराड्	विराड्
२१३	७	एव	एष
,,	१७	श्रुयते	श्रूयते
,,	१	विश्वास्त्वामपो	विश्वास्त्वमतो
,,	१९	तम	तमो
२१४	१	अज्ञान	अज्ञानि
,,	१५	सूर्य्यांशुन	सूर्य्यांशुना
,,	१७	चाक्षुप	चाक्षुष
,,	२१	हिरण्मः	रिण्मयः
,,	२१	कृप्णे	कृष्णे
,,	२९	स्वरूप	स्वरूप
,,	२५	एषास्या	पर्षास्य
,,	,,	संस्नावो	संस्तावो
,,	२७	नाड्युच्च	नाड्युच्च
२१८	१२	क्वचिदेक	क्वचिदेकत्र
,,	१४	चाचुषोऽय	चाक्षुषोऽयं
२१९	१	श्रुयते	श्रूयते
,,	२	सहारजवासः	महारजवासः
२२०	२	कृष्णौ	कृष्णो
,,	१३	सत्यधःर्म्म	सत्यधर्म्मः
,,	१६	सोऽय	सोऽयं
,,	१९	कृष्णामूर्तेर्ज्योतिष्ट्वं	कृष्णामूर्तेर्ज्योतिष्ट्वं
२२१	५	दुग्रन्थितो	हृद्ग्रन्थितो
,,	२१	भारूव	भारूप

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्धपाठाः	शुद्धपाठाः
२२२	१८	कृष्णवर्णे:	कृष्णावर्णौ:
,,	२३	श स्त्रर्थस्तेषु	शास्त्रार्थस्तेषु
२२२	२८	ब्रह्मा	ब्रह्मा
२२३	१६	समन्तत्	समन्तात्
,,	१७	द्वृणुते	दावृणुते
,,	,,	तया	तथा
,,	१८	भि । वर्णौ	भिरावर्णौ:
,,	२५	एवस्माकं	एवास्माकं
,,	२७	भूढा	मूढा
२२४	१	भूताना	भूतानां
,,	३	च क्षुप	चाक्षुष
,,	७	ब्रमः	ब्रूम:
,,	१५	तेनाय	तेनायं
२२६	२५	तवा	तथा
,,	२७	सूर्य्याशुतो	सूर्य्याशुतो
२२७	१	त्वरपीच्यम्	त्वष्टुरपीच्यम्
,,	२७	मर्बेषां	सर्वेषां
२२८	२	पत्ता१परत्ताभ्यां	पत्तापरत्ताभ्यां
,,	५	पूण	पूर्ण
२२६	२८	पन्नत्यात	पन्नत्वात
२३२	८	स्वशरीराच्छेदेन्	स्वशरीरावच्छेदेन
२३३	३	कयाचिदकया	कदाचिदेकया
,,	८	सछौतेषु	सचैतेषु
,,	११	वाक्क	वाक्
,,	१५	ह्विरण्यगर्भो	ह्विरण्यगर्भो
,,	१६	भूतानाथोऽयं	भूतनाथोऽयं
२३५	२४	यदकभाव्यं	यदैकभाव्यं
२३६	१	प्रजापतेर्नामि	प्रजापतेर्नाम
२३७	७	व	भुवः

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्धपाठः	शुद्धपाठाः
२३७	१३	अथेषा	अथैषा
,,	२५	द्यलोकस्य	द्यु लोकस्य
२३८	१६	सूर्य्ययो	सूर्य्ययो
,,	१६	त्रिलाकी	त्रिलोकी
२३६	३	वगमत्	वगमात्
२४०	३	तुरुष	पुरुष
,,	१०	पञ्चविघेस्मिन्	पञ्चविधेस्मिन्
,,	१६	प्रतितिष्टन्ति	प्रतितिष्ठन्ति
,,	२५	अग्निरिस्यात्मचरा	अग्निरित्यात्मक्षरा
२४१	१	पञ्चानामेषां	पञ्चानामेषां
,,	३	परमर्द्धं	परमर्द्धं
,,	१६	भूतचिति—	भूतचिति:
२४२	६	प्राणचत्तः	प्राणचक्षुः
,,	१०	एताद्भिर्धातुभिः	एतावद्भिर्धातुभिः
२४३	२५	सूय्यस्य	सूर्य्यस्य
२४४	२	ऋृतमेव	ऋतमेव
,,	६	परमेष्ट्याद्दीनां	परमेष्ठ्यादीनां
२४५	१५	नंते	नैते
२४६	७	ऽमुमन्ता	ऽनुमन्ता
,,	१३	उपदृष्टा	उपद्रष्टा
२४७	१	तात्पर्य्ये	तात्पर्य्ये
२५०	२	ऽप्येष	ऽप्येष
,,	१०	प्रणैकक्रुतः	प्राणैकक्रुतः
,,	१४	तावत—	तावत्—
,,	२१	पुनस्चितौ	पुनश्चितौ
२५१	१४	नारभावः	नीरभावः
,,	१५	भंवतः ॥ १ ॥	भवतः ॥ १ ॥
,,	,,	तेजांसाति त्रीणि	तेजांसीति त्रीणि
२५५	२१	(देवात्मा)ह्यात्मा	(देवात्मा) ब्रह्मात्मा

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्धपाठाः	शुद्धपाठाः
२५७	७	पञ्चत्रिंशति	पञ्चविंशति
२५८	११	स्युरभिम्ना	स्युरभिन्ना
,,	१५	निविशेषो	निर्विशेषो
,,	२३	भिम्नाभिन्नाः	भिन्नाभिन्नाः
२५९	३	मभिव्यास्नोतीति	मभिव्याप्नोतीति
२६०	४	वज्ञतपसां	यज्ञतपसां
,,	१०	सुमन्ता	नुमन्ता
२६१	४	भगवा	भगवान्
,,	१३	ब्रह्म	ब्रह्म
,,	२०	भगवत	भगवते
२६३	६	ऽधिवज्ञो	ऽधियज्ञो
,,	(कोष्ठे) ६	इत्तधिज्ञरम्	इत्यधिज्ञरम्
२६५	१	गीताकृष्णः	अथगीताकृष्णरहस्यम्
,,	(कोष्ठे) ४	अन्तरत्मा	अन्तरात्मा
२६६	१२	मनुषकृष्णाख्या	मानुषकृष्णाख्या
२६७	२	द्देवकीपुत्री	देवकीपुत्रो
,,	५	स्योषदेष्टा	स्वोपदेष्टा
,,	२४	इत्येवं	इत्येवं
२६८	३	गरुशिष्य	गुरुशिष्य
२६९	१	यीनिः	योनिः
,,	१०	पृभिव्यादि	पृथिव्यादि
,,	१२	श्राधदेव.ग्नि	आधिदेवाग्नि
२६९	१३	त्रयस्त्रिशत्	स्त्रयस्त्रिंशत्
,,	२०	स्यापोरूपस्य	मृतस्यापोरूपस्य
,,	२१	सत्य रदार्थ	सत्यपदार्थ
,,	२२-२३	अहरअहरभमहं	अहरभमहं
,,	२६	अनुत्तमासेकस्य	अनुत्तमामेकस्य

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्धपाठाः	शुद्धपाठाः
२७०	६	परिग्रह्यत्वं	परिग्राह्यत्वं
,,	१०	सत्योंऽथः	सत्योऽर्थः
,,	१४	द्वेतं	द्वैतं
२७२	६	तदुपसर्गयोरेव	तदुपसर्गयो रेव
,,	२४	सगं	संगं
२७३	१३	अन्यषां	अन्येषां
,,	२५	सत्यंपि	सत्यपि
२७४	५	अस्यव	अस्यैव
,,	१०	घ्रानं	ज्ञानं
,,	१६	म्रोतं	प्रोतं
,,	२४	र्जीवः	जीवः
२७५	२	ांनधम्मॅंक्त्व	निर्धम्मंकत्व
२७७	२	वाममथ	काममय
,,	३	वचाया	वचया
,,	१५	गीताय महं	गीतायामहं
,,	१६	पदाथः	पदार्थः
२७८	१	सवम्	सर्वम्
,,	७	सत्य २	सत्यम् २
२७९	६	पूणारूपं	पूर्णरूपं
२८०	१२	सत्य खण्डे	सत्यखण्डे
,,	१५	ऽन्त्र सत्य	ऽन्य सत्यं
२८१	१६	तद्र पयो	तद्रूपयो
,,	२४	स्ंख्य	संख्या
२८३	११	स्थानं यैवस्त्व	स्थानी येकत्व
,,	१६	एकत्व	एकता
,,	२४	यत्पूर्णा	यत्पूर्णं
,,	२६	श्रयते	श्रूयते
२८४	१६	अश्चर्यो	आश्चर्यो
२८७	३	सृष्टि	सृष्टि

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्धपाठाः	शुद्धपाठाः
२८८	३	सवाकाश	सर्वाकाश
"	१२	वीर्य्य	चौर्य्य
२६१	२४	विश्वातत:	विश्वातीतः
"	"	मन रूक्तो	अनि रूक्तो
"	२८	ज्योतिषि	ज्योतिषि
२६३	५	भूतय ज्योति	भूत ज्योति
२६७	२	पूर्वभगे	पूर्वभागे
"		चत्वारिशत्	चत्वारिंशत्
२६८	१०	अष्टाचत्वा रिशत्	अष्टाचत्वारिंशत्
"	"	स्त्यगे	स्त्यागे
"	११	नवसख्या	नवसंख्या
"	"	अथेष्टख्या	अथेष्टसंख्या
"	१२	सप्तवि शति	सप्तविंशति
"	१५	खणात्म रूपं	खण्डात्मरूपं
"	१८	द्वभ्या	द्वाभ्या
"	२३	निगूढ	निंगूढ
२६६	१	सिध्यत	सिध्यति
"	२	न्नर्विकल्प:	न्निर्विकल्पः
"	५	षट्विशत्य ङ्कस्य	षट्विशत्य ङ्कस्य
"	६	ऽत्रशष्ट	ऽवशिष्ट
"	७	ऽष्टा शाङ्क:	ऽष्टादशाङ्कः
"	"	तद्यगो	तद्योगो
"	८	न्निर्वकल्प:	न्निर्विकल्पः
"	१०	सवव्यापी	सर्वव्यापी
"	१२	सख्या विभागे	संख्या विभागे
"	१६	सख्या विभागेऽपि	संख्या विभागेऽपि
"	२१	नाना त्वो पपत्त	नानात्वो पपत्ति
"	"	गुंणाना	गुणानां

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्धपाठाः	शुद्धपाठाः
२९६	२३	प्रति अचर क्रमे	प्रतिसंचर क्रमे
”	”	अंशान्मोवे	अंशोन्मोके
”	”	रूप	रूपं
”	२४	तदवशष्टयोगमयासृष्टरूपं	तदवशिष्टयोगमायासृष्टिरूपं
”	२५	वाकृत्वदिकं	वाकृत्वादिकं
३००	१	योगमाया वर्गे	योगमाया पवर्गे
”	६	परिग्रह	परिग्रह
३०३	४	तद्योगमायरूपं	तद्योगमायारूपं
३०७	१	यथाऽन्त संख्या	यथाऽनन्त संख्या
	कोष्ठे		
३१०	१	निरञ्जन	निरञ्जनः
”	१४	निविकारो	निर्विकारो
३११	५	विविघा	विविधा
३१२	३	ऋतैरेते	ऋतैरेते
३१३	११	तत्रात्तराधर	तत्रोत्तराधरं
३१५	६	काण्डाऽयं	काण्डोऽयं
”	”	समथितः	समर्थितः

इति